ज्ञानयोग

स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण आश्रम
नागपुर, मध्यप्रदेश

ज्ञानयोग

स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण आश्रम,
नागपुर, मध्यप्रदेश

जून १९५०]

[मूल्य ३ रु.

वक्तव्य

श्री स्वामी विवेकानन्द द्वारा वेदान्त पर दिए गये भाषणों का संग्रह "ज्ञानयोग" है। इन व्याख्यानों में श्री स्वामीजी ने वेदान्त के गूढ़ तत्वों की ऐसे सरल, स्पष्ट तथा सुन्दर रूप से विवेचना की है कि आजकल के शिक्षित जनसमुदाय को ये खूब जँच जाते हैं। उन्होने यह दर्शाया है कि वैयक्तिक तथा सामुदायिक जीवन-गठन मे वेदान्त किस प्रकार सहायक होता है। मनुष्य के विचारों का उच्चतम स्तर वेदान्त है और इसी की ओर संसार की समस्त विचारधाराएँ शनैः शनै. प्रवाहित हो रही है। अन्त मे वे सब वेदान्त में ही लीन होंगी। स्वामीजी ने यह भी दर्शाया है कि मनुष्य के दैवी स्वरूप पर वेदान्त कितना ज़ोर देता है और किस प्रकार इसी मे समस्त विश्व की आशा, कल्याण तथा शान्ति निहित है। हमे पूर्ण विश्वास है कि वेदान्त तथा भारतीय संस्कृति के प्रेमियो को इस पुस्तक से विशेष लाभ होगा।

इस पुस्तक के अधिकांश भाग का अनुवाद बनारस के श्री ब्रजेन्द्र शर्मा, एम. ए., शास्त्री, ने किया है और कुछ अंश का श्री अमल सरकार, एम. ए.. कोविद, कलकत्ता ने किया है। इन दोनो मित्रो की इस सहायता के लिए हम उनके बड़े कृतज्ञ है।

डा. पं. विद्याभास्करजी शुक्ल, एम. एस-सी., पी-एच. डी., कॉलेज ऑफ साइन्स, नागपुर के भी हम बड़े आभारी हैं जिन्होंने इस पुस्तक के प्रुफ-संशोधन कार्य मे हमे बड़ी सहायता दी है।

नागपुर,
ता. १९-६-१९५०

प्रकाशक

अनुक्रमणिका

ज्ञानयोग

१. संन्यासी का गीत

छेड़ो संन्यासी, छेडो, छेड़ो वह तान मनोहर,
गाओ वह गान, जगा जो अत्युच्च हिमाद्रि-शिखर पर—
सुगभीर अरण्य जहाँ है. पार्वत्य प्रदेश जहाँ है,
भव-पाप-ताप ज्वालामय करते न प्रदेश जहाँ है—
जो संगीत-ध्वनि-लहरी अतिशय प्रशान्त लहराती
जो भेद जगत् कोलाहल नभ-अवनी मे छा जाती,
धन-लोभ, यशोलिप्सा या दुर्दान्त काम की माया
सब विधि असमर्थ हुई है छूनें में जिसकी छाया,
सत्-चित्-आनन्द-त्रिवेणी करती है जिसको पावन,
जिसमे करके अवगाहन होते कृतकृत्य सुधीजन—
छेडो छेड़ो, हाँ छेडो वह तान दिव्य लोकोत्तर,
गाओ, गाओ संन्यासी, गाओ वह गायन सुन्दर—
ॐ तत् सत् ॐ

तोड़ो ज़ंजीरे जिनसे जकड़े है पैर तुम्हारे—
वे सोने की है तो क्या कसने में तुमको हारे ?

अनुराग–घृणा–संघर्षण, उत्तम वा अधम विवेचन,
इस द्वन्द्व भाव को त्यागो, है त्याज्य उभय आलम्बन।
आदर गुलाम पाये या कोडो की मारे खाए,
वह सदा गुलाम रहेगा कालिख का तिलक लगाए;
स्वातन्त्र्य किसे कहते है—वह जान नही है पाता
स्वाधीन सौख्य जीवन का—उसकी न समझ मे आता
त्यागो संन्यासी, त्यागो तुम द्वन्द्व भाव को सत्वर,
तोडो श्रृंखल को तोड़ो, गाओ यह गान निरन्तर—
ॐ तत् सत् ॐ

घन अन्धकार हट जाए, मिट जाए घोर महातम,
जो मृगमरीचिका जैसा करता रहता बुद्धि–भ्रम;
मोहक भ्रामक आकर्षण अपनी है चमक दिखाता,
तम से घनतर तम मे वह जीवात्मा को ले जाता।
जीवन की यह मृग–तृष्णा बढती अनवरत निरन्तर,
मेटो तुम इसे सदा को पीयूष ज्ञान का पीकर।
यह तम अपनी डोरी मे जीवात्मा–पशु को कसकर
खीचा करता बलपूर्वक दो जन्म–मरण–छोरों पर।
जिसने अपने को जीता, उसने जय पायी सब पर—
यह तथ्य जान फन्दे मे पड़ना मत बुद्धि गवॉ कर।
बोलो सन्यासी, बोलो हे वीर्यवान बलशाली,
सानन्द गीत यह गाओ, छेडो यह तान निराली—
ॐ तत् सत् ॐ

"अपने अपने कर्मों का फल भोग जगत् मे निश्चित"
कहते है सब, "कारण पर है सभी कार्य अवलम्बित;

फल अशुभ अशुभ कर्मों के, शुभ कर्मों के है शुभ फल,
किसकी सामर्थ्य बदल दे, यह नियम अटल औ' अविचल ?
इस मृत्युलोक मे जो भी करता है तनु को धारण,
बन्धन उसके अगो का होता नैसर्गिक भूषण।"
यह सच है, किन्तु परे जो गुण नाम-रूप से रहता
वह नित्य मुक्त आत्मा है, स्वच्छन्द सदैव विचरता।
'तत् त्वमसि'—वही तो तुम हो, यह ज्ञान करो हृदयांकित,
फिर क्या चिन्ता सन्यासी, सानन्द करो उद्घोषित—

ॐ तत् सत् ॐ

क्या मर्म सत्य का, इसको वे कुछ भी समझ न पाते,
सुत बन्धु पिता माता के स्वप्नो मे जो मदमाते।
आत्मा अतीत नातो से, वह जन्म-मरण से विरहित,
वह लिंग-भेद से ऊपर, सुख-दुख-भावो से अविजित।
वह पिता कहाँ किसका है, किसका सुत किसकी माता ?
वह शत्रु मित्र किसका है, उसका किससे क्या नाता ?
जो एक, सर्वमय शाश्वत, जिसका जोडा न कहीं है,
जिसके अभाव मे कोई सम्भव अस्तित्व नहीं है,
'तत् त्वमसि'—वही तो तुम हो, समझो हे संन्यासीवर,
अतएव उठो, गाओ तुम, गाओ यह गान निरन्तर—

ॐ तत् सत् ॐ

चिर मुक्त विज्ञ आत्मा है, वह अद्वितीय, वह अतुलित,
अच्छेद्य अशोष्य निरामय, वह नाम-रूप-गुण-विरहित,

उसके आश्रय मे बैठी संसार-मोहिनी माया
देखा करती है अपने मादक स्वप्नों की छाया;
साक्षी स्वरूप माया का आत्मा सदैव है सुविदित,
जीवात्मा और प्रकृति के रूपों मे वही प्रकाशित;
'तत् त्वमसि' वही तो तुम हो, समझो हे संन्यासीवर,
उच्च स्वर में यह गाओ, यह तान अलापो सुन्दर—
ॐ तत् सत् ॐ

हे बन्धु, मुक्ति पाने को तुम फिरते कहाँ भटकते ?
इस जग या लोकान्तर मे तुम मुक्ति नहीं पा सकते;
अन्वेषण व्यर्थ तुम्हारा शास्त्रो, मन्दिर मन्दर मे;
जो तुमको खींचा करती वह रज्जु तुम्हारे कर मे।
दुख शोक त्याग दो सारा, तुम वीतशोक बस हो लो,
वह रज्जु हाथ से छोड़ो, बोलो संन्यासी, बोलो—
ॐ तत् सत् ॐ

दो अभय-दान सबको तुम—'हों सभी शान्तिमय सुखमय,
है प्राणिमात्र को मुझसे कुछ भी न कहीं कोई भय,
पृथ्वी पाताल गगन मे मैं ही आत्मा चिर-सस्थित,
आशा भय स्वर्ग नरक को मैंने तज दिया अशंकित।'
काटो काटो काटो तुम इस विधि माया के बन्धन,
निःशंक प्राणपण से तुम गाओ गाओ यह गायन,—
ॐ तत् सत् ॐ

चिन्ता मत करो तनिक भी नश्वर शरीर की गति पर,
यह देह रहे या जाए, छोड़ो तुम इसे नियति पर;

जब कार्य शेष है इसका है, तब जाता है तो जाए;
प्रारब्ध कर्म फिर इसको अब चाहे जहाँ बहाए;
कोई आदर से इसको मालाएँ पहनाएगा,
कोई निज घृणा जताकर पैरों से ठुकराएगा;
तुम चित्त शान्ति मत तजना, आनन्द-निरत नित रहना;
यश कहाँ, कहाँ अपयश है—इस धारा मे मत बहना।
जब निन्दक और प्रशंसक, जब निन्दित और प्रशंसित,
एकात्म एक ही हैं सब, तब कौन प्रशंसित निन्दित?
यह ऐक्य-ज्ञान हृदयंगम करके हे संन्यासीवर,
निर्भय आनन्दित उर से गाओ यह गान मनोहर—
ॐ तत् सत् ॐ

करते निवास जिस उर मे मद काम लोभ औ' मत्सर,
उसमे न कभी हो सकता आलोकित सत्य-प्रभाकर;
भार्यत्व कामिनी में जो देखा करता कामुक बन,
वह पूर्ण नहीं हो सकता, उसका न छूटता बन्धन;
लोलुपता है जिस नर की स्वल्पातिस्वल्प भी धन में,
वह मुक्त नही हो सकता रहता अपार बन्धन मे;
जजीर क्रोध की जिसको रखती है सदा जकड़ कर,
वह पार नही कर सकता दुस्तर माया का सागर।
इन सभी वासनाओं का अतएव त्याग तुम कर दो,
सानन्द वायुमण्डल को बस एक गूँज से भर दो—
ॐ तत् सत् ॐ

सुख हेतु न गेह बनाओ, किस घर में अमा सकोगे?
तुम हो महान्, फिर कैसे पिंजड़े के विहग बनोगे?

आकाश अनन्त चँदोया, शय्या धरती तृण-शोभित,
रहने के लिए तुम्हारे यह विश्वगेह है निर्मित;
जैसा भोजन मिल जाए, सन्तोष उसी पर करना;
सुस्वादु स्वाद-विरहित मे कुछ भी मत भेद समझना;
शुद्धात्मरूप का जिसमे सद् ज्ञानालोक चमकता,
कुछ खाद्य पेय क्या उसको अपवित्र कहीं कर सकता ?
उन्मुक्त स्वतंत्र प्रवाहित तुम नदी तुल्य बन जाओ,
छेड़ो यह तान अनूठी, सानन्द गीत यह गाओ—

ॐ तत् सत् ॐ

ज्ञानी विरले, अज्ञानी कर घृणा हँसेंगे तुम पर;
हे हे महान्, तुम उनको मत लखना आँख उठा कर।
स्वाधीन मुक्त तुम, जाओ, पर्यटन करो पृथ्वी पर,
अज्ञान-गर्त-पतितों का उद्धार करो तुम सत्वर;
माया-आवरण-तिमिर मे जो पड़ें वेदना सहते,
तुम उन्हे उबारो जाकर, जो मोह-नदी मे बहते।
विचरो जन-हित-साधन को स्वच्छन्द मुक्त तुम अविजित
दुख की पीड़ा से निर्भय, सुख-अन्वेषण से विरहित;
सुख दुख के द्वन्द्व-स्थल के तुम परे महात्मन्, जाओ;
गाओ गाओ संन्यासी, उच्चस्वर से तुम गाओ—

ॐ तत् सत् ॐ

इस विधि से छीजू दिनोंदिन, है कर्म स्वीय बल खोता;
वन्धन छुटता आत्मा का, फिर उसका जन्म न होता;

फिर कहाँ रह गया—मै तू, मेरा तेरा, नर ईश्वर ?
मै हूँ सब मे मुझमे सब आनन्द परम लोकोत्तर।
आनन्द परम वह हो तुम आनन्द सहित अब गाओ,
हे बन्धुवर्य संन्यासी, यह तान पुनीत उठाओ—
ॐ तत् सत् ॐ

---

२. माया

(लन्दन में दिया हुआ भाषण)

माया शब्द प्रायः आप सभी ने सुना होगा। इसका व्यवहार साधारणतः कल्पना, कुहक अथवा इसी प्रकार के किसी अर्थ में किया जाता है, किन्तु यह इसका वास्तविक अर्थ नहीं है। मायावाद रूप एक स्तम्भ पर वेदान्त की स्थापना हुई है, अतः उसका ठीक ठीक अर्थ समझ लेना आवश्यक है। मै तुमसे तनिक धैर्य की अपेक्षा रखता हूँ, क्योंकि मुझे बड़ा भय है कि कहीं तुम उसे (माया के सिद्धान्त को) ग़लत न समझ लो।

वैदिक साहित्य में कुहक अर्थ में ही माया शब्द का प्रयोग देखा जाता है। यही माया शब्द का सबसे प्राचीन अर्थ है। किन्तु उस समय वास्तविक मायावाद-तत्त्व का उदय नहीं हुआ था। हम वेद में इस प्रकार का वाक्य देखते हैं—"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते," अर्थात् इन्द्र ने माया द्वारा नाना रूप धारण किये। यहाँ पर माया शब्द इन्द्रजाल अथवा उसी के समान अर्थ में व्यवहृत हुआ है। वेदों के अनेक स्थलों में माया शब्द इसी अर्थ में व्यवहृत हुआ देखा जाता है। इसके बाद कुछ काल तक माया शब्द का व्यवहार एकदम लुप्त हो गया। किन्तु इसी बीच तत्प्रतिपाद्य जो अर्थ या भाव था वह क्रमशः परिपुष्ट हो रहा था। इसके बाद के समय में एक प्रश्न देखा

जाता है, "हम जगत् के गुप्त रहस्य को क्यों नहीं जान पाते है ?" और इसका इस प्रकार निगूढ़ भाव व्यञ्जक उत्तर प्राप्त होता है:— "हम सब व्यर्थ जल्पना करते है, हम इन्द्रिय-सुख से परितृप्त होने वाले और वासनापर है, अतएव इस सत्य को नीहारावृत करके रखते हैं"—"नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ! [१] यहाँ पर माया शब्द का व्यवहार तो बिलकुल ही हुआ नहीं, किन्तु इससे यही भाव प्रकट होता है कि हमारी अज्ञता का जो कारण निर्धारित हुआ है वह इस सत्य और हमारे बीच कुज्झटिका के समान वर्तमान है। अब इसके बहुत समय के बाद, अपेक्षाकृत आधुनिक उपनिषदों मे माया शब्द का फिर आविर्भाव देखने मे आता है। किन्तु इसी बीच मे इसका प्रभूत रूपान्तर हो चुका है; उसके साथ कई नये अर्थ संयोजित हो गये है; नाना प्रकार के मतवाद प्रचारित और पुनरुक्त हुये है; और अन्त मे माया विषयक धारणा एक स्थिर रूप प्राप्त कर चुकी है। हम श्वेताश्वतर उपनिषद् में पढते हैं— "मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।"—माया को ही प्रकृति समझो और मायी को महेश्वर जानो। भगवान शंकराचार्य के पूर्ववर्ती दार्शनिक पण्डितों ने इसी माया शब्द का विभिन्न अर्थों में व्यवहार किया है। मालूम होता है, बौद्धों ने भी माया शब्द या मायावाद को कुछ रञ्जित किया है। किन्तु बौद्धों ने इसको प्रायः विज्ञानवाद [२]

---

१ ऋग्वेद–दशम मण्डल, ८२ सूक्त, ऋक्।

२ हमारी इन्द्रियों से ग्राह्य समस्त जगत् हमारे मन की ही विभिन्न अनुभूतिमात्र है, इसकी वास्तविक सत्ता नहीं है, इसी मत को विज्ञानवाद या Idealism कहते हैं।

(Idealism) में परिणत कर दिया था और माया शब्द इसी अर्थ मे साधारणतः आजकल व्यवहृत होता है। हिन्दू लोग जब जगत् को "मायामय" बताते है तब साधारण मनुष्य के मन मे यही भाव उदय होता है कि "जगत् कल्पना मात्र है।" बौद्धो की इस प्रकार की व्याख्या का कुछ आधार है; कारण, एक श्रेणी के दार्शनिक पहले बाह्य जगत् के अस्तित्व मे बिलकुल ही विश्वास नहीं करते थे। किन्तु वेदान्त मे वर्णित माया का अन्तिम निश्चित स्वरूप,—विज्ञानवाद, वास्तववाद † (Realism) अथवा किसी प्रकार का मतवाद नहीं है। हम क्या हैं, और अपने चारो ओर हम क्या देखते है, इस सम्बन्ध मे प्रकृत घटना का यह सहज वर्णनमात्र है। मै आपसे पहले ही कह चुका हूँ कि जिनके अन्तःकरण से वेद निकले उनकी चिन्ताशक्ति मूल तत्त्व की खोज में तथा आविष्कार मे ही लगी हुई थी। इन सब तत्त्वों का विस्तृत अनुशीलन करने के लिए मानों उन्हे अवसर ही नही मिला और उन्होने इसकी आवश्यकता भी नहीं समझी। वे तो वस्तु-मात्र के अन्तरतम प्रदेश में पहुँचने के लिये ही व्यग्र थे। ऐसा जान पड़ता है मानो उस पार उन्हे कोई बुला रहा था। अतः वे ठहर नही सकते थे। वस्तुतः उपनिषदो मे इधर उधर बिखरी हुई आधुनिक विज्ञान की विषयीभूत विशेष प्रतिपत्ति बहुधा भ्रमात्मक होते हुये भी उनके मूल तत्वो के साथ विज्ञान के मूल तत्त्वो का कोई प्रभेद नहीं है। यहाँ पर एक दृष्टान्त दिया जाता है। आधुनिक विज्ञान का ईथर (Ether) अथवा आकाशविषयक नवीन तत्त्व उपनिषदो में विद्यमान है। यह आकाश-तत्त्व आधुनिक वैज्ञानिकों के

† जगत् केवल हमारे मन की अनुभूतिमात्र नहीं है, उसकी वास्तविक सत्ता है, इस मत को वास्तववाद या Realism कहते हैं।

ईथर की अपेक्षा अधिक परिपुष्ट रूप से पाया जाता है। किन्तु वह मूल तत्त्व मे ही पर्यवसित था। वे लोग इस आकाशतत्त्व के कार्य की व्याख्या करते समय बहुत से भ्रमो में पड गये थे। जगत् की सम्पूर्ण जीवनी शक्ति जिसका विभिन्न विकास मात्र है वही सर्वव्यापी जीवनी शक्ति-तत्व वेद में—उसके ब्राह्मणांश मे ही प्राप्त हो जाता है। संहिता के एक वड़े मंत्र मे समस्त जीवनी शक्ति के विकासक प्राण की प्रशंसा की गई है। इसी सम्बन्ध में आप लोगों मे से कुछ को यह जानकर आनन्द होगा कि आधुनिक योरोपीय वैज्ञानिको के सिद्धान्तो के सदृश इस पृथिवी के जीवो की उत्पत्ति का सिद्धान्त वैदिक दर्शनों मे पाया जाता है। आप सभी निश्चय ही जानते है कि जीव अन्य ग्रहों से संक्रामित होकर पृथ्वी पर आता है, ऐसा एक मत प्रचलित हैं। जीव चन्द्रलोक से पृथ्वी पर आता है, किसी किसी वैदिक वैज्ञानिक का यही स्थिर मत है।

मूल तत्त्व के सम्बन्ध में हम देखते है कि उन्होने व्यापक साधारण तत्त्वो की छानबीन मे अतिशय साहस और आश्चर्यजनक निर्भीकता का परिचय दिया है। बाह्य जगत् से इस विश्व-रहस्य के मर्म को निकालने में उन्हे यथा सम्भव उत्तर मिला। और, इस प्रकार उन्होने जितने मूल तत्त्वो का आविष्कार किया था उससे जगत् के रहस्य की ठीक मीमांसा जब नहीं हो सकी, तव, आधुनिक विज्ञान की विशेष प्रतिपत्ति भी उसकी मीमांसा मे अधिक सहायक न हो सकेगी, यह निश्चित है। यदि प्राचीन काल मे आकाशतत्त्व विश्वरहस्य को भेदने मे समर्थ नहीं हुआ तब उसका विस्तृत अनुशीलन भी हमें सत्य की ओर अधिक अग्रसर नहीं कर सकता। यदि यह सर्वव्यापी

प्राणतत्त्व विश्वरहस्य के उद्‌घाटन मे असमर्थ रहा तो उसका विस्तृत अनुशीलन निरर्थक है; कारण, वह विश्वतत्त्व के सम्बन्ध मे कोई परिवर्तन नही कर सकता। मै यह कहना चाहता हूँ कि तत्त्वानुशीलन मे हिन्दू दार्शनिक आधुनिक विद्वानों की भाँति ही एवं कभी कभी उनसे भी अधिक साहसी थे। उन्होने इस प्रकार के अनेक सुविस्तृत साधारण नियमो का आविष्कार किया है जो आज भी बिलकुल नवीन है, और उनके ग्रन्थो मे इस प्रकार के अनेक मत विद्यमान है जो कि वर्तमान विज्ञान आज भी मतवाद के रूप मे भी प्राप्त नही कर सका। दृष्टान्त रूप से दिखलाया जा सकता है कि वे केवल आकाशतत्त्व पर पहुँच कर ही सन्तुष्ट अथवा थकित नहीं हो गये, किन्तु उन्होने और भी आगे बढ़कर समष्टि मन की भी एक सूक्ष्मतर आकाश के रूप मे कल्पना की है एवं उसके भी ऊपर एक अधिकतर सूक्ष्म आकाश को प्राप्त किया है। किन्तु इससे कुछ भी मीमांसा नहीं हुई। रहस्य का उत्तर देने में ये सब तत्त्व समर्थ नहीं है। संसार के सम्बन्ध मे व्यर्थ का ज्ञान कितनी ही दूर तक विस्तृत क्यों न हो जाय, इस रहस्य का उत्तर न दे सकेगा। मन मे आता है, मानों कुछ थोड़ा बहुत हमे मालूम हो गया है, कुछ सहस्र वर्ष और प्रतीक्षा करने पर इसकी मीमांसा हो जायगी। वेदान्तवादियों ने मन की ससीमता को निःसंशय ही प्रमाणित किया है, अतएव वे उत्तर देते है, "नहीं, सीमा से बाहर जाने की हमारी शक्ति नहीं है। हम देश, काल, निमित्त के बाहर नही जा सकते।" जिस प्रकार कोई भी अपनी सत्ता का उल्लंघन नहीं कर सकता उसी प्रकार देश और काल के नियम ने जो सीमा का बन्धन स्थापित कर दिया है उसको अतिक्रमण करने की क्षमता किसी मे नही है। देश-काल-

निमित्त सम्बन्धी रहस्य को खोलने का प्रयत्न ही व्यर्थ है, क्योकि इसकी चेष्टा करते ही इन तीनो की सत्ता स्वीकार करनी होगी। तब यह किस प्रकार सम्भव है? और ऐसा होने पर जगत् के अस्तित्ववाद का क्या रूप रहेगा?—"इस जगत् का अस्तित्व नहीं है।" जगत् मिथ्या है—इसका अर्थ क्या है? इसका यही अर्थ है कि उसका निरपेक्ष अस्तित्व नही है। मेरे, तुम्हारे और अन्य सब के मन के साथ इसका केवल आपेक्षिक अस्तित्व है। हम पाँच इन्द्रियों द्वारा जगत् को जिस रूप मे प्रत्यक्ष करते है, यदि हमारे एक इन्द्रिय और होती तो हम इससे अधिक कुछ नवीन प्रत्यक्ष करते और इससे भी अधिक इन्द्रिय सम्पन्न होने पर हम इसे और भी विभिन्न रूपो मे देख पाते। अतएव इसकी सत्ता नही है—वह अपरिवर्तनीय, अचल, अनन्त सत्ता इसकी नही है। किन्तु इसको अस्तित्वशून्य नहीं कहा जा सकता, कारण इसकी वर्तमानता है और इसके साथ मिलकर ही हमे कार्य करना होगा। यह सत् और असत् का मिश्रण है।

सूक्ष्म तत्त्वो से लेकर जीवन के साधारण दैनिक स्थूल कार्यों तक पर्यालोचन करने पर हम देखते है कि हमारा सम्पूर्ण जीवन ही सत् और असत् इन दोनो विरुद्ध भावो का सम्मिश्रण है। ज्ञान के क्षेत्र मे भी यह विरुद्ध भाव दिखाई पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य जिज्ञासु होने से ही समस्त ज्ञान प्राप्त कर लेगा; किन्तु दो चार पग चलने के बाद ही एक ऐसा अभेद्य व्यवधान देखने मे आता है जिसको अतिक्रमण करना मनुष्य के वश के बाहर है। उसके सभी कार्य एक वृत्ताकार परिधि के अन्दर घूमते रहते हैं जिसको वह कभी लॉघ नही सकता। उसके अन्तरतम एवं प्रियतम रहस्य

मीमांसा के लिये उसे दिन रात उत्तेजित तथा आह्वान करते है परन्तु इसका उत्तर देने मे वह असमर्थ है, कारण कि वह अपनी बुद्धि की सीमा का उल्लघन नहीं कर सकता। फ़िर भी वासनाएँ उसके अन्तर मे प्रवल वेग से उठती रहती है; किन्तु इस उत्तेजना का दमन ही एक मात्र मङ्गलकर पथ है, यह भी हम अच्छी तरह जानते है। हमारे हृत्पिण्ड का प्रत्येक स्पन्दन प्रत्येक निःश्वास के साथ हमे स्वार्थपर होने का आदेश करता है। दूसरी ओर एक अमानुपी शक्ति कहती है कि निःस्वार्थता ही एक मात्र मङ्गल का साधन है। जन्म से लेकर प्रत्येक बालक सुखाशावादी (Optimist) होता है; वह केवल सुख के ही स्वप्न देखता है। युवावस्था मे वह और भी अधिक आशावादी हो जाता है। मृत्यु, पराजय अथवा अपमान नाम की भी कोई वस्तु है यह बात किसी युवक की समझ मे आना कठिन है। अब वृद्धावस्था आती है; जीवन केवल एक ध्वसराशि हो जाता है, सुख के स्वप्न आकाश मे विलीन हो जाते है और वृद्ध लोग निराशावादी हो जाते है। इसी प्रकार हम प्रकृति से ताडित होकर आशाशून्य, सीमा तथा गन्तव्य-ज्ञान से शून्य होकर एक ध्रुव से दूसरे ध्रुव की ओर दौडते रहते है। ललितविस्तार मे लिखे हुए बुद्ध चरित का एक प्रसिद्ध गीत इस सम्बन्ध मे मुझे याद आता है। वर्णन इस प्रकार है कि बुद्धदेव ने मनुष्यों के परित्राता के रूप मे जन्म ग्रहण किया, किन्तु जब राजप्रासाद की विलासिता मे वे आत्मविस्मृत होने लगे तब उनको जगाने के लिये देवकन्याओं ने एक गीत गाया था जिसका मर्मार्थ इस प्रकार है,—“हम एक प्रवाह मे बहते चले जा रहे है, हम अविरत रूप से परिवर्तित हो रहे है—कही निवृत्ति नहीं है, कहीं विराम नही है।” इसी प्रकार हमारा जीवन विराम नहीं जानता,

अविरत चलता ही रहता है। अब उपाय क्या है? जिनके पास खाने पीने की प्रचुर सामग्री है वे सुखाशावादी हो जाते है और कहते हैं, "भय उत्पन्न करनेवाली दु.ख की बाते मत कहो, क्लेश की बात मत सुनाओ।" उनके पास जाकर कहो—"सभी मंगल है।" वे कहेगे, "हम तो निरापद है ही; यह देखो, कितनी सुन्दर अट्टालिकाओं मे हम वास करते है, हमे शीत का कोई भय नही है। अतएव हमारे सम्मुख यह भयावह चित्र मत लाना।" किन्तु दूसरी ओर देखिये, शीत और अनाहार से कितने ही लोग मर रहे है। जाओ उन्हे जाकर शिक्षा दो कि 'सभी मङ्गल है।' किन्तु यह, जो इस जीवन मे भीषण क्लेश पा रहा है. वह तो सुख, सौन्दर्य और मंगल की बात सुनेगा ही नही, वह कहता है, "सभी को भय दिखाओ, मैं जब रो रहा हूँ तो और सब कैसे हँसेगे? मै तो अपने साथ सभी को रुलाऊँगा; कारण कि जब मै दु.ख से पीड़ित हूँ तो सभी दु.ख से पीडित हो, इसीसे मेरी शान्ति होगी।" हम इसी प्रकार सुखाशावाद से निराशावाद की ओर चले जाते है। इसके बाद मृत्युरूप भयावह व्यापार आता है—सारा संसार मृत्यु के मुख मे चलता जा रहा है; सभी मरते जा रहे है। हमारी उन्नति, हमारे व्यर्थ के आडम्बर पूर्ण कार्यकलाप, समाज-संस्कार, विलासिता, ऐश्वर्य, ज्ञान—मृत्यु ही सब की एक मात्र गति है। यही सर्वस्व है, यही सुनिश्चित है। नगर के नगर बनते और बिगडते जाते है। साम्राज्यो के उत्थान और पतन होते है, ग्रहादिक खण्ड खण्ड होकर धूलि के समान चूर्ण बन कर विभिन्न ग्रहो के वायु-प्रवाह मे इधर उधर विक्षिप्त होते रहते है। इसी प्रकार अनादिकाल से चलता आ रहा है। इस सब का लक्ष्य क्या है? मृत्यु ही सब का लक्ष्य है, मृत्यु जीवन का लक्ष्य है,

सौन्दर्य का लक्ष्य है, ऐश्वर्य का लक्ष्य है, शक्ति का लक्ष्य है, और तो और, धर्म का भी लक्ष्य है। साधु और पापी दोनों मरते है, राजा और भिक्षुक दोनों मरते है, सभी मृत्यु को प्राप्त होते हैं। तब भी जीवन के प्रति यह विषम ममता विद्यमान है। हम क्यो इस जीवन की ममता करते है? क्यो हम इसका परित्याग नहीं कर पाते? यह हम नही जानते। यही माया है।

माता बड़े यत्न से सन्तान का लालन पालन करती है। उसका समस्त मन, समस्त जीवन मानो इसी सन्तान के लिये है। बालक बड़ा हुआ, युवावस्था को प्राप्त हुआ और शायद दुश्चरित्र एवं पशु होकर प्रतिदिन अपनी माता को मारने पीटने लगा, किन्तु माता फिर भी पुत्र पर मुग्ध है। जब उसकी विचारशक्ति जागृत होती है तब वह उसे अपने स्नेह के आवरण मे ढक कर रखती है। किन्तु वह नही जानती कि यह स्नेह नहीं है; एक अपरिज्ञेय शक्ति ने उसके स्नायु-मण्डल पर अधिकार कर लिया है। वह इसे दूर नहीं कर सकती। वह कितनी ही चेष्टा क्यों न करे, इस बन्धन को तोड़ नहीं सकती। यही माया है।

हम सभी कल्पित सुवर्ण लोमों* की खोज मे दौडते फिरते है। सभी के मन मे होता है कि यह हमारा ही प्राप्तव्य है; किन्तु

---

* सुवर्ण लोम (Golden Fleece):—ग्रीक पौराणिक साहित्य की कथा है कि ग्रीस के अन्तर्गत थेसाली देश मे राजवंशी आथामास की पत्नी नेफ़ेल के गर्भ से फ्रिक्सस नामक पुत्र और हेल नाम की कन्या ने जन्म लिया। कुछ दिन के बाद नेफ़ेल की मृत्यु होने पर आथामास ने कैडमस की कन्या ईनो के साथ विवाह किया। ईनो ने सपत्नी की सन्तान के प्रति विद्वेष होने के कारण नाना

उनमे से कितने मनुष्य इस संसार मे जीवित है ? सभी ज्ञानी लोग समझते हैं कि इस सुवर्ण लोम को प्राप्त करने की उनकी दो करोड़ मे एक से अधिक सम्भावना नही है ; तथापि प्रत्येक मनुष्य उसके लिये कठोर प्रयत्न करता है; किन्तु अधिकांश किसी को कुछ प्राप्त नहीं होता; यही माया है ।

इस संसार मे मृत्यु रात दिन गर्व से मस्तक ऊँचा किये घूम रही है; हम सोचते है कि हम सदा जीवित रहेगे । किसी समय राजा युधिष्ठिर से यह प्रश्न पूछा गया कि " इस पृथ्वी पर अत्यन्त आश्चर्य की बात क्या है ? " राजा ने उत्तर दिया था, " नित्य ही लोग चारों ओर मर रहे हैं किन्तु जो जीवित है वे समझते है कि वे कभी मरेंगे ही नही । " यही माया है ।

प्रकार से अपने पति को फ्रिक्सस की देवताओं को वलि चढ़ा देने से सहमत किया। किन्तु बलिदान के पूर्व ही फ्रिक्सस की स्वर्गीया माता की आत्मा उनके सम्मुख आविर्भूत हुई और एक सुवर्ण लोम युक्त मेंढे को उनके निकट लाकर उनको उस पर चढ़ कर समुद्र पार भाग जाने का आदेश देने लगीं । मार्ग मे उसकी बहिन हेल गिर कर डूब गई—फ्रिक्सस ने कृष्ण सागर की पूर्व दिशा मे कलचिस नामक स्थान में उतर कर वहॉ के जिउस देवता को उसी मेंढे की बलि चढ़ा कर उसकी खाल को मार्स (मंगल) देवता के कुन्ज मे टॉग दिया । एक दैत्य उसकी रखवाली के लिये नियुक्त हुआ । कुछ दिन बाद इस सुवर्ण लोम की खाल को लाने के लिये आथामास का भतीजा जेसन उसके प्रतिद्वन्द्वी पेलियस द्वारा नियुक्त किया गया और वह आर्गो नामक एक बड़े जहाज मे अनेक प्रसिद्ध वीर पुरुषों सहित बैठ कर नाना प्रकार के बाधा-विघ्नो को पार करता हुआ उक्त सुवर्ण लोम के लाने मे सफल हुआ । ग्रीक पुराणों में यह कथा Argonautic Expedition नाम से विख्यात है ।

हमारी बुद्धि, ज्ञान, जीवन, प्रत्येक घटना में यही विषम विरुद्ध भाव दिखाई पड़ता है। सुख दु:ख का और दु:ख सुख का अनुगामी हो रहा है। सुधारक आते हैं और किसी जाति के दोषों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु इसी बीच मे किसी दूसरी दिशा मे वीस हजार दोष उस सुधार से पहले ही उठ खडे होते है। पतनोन्मुख जीर्ण अट्टालिका की भाँति एक स्थान पर जीर्णोद्धार करते करते दूसरे स्थान पर जीर्णता आक्रमण कर देती है। भारतीय स्त्रियों के बालविधवा हो जाने के दोष को दूर करने के लिये हमारे सुधारक लोग चीत्कार तथा प्रचार कर रहे है। किन्तु पाश्चात्य देशों मे अविवाहित रहना ही प्रधान दोष माना जाता है। एक स्थान पर अविवाहिताओ का कष्ट दूर करने मे सहायता करनी होगी तो दूसरे स्थान पर विधवाओं का कष्ट मिटाने का यत्न करना होगा; शरीर मे पुरानी वातव्याधि के समान शिरःस्थान से हटाने पर यह कमर आदि का आश्रय ले लेती है, वहाँ से हटाने पर पैरों का आश्रय ढूँढती है।

कोई कोई दूसरों की अपेक्षा अधिक धनवान हो गये हैं—विद्या, सम्पत्ति और ज्ञानानुशीलन केवल उन्हीं की सम्पत्ति हो गये हैं। ज्ञान कितना महत्तर और मनोहर है, ज्ञानानुशीलन कितना सुन्दर है! यह केवल कुछ लोगों के हाथ में है। कितनी भयानक बात है। अब सुधारक आये और सर्वसाधारण में इस ज्ञान का विस्तार करने लगे। इससे जनसाधारण एक प्रकार से कुछ सुखी हुए अवश्य, किन्तु ज्ञानानुशीलन जितना ही अधिक होने लगा, शारीरिक सुख शायद उतना ही अन्तर्हित होने लगा। अब कौन से मार्ग का अवलम्बन किया जाय?—क्योकि सुख के ज्ञान से ही तो दु:ख का

ज्ञान होता है। हम लोग जो थोड़ासा सुख भोग रहे है, अन्य कहीं पर उससे उतना ही दुःख उत्पन्न हो रहा है। सभी वस्तुओ की यही अवस्था है। युवकगण शायद इस बात को न समझ पायें। किन्तु जिन्होने संसार मे बहुत दिन बिताये है, जिन्होने बहुतसी यंत्रणाये भोगी है वे इस बात को समझ सकेगे। यही माया है। दिन रात ये समस्त व्यापार संघटित हो रहे है, किन्तु इनकी ठीक प्रकार से मीमांसा करना असम्भव है। इस प्रकार यह सब जो हो रहा है उसका कारण क्या है? इस विषय मे वास्तव मे न्यायसंगत कोई प्रश्न ही नही हो सकता; अतएव इस प्रश्न का उत्तर भी असम्भव है। इसका कारण जाना नहीं जा सकता। उत्तर देने से पहले इसका तात्पर्यबोध ही नहीं होगा, यह क्या है यह हम नहीं जान सकते। हम इसे एक क्षण को भी स्थिर नही रख सकते—प्रति क्षण यह हमारे हाथ से निकलता रहता है। हम सब अन्धे यंत्रो के समान परिचालित हो रहे हैं। यद्यपि हमने कभी कभी निःस्वार्थ भाव से जो कार्य किया है, परोपकार की जो चेष्टा की है उसे स्मरण करके कह सकते है, 'क्यो, यह कार्य तो हमने समझ बूझ कर, सोच विचार कर किया था।' किन्तु वास्तव मे हम उन कार्यों को किये बिना रह ही नहीं सकते थे, इसी कारण उन्हे किया था। मुझे इसी स्थान पर खड़े हो कर आप लोगो को भाषण द्वारा उपदेश देना पड़ रहा है और आप लोगो को बैठ कर इसे सुनना पड़ रहा है, यह भी हम लोग बिना किये रह नहीं सकते इसीलिये कर रहे है। आप घर लौट जायेंगे, शायद कुछ लोग थोड़ी बहुत शिक्षा भी प्राप्त करेंगे, दूसरे शायद मन मे कहेगे, यह आदमी व्यर्थ ही बक रहा है। मैं भी घर चला जाऊंगा और सोचूंगा कि मैने आज भाषण दिया। यही माया है।

अतएव इस संसार की गति के वर्णन का नाम ही माया है। साधारणतया लोग यह बात सुन कर भयभीत हो जाते है। हमें साहसी होना पड़ेगा। अवस्था के विषय को छिपाने से रोग का प्रतिकार नहीं होगा। कुत्तो से पीछा किये जाने पर जिस प्रकार खरगोश अपने मुँह को टॉगों मे छिपा कर अपने को निरापद समझता है, उसी प्रकार हम लोग भी आशावादी अथवा निराशावादी होकर ठीक उस खरगोश के समान कार्य करते है। यह रोगमुक्ति की औषधि नहीं है।

दूसरी ओर सांसारिक जीवन की प्रचुरता, सुख और स्वच्छन्दता भोगने वाले इस मायावाद के सम्बन्ध मे बड़ी आपत्तियॉ उठाते है। इस देश में, इंग्लैण्ड मे निराशावादी होना बहुत कठिन है। सभी मुझसे कहते है—जगत् का कार्य कितने सुंदर रूप से चल रहा है, जगत् कितना उन्नतिशील है! किन्तु वे अपने जीवन को ही अपना जगत् समझते है। एक पुराना प्रश्न उठता है—ईसाई धर्म ही एक मात्र धर्म है। कारण, ईसाई धर्म को मानने वाली सभी जातियॉ समृद्धिशाली है। इस प्रकार की युक्ति से तो यह सिद्धान्त स्वयं ही भ्रामक सिद्ध हो जाता है। अन्य जातियो का दुर्भाग्य ही तो ईसाई जातियों की समृद्धि का कारण है, क्योकि एक का सौभाग्य दूसरो के शोणित द्वारा शोषण के बिना नही बनता। तो जब समस्त पृथिवी ईसाई धर्म को ही मानने लगेगी तब भक्ष्य स्वरूप इतर जातियो का नाश करने वाली ईसाई जाति स्वयं ही दरिद्र हो जायगी। अत: इस युक्ति ने अपना ही खण्डन कर दिया। उद्भिज पशुओ के लिये अन्न स्वरूप है, मनुष्य पशुओ का भोक्ता है, और सब से अधिक गर्हित कार्य यह है कि मनुष्य एक दूसरे का, दुर्बल बलवान् का भक्ष्य बन रहा है। यही हाल सर्वत्र विद्यमान

है। यही माया है। इस रहस्य की आप क्या मीमांसा करते है ? हम प्रतिदिन ही नई नई युक्तियाँ सुनते है। कोई कहते है, अन्त मे सब का कल्याण होगा। इस प्रकार की सम्भावना अत्यन्त संदेहास्पद होने पर भी हम ने स्वीकार कर ली। किन्तु इस पैशाचिक उपाय से मंगल होने का कारण क्या है? पैशाचिक रीति को छोड़ कर क्या मंगल द्वारा ही मंगलसाधन नही हो सकता? वर्तमान मनुष्यो की सन्तान सुखी होगी; किन्तु उससे हमे क्या फल मिलेगा जिसके लिये हम इस समय ये भयानक यन्त्रणाये भोग रहे है ? यही माया है। इसकी मीमांसा नहीं है। सुना जाता है कि दोषों का क्रमशः धीरे धीरे दूर होता जाना क्रमविकासवाद (Darwin's Evolution) की एक विशेषता है; संसार से दोष का इस प्रकार क्रमशः दूर हो जाने पर अन्त मे केवल मंगल ही मंगल रह जायगा। सुनने मे तो बड़ा अच्छा लगता है। इस ससार मे जिसके पास सब वस्तुओ का प्राचुर्य है, जिन्हे प्रतिदिन कठोर यन्त्रणा सहनी नही पडती, जिन्हे क्रमविकास के चक्र मे पिसना नहीं पडता, उन लोगों के दम्भ को इस प्रकार के सिद्धान्त बढ़ा सकते है। सचमुच ही उनके लिये ये सिद्धान्त अत्यन्त हितकर और शान्तिप्रद हैं। साधारण जनसमूह यन्त्रणा भोगा करे—इनकी क्या हानि है ? वे सब मारे जायें—इसके लिये ये सोच विचार क्यों करे ? ठीक बात है, किन्तु यह युक्ति आदि से अन्त तक भ्रमपूर्ण है। प्रथम तो, ये लोग बिना किसी प्रमाण के ही धारणा कर लेते हैं कि संसार मे अभिव्यक्त मंगल और अमंगल का परिणाम एकदम निर्दिष्ट है। दूसरे, इससे भी अधिक दोषयुक्त धारणा यह है कि मंगल का परिमाण तो क्रमवृद्धि-शील है और अमंगल निर्दिष्ट परिमाण मे विद्यमान रहता है। अतएव ऐसा समय आयेगा कि जब अमगल का अंश इसी प्रकार क्रमविकास

के द्वारा घट जाने पर अन्त मे बिलकुल नष्ट हो जायगा और केवल मंगल ही विराजित रहेगा—यह कहना बड़ा सरल है। किन्तु क्या यह प्रमाणित किया जा सकता है कि अमंगल का परिमाण निर्दिष्ट रहता है? क्या अमगल की भी क्रमशः वृद्धि नहीं हो रही है? एक जंगली मनुष्य है जो मनोवृत्तियो के परिचालन से सर्वथा अनभिज्ञ है, एक पुस्तक भी नहीं पढ़ सकता, हस्तलिपि किसे कहते है, उसने कभी सुना भी नहीं; आज रात को उसके बीस टुकड़े कर दो, कल वह स्वस्थ हो उठेगा। धार धरा हुआ अस्त्र उसके शरीर मे घुसा कर बाहर निकाल लो, फिर भी वह अच्छा हो जायगा; किन्तु हम अधिक सभ्य होने पर भी मार्ग मे चलते हुए ठोकर खाते ही मर जाते है।

मशीनो के द्वारा धन आदि सुलभ हो रहा है; उन्नति और क्रमविकास की वृद्धि हो रही है; किन्तु एक व्यक्ति धनी हो जायगा इसलिये लाखो मनुष्यो को पीसा जा रहा है—एक व्यक्ति धनवान बने इसलिये सहस्रो मनुष्य दरिद्र से दरिद्रतर हो रहे है—संख्यातीत मनुष्य के वंशज क्रीतदास बनाये जा रहे है। जगत् की धारा ही ऐसी है। जो मनुष्य पशुवत् हैं उनके समस्त सुखभोग इन्द्रियो में ही सीमित हैं; उनके दुःख और सुख इन्द्रियों के भीतर ही सन्निविष्ट हैं। यदि उसे पर्याप्त भोजन नहीं मिलता अथवा उसे कोई शारीरिक रोग या कष्ट होता है तो वह अपने को अभागा समझता है। इन्द्रियो मे ही उसके सुख-दुःख का उत्थान और पर्यवसान हो जाता है। इस प्रकार के व्यक्ति की जब उन्नति होती रहती है तो उसके सुख की सीमा के विस्तार के साथ ही साथ उतने ही परिमाण में उसके दुःख की भी वृद्धि होती जाती है। जंगली मनुष्य ईर्ष्या के वश में होना

नही जानता, कचहरी में जाना नहीं जानता, वह नियमित कर देना नही जानता, समाज द्वारा निन्दित होना नहीं जानता, पैशाचिक मानव-प्रकृति से उत्पन्न जो भीषण अत्याचार एक दूसरे के हृदय के गुप्त से गुप्त भावो का अन्वेषण करने मे लगा हुआ है उसके द्वारा वह दिन रात पर्यवेक्षित होना नही जानता। वह नहीं जानता कि भ्रान्तज्ञान से सम्पन्न गर्वित मानव किस प्रकार पशु से भी सहस्र गुना पैशाचिक स्वभाव वाला हो जाता है। इसी प्रकार हम जिस समय इन्द्रियपरायणता से उन्मुक्त होने लगते है, हमारी सुखानुभव की उच्चतर शक्ति की वृद्धि के साथ साथ यन्त्रणानुभव की शक्ति की भी पुष्टि होती है। स्नायुमण्डल और भी सूक्ष्म होकर अधिक यन्त्रणा के अनुभव मे समर्थ हो जाता है। सभी समाजो मे यह वात दिन प्रति दिन प्रत्यक्ष होती जाती है कि साधारण मूर्ख मनुष्य तिरस्कृत होने पर अधिक दुःखी नही होता किन्तु अधिक प्रहार होने पर दुःखी हो जाता है। सभ्य पुरुष एक वात भी सहन नही कर सकते। उनका स्नायुमण्डल इतना सूक्ष्म भावग्राही हो गया है। उनकी सुखानुभूति सहज हो गई है इसीलिये उनका दुःख भी बढ़ गया है। दार्शनिक पण्डितो का क्रमविकास-वाद इसके द्वारा अधिक समर्थित नही होता। हम अपनी सुखी होने की शक्ति को जितना ही बढ़ाते है, हमारी यन्त्रणा-भोग की शक्ति उसी परिमाण मे वढ़ जाती है। मेरा विनीत मत यही है कि हमारी सुखी होने की शक्ति यदि समयुक्तान्तर श्रेणी के नियम (Arithmetical Progression) से वढ़ती है तो दूसरी ओर दुःखी होने की शक्ति समगुणितान्तर श्रेणी (Geometrical Prog-

ression) * के नियम से बढ़ेगी। जंगली मनुष्य समाज के सम्बन्ध मे अधिक नहीं जानता। किन्तु हम उन्नतिशील लोग जानते है कि हम जितने ही उन्नत होगे, हमारी सुख और दुःख के अनुभव करने की शक्ति उतनी ही तीव्र होगी। हममे से तीन चौथाई मनुष्य जन्म से ही जो पागल रहते है यह प्रायः सभी जानते है। यही माया है।

अतएव, हम देखते है कि माया संसार-रहस्य की व्याख्या करने के निमित्त कोई विशेष मतवाद नहीं है। संसार मे घटनायें जिस प्रकार होती रही हैं, माया उन्हीं का वर्णन मात्र है। विरुद्ध भाव ही हमारे अस्तित्व की भित्ति है; सर्वत्र इन्हीं भयानक विरुद्ध भावों के बीच मे से होकर हम चलते हैं। जहाँ मगल है वहीं अमगल रहता है; जहाँ अमंगल है वहीं मंगल है। जहाँ जीवन है मृत्यु वहीं छाया की भाँति उसका अनुसरण कर रही है। जो हँस रहा है उसीको रोना पड़ेगा; जो रो रहा है वह भी हँसेगा। यह क्रम बदल नहीं सकता। हम लोग अवश्य ही ऐसे स्थान की कल्पना कर सकते है जहाँ केवल मङ्गल ही रहेगा, अमङ्गल रहेगा नही; जहाँ हम केवल हँसेंगे, रोयेंगे नही। किन्तु जब तक ये सब कारण समान रूप से विद्यमान हैं तब तक इस प्रकार का संघटन स्वयं ही असम्भव है। जहाँ हमें हँसाने की शक्ति विद्यमान है वहीं रुलाने की भी शक्ति प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है; जहाँ सुख उत्पन्न करने वाली शक्ति विद्यमान है दुःख देने वाली शक्ति भी वही छिपी हुई है।

* समयुक्तान्तर श्रेणी नियम जैसे ३।५।७।९ इत्यादि, यहाँ पर प्रत्येक परवर्ती अपने पूर्ववर्ती अङ्क से दो दो अधिक है। समगुणितान्तर जैसे ३।६।१२।२४ इत्यादि यहाँ पर प्रत्येक परवर्ती अङ्क अपने पूर्ववर्ती अङ्क का दुगुना है।

अतएव वेदान्त-दर्शन आशावादी अथवा निराशावादी नहीं है। वह तो दोनो ही वादों का प्रचार करता है; सारी घटनायें जिस प्रकार होती है वह उसे उसी रूप में ग्रहण करता है; अर्थात् उसके मत मे यह संसार मङ्गल और अमङ्गल, सुख और दुःख का मिश्रण है; एक को बढ़ाओ, दूसरा भी साथ साथ बढ़ेगा। केवल सुख का संसार अथवा केवल दु ख का संसार होही नही सकता। इस प्रकार की धारणा ही स्वतःविरोधी है। किन्तु इस प्रकार का मत व्यक्त करके और इस विश्लेपण के द्वारा वेदान्त ने यही एक-महारहस्य का मर्म निकाला है कि मङ्गल और अमङ्गल ये दो एक-दम विभिन्न सत्तायें नहीं है। इस संसार मे ऐसी एक भी वस्तु नहीं है जिसे एकदम मंगल जनक या एकदम अमङ्गल जनक कहा जा सके। एक ही घटना जो आज शुभ जनक मालूम पड़ती है, कल अशुभ मालूम पड सकती है। एक ही वस्तु जो एक व्यक्ति को दुःखी करती है दूसरे को सुखी बना सकती है। जो अग्नि बच्चे को जला देती है, वही अनशन से जर्जर व्यक्ति के लिये उत्तम खाद्यान्न भी पका सकती है। जिस स्नायुमण्डल के द्वारा दुःख का ज्ञान हमारे अन्दर प्रवेश करता है, सुख का ज्ञान भी उसी के द्वारा हमे मिलता है। अमङ्गल का निवारण करने का एक मात्र उपाय मङ्गल का निवारण ही है, अन्य कोई उपाय नहीं है—यह निश्चित है। मृत्यु का निवारण करने के लिये जीवन का निवारण करना पड़ेगा। मृत्युहीन जीवन और असुख-हीन सुख ये बातें अपनी ही विरोधी हैं, इनमे कोई सत्य नहीं है। कारण, दोनो ही एक ही वस्तु का विकास हैं। कल जो शुभदायक लगता था आज वह वैसा नही लगता। जब हम विगत जीवन की आलोचना

करते है, विभिन्न युगो के समस्त आदर्शों की आलोचना करते है, तभी इस बात की सत्यता दिखाई पडती है। एक समय था जब कि सुन्दर तेजस्वी घोड़ो की जोड़ी को हॉक कर चलाना ही मेरा आदर्श था, अब वह भावना नही होती। बचपन मे सोचता था कि अमुक मिठाई प्रस्तुत कर लेने पर मै पूर्ण सुखी होऊँगा। कभी सोचता था, स्त्री-पुत्र से युक्त तथा प्रचुर धनसम्पन्न होने पर सुखी होऊँगा। अब वे सब लड़कपन की बाते सोच कर हॅसी आती है। वेदान्त कहता है कि जिन समस्त आदर्शों का अवलम्बन करते हुए, अपने शारीरिक व्यक्तित्व का परिहार करने मे, हममे भय का सञ्चार होता है, समय आने पर उन्ही आदर्शों को देखकर हम हॅसेंगे। सभी अपनी अपनी देह की रक्षा करने मे व्यग्र है। कोई भी इसका परित्याग करने की इच्छा नहीं करता। इस देह की यथेच्छ समय तक रक्षा कर लेने पर हम अत्यन्त सुखी होगे, हम सब इसी रूप मे सोचते है। किन्तु समय आने पर यह बात भी याद करके हम हॅसेंगे। अतएव, यदि हमारी वर्तमान अवस्था सत् भी नही है, असत् भी नही है—किन्तु दोनो का संमिश्रण है, असुख भी नही है, सुख भी नहीं है—किन्तु दोनो का ही संमिश्रण है, इस प्रकार का विषम विरुद्ध भाव जब उत्पन्न हुआ तब वेदान्त की आवश्यकता क्या है? अन्यान्य दर्शनशास्त्र तथा धर्ममतादिको की भी क्या आवश्यकता है? विशेषतः शुभ कर्म आदि करने का ही क्या प्रयोजन है? यही प्रश्न मन मे उठता है, कारण, लोग यही पूछेंगे कि यदि शुभ कर्म करने का यत्न करने पर अमंगल रहना ही है एव सुखोत्पादन का यत्न करने पर पर्वत के समान असुख की राशि उपस्थित हो जाती है तब फिर इस यत्न की आवश्यकता ही

क्या है ? इसका उत्तर यह है कि—पहले तो दुःख को दूर करने के लिये तुम्हे कर्म करना पडेगा; कारण, स्वयं सुखी होने का यही एक मात्र उपाय है। हममे से प्रत्येक अपने अपने जीवन मे शीघ्र या देरी मे इस बात की यथार्थता को समझ लेते है। तीक्ष्णबुद्धि लोग कुछ शीघ्र और मन्दबुद्धि लोग कुछ देर मे इसे समझ सकते हैं। मन्दबुद्धि लोग उत्कट यन्त्रणा भोगने के बाद तथा तीक्ष्ण-बुद्धि लोग थोड़ी यन्त्रणा पाने के बाद ही इसे समझ जाते है। दूसरे, यद्यपि हम जानते है कि यह जगत् केवल सुखपूर्ण हो, दुःख न रहे—ऐसा समय कभी भी न आयेगा, तथापि हमे यही कार्य करना होगा। यदि दुख बढ़ता जाता है तो भी हम उस समय अपना कार्य करेगे। ये दोनो शक्तियाँ ही जगत् को जीवित रखेगी; अन्त में एक दिन ऐसा आयेगा कि जब हम स्वप्न से जागेगे एवं इस मिट्टी के पुतले का बनाना बन्द कर देगे। सचमुच हम चिरकाल मिट्टी के पुतले बनाने मे लगे है। हमे यह शिक्षा लेनी होगी; और यह शिक्षा प्राप्त करने में बहुत देर लगेगी।

वेदान्त कहता है—अनन्त ही सान्त हो गया है। जर्मनी में इसी भित्ति के ऊपर दर्शन-शास्त्र-रचना की चेष्टा की गई थी। इंग्लैण्ड मे अब भी इस प्रकार की चेष्टा चल रही है ? किन्तु इन सब दार्शनिको के मत का विश्लेषण करने पर यही सारांश निकलता है कि अनन्तस्वरूप (Hegel's Absolute Mind) अपने को जगत् मे व्यक्त करने की चेष्टा कर रहा है। यदि यह बात सत्य मान ली जाय तो अनन्त कभी न कभी अपने को व्यक्त करने मे समर्थ हो ही जायगा। अतएव निरपेक्षावस्था विकसितावस्था से नीची है; कारण,

विकसितावस्था मे ही तो निरपेक्ष स्वरूप अपने को व्यक्त कर रहा है। जब तक अनन्त स्वरूप अपने को सम्पूर्ण रूप से बाहर निकाल नहीं पाता तब तक हमें इसी अभिव्यक्ति मे उत्तरोत्तर सहायता करनी होगी। सुनने मे यह बात बड़ी मधुर है, और हमने अनन्त, विकास, व्यक्ति आदि दार्शनिक शब्दों का भी प्रयोग किया। किन्तु सान्त किस प्रकार अनन्त हो सकता है, एक किस प्रकार दो कोटि का हो सकता है, इस सिद्धान्त की न्यायसंगत मूलभित्ति क्या है, यह प्रश्न तो दार्शनिक पण्डित लोग स्वभावतः ही पूछ सकते है। निरपेक्ष एव अनन्त सत्ता सोपाधिक होकर ही इस जगत् रूप मे प्रकाशित हुई है। यहाँ पर सभी कुछ सीमाबद्ध रहेगा ही। जो कुछ भी इन्द्रिय, मन और बुद्धि के भीतर से आयेगा उसको स्वतः ही सीमाबद्ध होना पडेगा, अतएव ससीम का असीम होना नितान्त मिथ्या है। ऐसा हो ही नही सकता।

दूसरे पक्ष मे, वेदान्त कहता है, यह ठीक है कि निरपेक्ष एवं अनन्त सत्ता अपने को सान्त रूप मे व्यक्त करने की चेष्टा कर रही है। किन्तु एक समय ऐसा आयेगा जब इस उद्योग को असम्भव जान कर उसे अपने पॉव पीछे लौटाने पड़ेगे। यह पीछे पॉव लौटाना ही यथार्थ धर्म का आरम्भ है। वैराग्य ही धर्म का प्रारम्भ है। आधुनिक मनुष्य से वैराग्य की बात कहना अत्यन्त कठिन है। अमेरिका मे मेरे बारे मे लोग कहते हैं कि मानो मै पॉच हजार वर्ष पूर्व के किसी अतीत और विलुप्त ग्रह से आकर वैराग्य का उपदेश दे रहा हूँ; इंग्लैंड के दार्शनिक पंडित शायद यही कहेगे। किन्तु वैराग्य और त्याग ही केवल इस जीवन की एक मात्र सत्य वस्तु है। प्राणपण से चेष्टा करके देखो यदि कोई दूसरा उपाय प्राप्त कर सकते हो। यह

कभी भी न हो सकेगा । ऐसा समय आयेगा जब अन्तरात्मा जागेगा—इस लम्बे विषादमय स्वप्न से जाग उठेगा; बालक खेल-कूद छोड़ कर अपनी जननी के निकट लौट जाने को उद्यत होगा। वह समझेगा—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

काम्य वस्तु के उपभोग से कभी वासना की निवृत्ति नहीं होती, वरञ्च घृताहुति के द्वारा अग्नि के समान वासना और भी बढ़ती है। इस प्रकार क्या इन्द्रिय विलास, क्या बुद्धि-वृत्ति के परि-चालन से उत्पन्न आनन्द, क्या मानवात्मा का उपभोग्य सब प्रकार का सुख—सभी मिथ्या है—सभी माया के अधीन है। सभी इस संसार के बन्धन के अन्तर्गत हैं: हम उसे अतिक्रमण नहीं कर पाते । हम उसके अन्दर अनन्त काल पर्यन्त दौड़ते फिर सकते हैं, किन्तु उसका अन्त नहीं पा सकते; एवं जब भी हम सुख का कण प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे तभी दुःख का ढेर हमे घेर लेगा। यह कितनी भयानक अवस्था है! जब मै इस पर विचार करने की चेष्टा करता हूँ, मुझे निःसंशय ही यह अनुभूति होती है कि यही मायावाद है—सभी कुछ माया है—यह वाक्य ही इसकी एक मात्र ठीक ठीक व्याख्या है। इस संसार मे क्या दुःख ही वर्तमान है! यदि आप लोग विभिन्न जातियो के बीच परिभ्रमण करेंगे तो आप समझ सकेंगे कि यदि एक जाति अपने दोष का एक उपाय के द्वारा प्रतिकार करने की चेष्टा कर रही है तो दूसरी किसी अन्य उपाय का अवलम्बन कर रही है। एक ही दोष को विभिन्न जातियो ने विभिन्न प्रकार से प्रतिरोध करने

की चेष्टा की है किन्तु कोई भी कृतकार्य न हो सका। यद्यपि दोष को धीरे धीरे कम करते हुए किसी अश मे रोका भी जा सकता है किन्तु दूसरे किसी अंश मे ढेर का ढेर अशुभ सञ्चित होता रहता है। इसकी गति ही ऐसी है। हिन्दुओं ने जाति के जीवन मे किसी प्रकार सतीत्व धर्म को उत्पन्न करने के लिये अपनी सन्तान को तथा धीरे धीरे समस्त जाति को बालविवाह के द्वारा अधोगामी कर दिया है। किन्तु यह बात भी मै अस्वीकार नही कर सकता कि बालविवाह ने हिन्दू जाति को सतीत्व धर्म से विभूपित किया है। तुम चाहते क्या हो ? यदि जाति को सतीत्व धर्म से थोडा बहुत विभूपित करना चाहते हो तो इसी भयानक बाल्यविवाह द्वारा समस्त स्त्रीपुरुपों को शारीरिक विपय मे अधोगामी करना पड़ेगा। दूसरी ओर क्या तुम्हारी जाति विपत्तियो से रहित है ? कभी नहीं। कारण, सतीत्व ही जाति की जीवनी शक्ति है। क्या आप ने इतिहास में नही पढा है कि जातियो की मृत्यु का चिन्ह असतीत्व के भीतर से ही आता है—जब यह किसी जाति के भीतर प्रवेश करता है तभी उसका विनाश निकट पहुँचता है। इन सब दु:खजनक प्रश्नों की मीमांसा कहॉ मिलेगी ? यदि माता-पिता अपनी सन्तान के लिये पात्र या पात्री का निर्वाचन करे तब इस तथाकथित प्रेम के दोप का निवारण हो सकता है। भारत को बेटियॉ भावुक होने की अपेक्षा कार्यकुशल अधिक होनी है। उनके जीवन में कल्पनाप्रियता को अधिक स्थान नही मिलता। किन्तु यदि लोग अपने आप ही स्वामी और स्त्री का निर्वाचन करते है तब उन्हे इससे अधिक सुख नही मिलता। भारतीय नारियॉ अधिक सुखी है। स्त्री और स्वामी के बीच कलह अधिकांश नहीं होता। दूसरी ओर अमेरिका मे जहाँ स्वाधीनता की अधिकता है वहॉ सुखी

परिवार बहुत कम देखने मे आते है। थोड़े बहुत सुखी परिवार हो भी सकते है, परन्तु असुखी परिवारों तथा असुखकर विवाहों की संख्या वर्णनातीत है। मै जिस किसी सभा मे गया हूँ, वहाँ सुनता हूँ कि उसमे उपस्थित एक तिहाई स्त्रियों ने अपने पति-पुत्रो को बहिष्कृत कर दिया है। इसी प्रकार सभी जगह है। इससे क्या सिद्ध होता है? सिद्ध होता है कि इस सब आदर्श के द्वारा अधिक सुख प्राप्त नहीं हो सकता। हम सभी सुख के लिये उत्कट चेष्टा कर रहे है, किन्तु एक ओर कुछ प्राप्त होने के पहले ही दूसरी ओर दुःख उपस्थित हो जाता है।

तब क्या हम कोई भी शुभ कर्म न करे? अवश्य करे, और पहले की अपेक्षा अधिक उत्साहित होकर हम इस कार्य को करे। किन्तु यही ज्ञान-शिक्षा हमारे औद्धत्य एवं तआस्सुब (Fanaticism) को नष्ट करेगी। तब अगरेज उत्तेजित होकर हिन्दू को "ओह्, पैशाचिक हिन्दू! नारियो के प्रति कैसा असद्व्यवहार करता है!"— यह कहकर अभिशप्त नही करेगे। तब वे विभिन्न जातियों की प्रथाओं को आदरणीय बनाने की शिक्षा देगे। तआस्सुब कम होगा, कार्य अधिक होगा। तआस्सुब मे आदमी अधिक कार्य नही कर पाता। वह अपनी शक्ति का तीन चौथाई व्यर्थ ही व्यय कर देता है। जिन्हे धीर प्रशान्त चित्त 'काम के आदमी' कह कर पुकारा जाता है वे ही कर्म करते है। निरर्थक वाक्यपटु तआस्सुबी व्यक्ति कुछ भी नहीं कर पाता। अतएव इसी ज्ञान के द्वारा कार्यकारिणी शक्ति की वृद्धि होगी। घटनाचक्र ऐसा ही है, यह जान कर हमारी तितिक्षा भी अधिक होगी। दुःख और अमङ्गल के दृश्य

हने साम्यभाव से च्युत नहीं कर सकेंगे और छाया के पीछे पीछे दौड़ा नहीं सकेंगे। अतएव संसार की गति ही ऐसी है यह जान कर हम सहिष्णु बनेंगे। उदाहरण स्वरूप हम कह सकते हैं कि सभी मनुष्य दोषशून्य हो जायेंगे, पशु भी मनुष्यत्व प्राप्त कर इसी अवस्था में से होकर गुजरेंगे और वनस्पतियों की भी यही दशा होगी। किन्तु यह एक बात निश्चित है—यह महती नदी प्रबल वेग से समुद्र की ओर बह रही है; तृण, पत्ते आदि सब इसके स्रोत में बह रहे हैं और सम्भवत विपरीत दिशा में बहने की भी चेष्टा कर रहे हैं, किन्तु ऐसा समय आयेगा जब प्रत्येक वस्तु उस समुद्र के वक्षःस्थल में खिंच कर पहुँच जायगी। अतएव, जीवन समस्त दुःख और क्लेश, आनन्द, हास्य और क्रन्दन के सहित उसी अनन्त समुद्र की ओर प्रबल वेग से प्रवाहित हो रहा है, यह निश्चित है और केवल समय का प्रश्न है जब कि तुम, मैं, जीव, उद्भिद् और साधारण जीवाणु कण जो कुछ भी जहाँ पर है, रह चुका है सब कुछ उसी अनन्त जीवन-समुद्र में—मुक्ति और ईश्वर में पहुँचकर रहेगा।

मैं एक बार फिर कहता हूँ कि वेदान्त का दृष्टिकोण आशावादी अथवा निराशावादी नहीं है। यह संसार केवल मंगलमय है अथवा केवल अमंगलमय है ऐसा मत वह व्यक्त नहीं करता। वह कहता है कि हमारे मंगल और अमंगल दोनों का मूल्य बराबर है। ये दोनों इसी प्रकार हिलमिल कर रहा करते हैं। संसार ऐसा ही है, यह समझ कर तुम सहिष्णुता के साथ कर्म करो। किन्तु किस लिये? यदि घटनाचक्र इसी प्रकार का है तो हम क्या करें? हम अज्ञेयवादी क्यों न हो जायें? आजकल के अज्ञेयवादी भी तो कहते हैं कि

इस रहस्य की कोई मीमांसा नही है; वेदान्त की भाषा मे कहेगे कि इस मायापाश से मुक्ति नही है। अतएव सन्तुष्ट होकर सब उपभोग करो। किन्तु यहाँ भी एक अति असंगत महाभ्रम रह जाता है। और वह यह है। तुम जिस जीवन से चारो ओर से घिरे हुए हो उस जीवन के विषय में तुम्हारा ज्ञान किस प्रकार का है? क्या जीवन शब्द से तुम केवल पाँच इन्द्रियो से आवद्ध जो जीवन है उसे ही लेते हो? इन्द्रियात्म ज्ञान मे तो हम पशुओं से अधिक भिन्न नहीं है। किन्तु मुझे विश्वास है कि यहाँ वैठे हुए लोगो मे से एक भी ऐसा नहीं है जिसकी आत्मा सम्पूर्ण भाव से केवल इन्द्रियो मे आवद्ध हों। अतएव हमारे वर्तमान जीवन का अर्थ इन्द्रियात्म ज्ञान की अपेक्षा और भी कुछ है। सुखदुःख का अनुभव कराने वाली हमारी मनोवृत्ति और चिन्ता–शक्ति भी तो हमारे जीवन का प्रधान अंग है। और उस महान आदर्श अर्थात् पूर्णता की ओर अग्रसर होने की कठोर चेष्टा भी क्या हमारे जीवन का उपादान नहीं है? अज्ञेयवादियो के (Spencer's Agnosticism) मत में वर्तमान जीवन की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। किन्तु जीवन कहने से हमारे सामान्य सुखदुःख के साथ साथ हमारे जीवन के अस्थि मज्जा स्वरूप, अर्थात् सारभूत इस आदर्श के अन्वेषण की, इस पूर्णता की ओर अग्रसर होने की चेष्टा का भी तात्पर्य है। हमे इसी को प्राप्त करना होगा। अतएव हम अज्ञेयवादी नही हो सकते और अज्ञेयवादी के प्रत्यक्ष ससार को लेकर नही चल सकते। अज्ञेयवादी तो जीवन के उपर्युक्त उपादान को छोड़कर अवशिष्ट अंश को सर्वस्व मानते है। वे इस आदर्श को ज्ञान का अगोचर कह कर इसके अन्वेषण का परित्याग कर देते है। यही स्वभाव, यही जगत्, इसे ही माया कहते है। वेदान्त

के शब्दों मे यही प्रकृति है। किन्तु चाहे देवोपासना के द्वारा हो, चाहे मूर्तिपूजा द्वारा, चाहे दार्शनिक विचारों के अवलम्बन से आचरित हो, अथवा देव चरित्र, पिशाच चरित्र, प्रेत चरित्र, साधु चरित्र, ऋषि चरित्र, महात्मा चरित्र अथवा अवतार चरित्र की सहायता से अनुष्ठित हो, सभी धर्मों का, चाहे वे उन्नत धर्म हो चाहे अपरिणत, सभी का उद्देश्य एक ही है। सभी धर्म इस प्रकृति के बन्धन को तोडने की थोडी बहुत चेष्टा कर रहे है। सक्षेप मे सभी धर्म स्वाधीनता की ओर अग्रसर होने की कठोर चेष्टा कर रहे हैं। जाने या अनजाने मनुष्य समझ गये है कि वे बन्दी हैं। वे जो बनने की इच्छा करते है सो नही है। जिस समय, जिस मुहूर्त में उन्होंने अपने चारों ओर दृष्टिपात किया उसी मुहूर्त मे वे समझ गये कि वे बन्दी है। उसी क्षण उन्हे अनुभूति हो गई कि वे बन्दी है। वे यह भी समझे कि इस सीमा से जकडा हुआ जो कोई भी उनके भीतर रह रहा है वह देह से भी अगम्य स्थान को उड जाना चाहता है। ससार के उन निम्नतम धर्मों मे भी जहाँ दुर्दान्त, नृशंस, आत्मीयों के घरो मे लुक छिप कर फिरने वाले, हत्या तथा सुराप्रिय मृत पितर या भूत-प्रेतों की पूजा की जाती है उनमे भी स्वाधीनता का यह भाव हम पाते हैं। जो लोग देवताओं की उपासना करते है वे उन्हीं सब देवताओ को अपनी अपेक्षा अधिक स्वाधीन देखते है—द्वार बन्द होने पर भी देवता लोग घर की दीवारों को पार करके आ सकते है; दीवारे उनके मार्ग मे बाधक नही होतीं, ऐसा भक्त का विश्वास होता है। यही स्वाधीनता का भाव क्रमशः बढते बढ़ते अन्त मे सगुण ईश्वर के आदर्श मे परिणत होता है। इस आदर्श का केन्द्रीय भाव है—ईश्वर माया से अतीत है। मुझे मानों ऐसा लगता है कि मै दूर से आता हुआ एक शब्द सुन रहा हूँ और देखता हूँ कि

भारत के प्राचीन आचार्य, प्राचीन ऋषि जगल मे बैठे इस प्रश्न पर विचार कर रहे है, बड़े बडे वयोवृद्ध पवित्रमय महर्षिगण भी इसकी मीमांसा करने मे असमर्थ रहे है परन्तु एक बालक उनके बीच खड़े हो कर घोषणा करता है—"हे दिव्य धामवासी अमृत के पुत्रगण ! सुनो, मुझे मार्ग मिल गया है। जो अन्धकार से अतीत है उसे जान लेने पर अन्धकार के बाहर जाने का मार्ग मिल जाता है।

> शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।
> आ ये धामानि दिव्यानि तस्थु.॥
> वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमस. परस्तात्।
> तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
>
> (श्वेताश्वतर उपनिषद्)

इसी उपनिषद् से हमे यह उक्ति भी मिलती है कि यह माया हमे चारों ओर से घेरे हुये है एवं वह अति भयङ्कर है। माया के बीच मे से होकर कार्य करना असम्भव है। जो यह कहता है कि "मै इस नदी के तट पर बैठा हूँ, जब सारा पानी समुद्र मे पहुँच जायगा तब मै नदी के पार जाऊँगा." वह उतनी ही भूल करता है जितनी कि यह कहने वाला कि "जब तक पृथिवी पूर्ण मगलमय नहीं हो जाती उतने दिन कार्य करते रहने के बाद सुख भोग करूँगा। दोनो ही बाते असम्भव है। माया के बीच मे से रास्ता नहीं है, माया के विरुद्ध चल कर ही रास्ता मिलेगा—यह बात भी माननी पड़ेगी। हमारा जन्म प्रकृति के सहायक रूप मे नहीं वरञ्च प्रकृति के विरोधी के रूप मे हुआ है। हम बन्धन के कर्ता होकर भी स्वय को बन्दी बनाने की चेष्टा करते है। यह मकान कहाँ से

आया ? प्रकृति ने तो दिया नहीं। प्रकृति कहती है—'जाओ, वन मे जाकर बसो।' मनुष्य कहता है—"मै मकान बनाऊँगा, प्रकृति के साथ युद्ध करूँगा।" और वह यही कर रहा है। मानव जाति का इतिहास प्राकृतिक नियमो के साथ युद्ध का इतिहास है और मनुष्य की ही अन्त मे प्रकृति पर विजय होती है। अन्तर्जगत् मे आकर देखो, वहाँ भी यही युद्ध चल रहा है, यही पाशव मानव और आध्यात्मिक मानव का संग्राम, प्रकाश और अन्धकार का संग्राम निरन्तर जारी है। मानव यहाँ भी जीत रहा है। स्वाधीनता की प्राप्ति के लिये प्रकृति के बन्धन को चीर कर मनुष्य अपने गन्तव्य मार्ग को प्राप्त करता है। हमने अभीतक माया का ही वर्णन देखा है। वेदान्ती पण्डितो ने इस माया को अतिक्रमण करके ऐसी किसी वस्तु को जान लिया है जो माया के अधीन नही है, और यदि हम उसके पास पहुँच सके तो हम भी माया के पार हो जायँगे। ईश्वरवाद सभी धर्मों की यह साधारण सम्पत्ति है। किन्तु वेदान्त के मत मे यह धर्म का प्रारम्भ है, अन्त नहीं। जो विश्व की सृष्टि तथा पालन करने वाले है, जो मायाधिष्ठित हैं, जिन्हे माया या प्रकृति का कर्ता कहा जाता है, उन्हीं सगुण ईश्वर का ज्ञान वेदान्त का अन्त नही है। यही ज्ञान बढ़ते बढ़ते, अन्त मे वेदान्ती देखता है कि जिसे वह बाहर खडा हुआ समझता था वह उसके अन्दर ही है और वह स्वय वही है। जो अपने को बद्धभावापन्न समझता था वह स्वयं ही वही मुक्तस्वरूप है।

३. मनुष्य का यथार्थ स्वरूप

(लन्दन में दिया हुआ भाषण)

पञ्चेन्द्रियग्राह्य जगत् मे मनुष्य इतना अधिक आसक्त हो जाता है कि वह उसे सहज मे ही त्याग करना नहीं चाहता। किन्तु वह इस बाह्य जगत् को चाहे कितना ही सत्य या साररूप क्यो न समझे प्रत्येक व्यक्ति तथा जाति के जीवन मे एक समय ऐसा आता है कि जब उसे अनिच्छा से भी जिज्ञासा करनी होती है, कि क्या यह जगत् सत्य है? जिन व्यक्तियों को अपनी इन्द्रियो की गवाही मे अविश्वास करने का तनिक भी समय नही मिलता, जिनके जीवन का प्रत्येक क्षण किसी न किसी प्रकार के विषयभोग मे बीतता है, मृत्यु उनके भी सिरहाने आकर खड़ी हो जाती है और विवश होकर उन्हे भी कहना पड़ता है—क्या यह जगत् सत्य है? इसी एक प्रश्न मे धर्म का आरम्भ होता है और इसी के उत्तर में धर्म की इति भी हो जाती है। इतना ही क्यो, सुदूर अतीत काल में जिसका निश्चित इतिहास भी अब नही मिलता, उसी रहस्यमय पौराणिक युग मे भी, सभ्यता के उस अस्फुट उषाकाल मे भी, हम देखते है कि यही एक प्रश्न उस समय भी पूछा गया है—क्या यह जगत् सत्य है?

कवित्वमय कठोपनिषद् के प्रारम्भ मे हम यह प्रश्न देखते है, मनुष्य के मरने पर, कोई कोई लोग कहते है कि उसका अस्तित्व

समाप्त हो जाता है, और कोई कहते हैं कि, नही, उसका अस्तित्व फिर भी रहता है, इन दोनों बातों में कौन सी सत्य है ? (येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये, अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके)।" जगत् मे इस सम्बन्ध मे अनेक प्रकार के उत्तर मिलते है। जितने प्रकार के दर्शन या धर्म ससार मे है वे सब वास्तव मे इसी प्रश्न के विभिन्न रूप के उत्तरो से परिपूर्ण है। अनेक तो ऐसे है जिन्होंने इस प्रश्न को ही—प्राणों की इस महती आकांक्षा को—संसार से अतीत परमार्थ सत्ता के इस अन्वेषण को—व्यर्थ कह कर उडा देने की चेष्टा की है। किन्तु जब तक मृत्यु नाम की कोई वस्तु जगत् मे है तब तक इस प्रश्न को यो ही उड़ा देने की सारी चेष्टायें विफल रहेगी। यह कहना सरल है कि हम जगत् के अतीत की सत्ता का अन्वेपण नहीं करेगे. वर्तमान क्षण मे ही हम अपनी समस्त आशा, आकांक्षा को सीमित रक्खेगे; हम इसके लिये भरपूर चेष्टा कर सकते हैं और वहिर्जगत् की सव वस्तुये ही हमे इन्द्रियो की सीमा के भीतर बन्द करके रख सकती है, सारा संसार मिलकर वर्तमान की क्षुद्र सीमा के वाहर दृष्टि प्रसारित करने से हमें रोक सकता है; किन्तु जितने दिन जगत् मे मृत्यु रहेगी उतने दिन यह प्रश्न वार वार उठेगा—हम जो इन सव वस्तुओं को सत्य का सत्य, सार का भी सार समझ कर इनमे भयानक रूप से आसक्त है, क्या मृत्यु ही इस सब का अन्तिम परिणाम है ? जगत् एक क्षण मे ही ध्वंस होकर न जाने कहाँ चला जाता है। ऊँचे गगनस्पर्शी पर्वत के नीचे की गम्भीर गुफा मानो मुँह फैलाये जीवो को निगलने को आरही है। इस भीषण पर्वत के पास खडे होकर, कितना ही कठोर अन्तःकरण क्यो न हो, निश्चय ही सिहर उठेगा और पूछेगा—यह सव क्या सत्य

है ? कोई तेजस्वी हृदय जीवन भर बड़े आग्रह के साथ जिस आशा को अपने हृदय मे रख कर पालता रहा वह एक मुहूर्त मे ही उड कर न जाने कहाँ चली गई, तो क्या हम इस सब आशा को सत्य कहे ? इस प्रश्न का उत्तर देना होगा। प्राणो की इस आकांक्षा की, हृदय के इस गम्भीर प्रश्न की शक्ति का कभी भी ह्रास नही होगा, वरञ्च काल का स्रोत ज्यो ज्यो आगे बढता जायगा त्यो त्यो इस प्रश्न की शक्ति बढती जायगी और उतने ही अधिक प्रबल वेग से यह प्रश्न हृदय के ऊपर आघात करेगा। मनुष्य को सुखी होने की इच्छा होती है। अपने को सुखी करने की इच्छा से मनुष्य सभी ओर दौडता फिरता है—इन्द्रियो के पीछे पीछे दौड़ता फिरता है—पागल की भाँति वहिर्जगत् में कार्य करता जाता है। जो युवक जीवनसङ्ग्राम मे सफल हुये है उनसे यदि पूछो तो कहेगे, यह जगत् सत्य है—उन्हे सभी वाते सत्य प्रतीत होती है। ये ही व्यक्ति जब बूढे हो जायेगे, जब सौभाग्यलक्ष्मी उन्हे बार बार धोखा देगी तब उन्हींसे यदि पूछोगे तो यही कहेगे कि 'सब ही अदृष्ट है'। उन्होने इतने दिन तक यही देख पाया कि वासना की पूर्ति नहीं होती। वे जिधर जाते है उधर ही मानों वज्र के समान दृढ दीवार उनके सामने खड़ी हो जाती है जिसे लॅाघ कर जाना उनके लिये असम्भव है। इन्द्रियो की चञ्चलता की ही प्रतिक्रिया होनी रहती है। सुख और दुःख दोनों ही क्षणस्थायी है। विलास, विभव, शक्ति, दारिद्र्य, यहॉ तक कि जीवन भी क्षणस्थायी है।

उपर्युक्त प्रश्न के दो उत्तर है। एक है—शून्यवादियो की भॉति विश्वास करना कि सभी शून्य है, हम कुछ भी नही जान सकते, हम

भूत, भविष्यत् या वर्तमान के सम्बन्ध मे भी कुछ नहीं जान सकते। —कारण कि जो व्यक्ति भूत भविष्य को अस्वीकार कर केवल वर्तमान को स्वीकार करते हुए उसी मे अपनी दृष्टि को सीमित रखना चाहता है वह केवल वातुली है; क्योंकि ऐसा होने पर वह माता-पिता को स्वीकार न करते हुए भी सन्तान के अस्तित्व को स्वीकार करेगा! और ऐसा कहना इस अवस्था मे युक्तिसंगत ही होगा; क्योंकि भूत भविष्य को अस्वीकार करने का अर्थ है वर्तमान को भी अस्वीकार करना। यही एक भाव—यही शून्यवादियो का मत है। किन्तु मैंने ऐसा मनुष्य आज तक नहीं देखा जो एक मुहूर्त के लिये भी शून्यवादी हो सके;—मुख से कहना तो अवश्य ही बहुत सरल है।

दूसरा उत्तर यह है कि इस प्रश्न के वास्तविक उत्तर की खोज करो—सत्य की खोज करो—इस नित्य परिवर्तनशील नश्वर जगत् मे क्या सत्य है इसकी खोज करो। यह शरीर जो कुछ भौतिक अणुओ का समष्टि मात्र है, क्या इसके अन्दर कुछ सत्य भी है? देखा जाता है कि मानवजीवन के इतिहास मे सर्वदा ही इस तत्व का अन्वेषण किया गया है। हम देखते है कि अति प्राचीन काल मे ही मनुष्य के मन में इस तत्व का अस्पष्ट प्रकाश उद्भासित हो गया था। हम देखते हैं कि उसी समय से मनुष्य ने स्थूल देह से अतीत एक अन्य देह का भी पता पा लिया है—यह देह अधिकांश इसी स्थूल देह के समान अवश्य है किन्तु पूर्ण रूप से नहीं; यह स्थूल देह से श्रेष्ठ है—शरीर का नाश हो जाने पर भी इसका नाश नहीं होगा। हम ऋग्वेद के एक सूक्त मे किसी मृत शरीर का दाह करने वाले अग्निदेव के प्रति कहा हुआ यह स्तव देखते हैं,— "हे अग्नि!

तुम इसे अपने हाथो मे लेकर धीरे धीरे ले जाओ—इसे सर्वांग सुन्दर ज्योतिर्मय देह से सम्पन्न करो—इसे उसी स्थान मे ले जाओ जहाँ पितृगण वास करते है, जहाँ दुःख नही है, जहाँ मृत्यु नही है।" तुम देखोगे कि सभी धर्मों मे यही एक भाव विद्यमान है, और इसके साथ ही हम एक और तत्व भी पाते है। आश्चर्य की बात है—सभी धर्म एक स्वर से घोषणा करते है कि मनुष्य पहले निष्पाप और पवित्र था, इस समय उसकी अवनति हो गई है—यही भाव, चाहे वे रूपक की भाषा मे, या दर्शन की सुस्पष्ट भाषा मे, अथवा कविता की सुन्दर भाषा मे लपेट कर प्रकाशित क्यो न करे किन्तु सभी इस एक तत्व की घोषणा करते अवश्य है। सभी शास्त्रो और पुराणो मे यही एक तत्व पाया जाता है कि मनुष्य जैसा पहले था वैसा अब नही है और इस समय वह पहले था वैसा अब नही है और इस समय वह पहले से गिरी हुई दशा मे है। यहूदियों के शास्त्र बाइबिल के प्राचीन भाग मे आदम के पतन की जो कथा है उसमे भी सार यही है। हिन्दू शास्त्रो मे इसका बार बार उल्लेख हुआ है। उन्होने सतयुग कहकर जिस युग का वर्णन किया है, जब कि मनुष्य की मृत्यु उसकी इच्छानुसार होती थी, जब मनुष्य जितने दिन चाहे अपने शरीर को धारण कर सकता था, जब मनुष्यों का मन शुद्ध और दृढ था, इस सब मे भी उसी एक सार्वभौमिक सत्य का इशारा दीखता है। वे कहते है कि उस समय मृत्यु नही थी एवं किसी प्रकार का अशुभ और दुःख नहीं था, और वर्तमान युग उसी उन्नत अवस्था का अवनत भाव ही तो है। इस वर्णन के साथ साथ हम सभी धर्मों मे जलप्लावन अर्थात् जलप्रलय का वर्णन भी पाते है। यह जलप्रलय की कथा ही इस बात को प्रमाणित करती है कि सभी धर्म वर्तमान

युग को प्राचीन युग की अवनत अवस्था ही मानते हैं। जगत् की अवनति क्रमशः बढ़ती ही गई। इसके बाद जब जलप्रलय हुआ तो अधिकांश जगत् उसमे डूब गया। फिर उन्नति आरम्भ हुई। और अब यह जगत् अपनी उसी प्राचीन पवित्र अवस्था को प्राप्त करने के लिये धीरे धीरे अग्रसर हो रहा है। आप सब Old Testament (पुराने बाइबिल) मे जलप्रलय की कथा जानते ही है। यही एक कथा प्राचीन बेबीलोन, मिस्र, चीन एवं हिन्दू धर्म मे भी प्रचलित थी। हिन्दू शास्त्र मे जलप्रलय का इस प्रकार का वर्णन मिलता है,— महर्षि मनु जब एक दिन गंगातट पर सन्ध्या वन्दन मे लगे थे, तब एक छोटी सी मछली ने उनसे आकर कहा—'मुझे आश्रय दीजिये।' मनु ने उसी क्षण पास रक्खे हुए पात्र मे उसे रख कर उससे पूछा— 'तू क्या चाहती है?' मछली बोली—'एक बड़ी भारी मछली मुझे मार डालने के लिये मेरा पीछा कर रही है। मेरी रक्षा कीजिये।' मनु उसे घर ले गये, प्रातःकाल देखा, वह बढ कर पात्र के बराबर गई है। मछली बोली—'मै अब इस पात्र में नहीं रह सकती।' तब मनु ने उसे एक कुण्ड मे रख दिया। दूसरे दिन वह कुण्ड के बराबर हो गई और कहने लगी—'मै इसमे भी नहीं रह सकती।' तब मनु ने उसे नदी में डाल दिया। प्रातःकाल को देखा कि उसका शरीर सारी नदी मे फैल गया है। तब उन्होने उसे समुद्र मे डाल दिया। तब मछली कहने लगी,—'मनु, मै जगत् का सृष्टिकर्ता हूँ। मै जलप्रलय से जगत् को ध्वंस करूँगा। तुम्हे सावधान करने के लिये मै मछली का रूप धारण करके आया था। तुम एक बहुत बडी नौका बना कर सभी प्रकार के प्राणियो का एक एक जोडा उसमे रख कर उनकी रक्षा करो और स्वय भी सपरिवार उसमे बैठो।

सभी स्थान जब उस जल मे डूब जाएँगे तब उस जल मे तुम्हे मेरा एक सीग (कॉटा) दिखेगा, तुम नौका को उससे बॉध देना। उसके बाद जल घट जाने पर नौका से उतर कर प्रजावृद्धि करना।' इसी प्रकार भगवान के कथनानुसार जलप्रलय हुआ और मनु ने अपने परिवार सहित प्रत्येक जन्तु के एक एक जोडे और उद्भिदो के बीज की प्रलय से रक्षा की, और प्रलय समाप्त हो जाने पर इस नौका से उतर कर वे प्रजा उत्पन्न करने मे लग गये—और हम लोग मनु के वंशज होने से मानव कहलाने लगे (मन् धातु से मनु बनता है; मन् धातु का अर्थ है मनन अर्थात् चिन्ता करना)। अब देखो, मनुष्य की भाषा उस आभ्यन्तरीण सत्य को प्रकाशित करने की चेष्टा मात्र है। मेरा स्थिर विश्वास है कि यह सब कथा और कुछ नहीं, मानो एक छोटा बालक, जिसकी एकमात्र भाषा अस्फुट अस्पष्ट शब्दराशि ही है, अपनी तोतली भाषा मे एक महान् गम्भीर दार्शनिक सत्य को प्रकाशित करने की चेष्टा कर रहा है—केवल उसके पास इसको प्रकाशित करने के लिये कोई उपयुक्त इन्द्रिय अथवा अन्य कोई उपाय नहीं है। उच्चतम दार्शनिक और शिशु की भाषा मे प्रकार का कोई भेद नहीं है, भेद है केवल मात्रा (Degree) का। आजकल की विशुद्ध, प्रणालीबद्ध, गणित के समान कटी छॅटी भाषा और प्राचीन ऋषियो की अस्फुट रहस्यमय पौराणिक भाषा मे अन्तर केवल मात्रा की अधिकता और अल्पता का है। इन सब कथाओ के पीछे एक महान् सत्य छिपा है जिसे प्रकाशित करने की प्राचीन लोगो ने चेष्टा की है। बहुधा इन सब प्राचीन पौराणिक कथाओ के भीतर ही महामूल्य सत्य रहता है, और दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आधुनिक लोगो की चटपटी भाषा मे बहुधा

मूसी ही रहती है, तत्व नहीं रहता। अतएव, रूपक मे सत्य छिपा है यह कह कर और आजकल के 'राम' 'श्याम' की समझ मे नहीं आता यह कह कर सभी प्राचीन बातो को ताक पर रख देना चाहिये, इसका भी कोई अर्थ नहीं है। 'अमुक महापुरुष ने ऐसा कहा है, अतएव इस पर विश्वास करो' इस प्रकार बोलने के कारण ही यदि सभी धर्म उपहासास्पद हो जाते है तब आजकल के लोग और भी उपहासास्पद हैं। आजकल यदि कोई मूसा, बुद्ध अथवा ईसा की उक्ति को उद्धृत करता है तो उसकी हँसी उड़ाई जाती है; किन्तु हक्सले, टिण्डल अथवा डारविन का नाम लेते ही बात एकदम अकाट्य और प्रामाणिक बन जाती है। 'हक्सले ने यह कहा' बहुतो के लिये तो इतना ही कहना पर्याप्त है! सचमुच ही हम कुसंस्कारो या अन्ध-विश्वासो से मुक्त हो गये हैं। पहले था धर्म का कुसंस्कार, अब है विज्ञान का कुसंस्कार; किन्तु पहले के कुसंस्कार के भीतर एक जीवन-दायक आध्यात्मिक भाव रहता था पर आधुनिक कुसंस्कार द्वारा तो केवल काम और लोभ ही उत्पन्न होता है। वह अन्धविश्वास था ईश्वर की उपासना को लेकर और आजकल का अन्धविश्वास है महाघृणित धन, यश और शक्ति की उपासना को लेकर। यही भेद है। अब हम ऊपर कही हुई पौराणिक कथा के सम्बन्ध मे विवेचना करेंगे। इन सब कथाओ के भीतर यही एक प्रधान भाव देखने मे आता है कि मनुष्य जिस अवस्था मे पहले था अब उससे गिरी हुई दशा मे है। आजकल के तत्वान्वेषी लोग इस बात को एकदम अस्वीकार करते हैं। क्रमविकासवादी विद्वानों ने तो मानो इस सत्य का सम्पूर्ण रूप से ही खण्डन कर दिया है। उनके मत मे मनुष्य एक विशेष प्रकार के क्षुद्र मांसल जन्तु(Mollusc) का क्रमविकास मात्र है,

अतएव पूर्वोक्त पौराणिक सिद्धान्त सत्य नहीं हो सकता। किन्तु भारतीय पुराण तो दोनो ही मतो का समन्वय करता है। भारतीय पुराणों के मत के अनुसार सभी प्रकार की उन्नति तरंग के आकार की होती है। प्रत्येक तरंग एक बार उठती है, फिर गिरती है, गिर कर फिर उठती है, फिर गिरती है, इसी प्रकार क्रम चलता रहता है। प्रत्येक गति ही चक्राकार होती है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से देखने पर भी मनुष्य केवल क्रमविकास का परिणाम है, यह बात सिद्ध नहीं होती। क्रमविकास कहने के साथ साथ ही क्रमसंकोच की प्रक्रिया को भी मानना पडेगा। विज्ञानवेत्ता ही तुमसे कहते है कि किसी यन्त्र मे तुम जितनी शक्ति का प्रयोग करोगे उतनी ही शक्ति तुम्हे उसमे से मिलेगी। असत् (कुछ नही) से कभी भी सत् (कुछ) की उत्पत्ति नही हो सकती। यदि मानव—पूर्ण मानव—बुद्ध-मानव ईसा-मानव, एक क्षुद्र मांसल जन्तु का क्रमविकास ही है तो इस क्षुद्र जन्तु को भी क्रमसंकुचित बुद्ध कहकर मानना पडेगा। यदि ऐसा नहीं तो ये सब महापुरुष कहाँ से उत्पन्न हुए ? असत् सें सत् की उत्पत्ति तो कभी होती नही। इसी रूप से हम शास्त्र के साथ आधुनिक विज्ञान का समन्वय कर सकते हैं। जो शक्ति धीरे धीरे अनेक सीढियो से होती हुई पूर्ण मनुष्य के रूप मे परिणत होती है वह कभी भी शून्य मे से उत्पन्न नही हो सकती। वह कही न कहीं वर्तमान थी; और यदि तुम विश्लेषण करते करते इसी प्रकार के क्षुद्र जन्तुविशेप या जीवाणु (Protoplasm) तक ही पहुँच कर उसी को आदिकारण सिद्ध करते हो तो यह निश्चय है कि इसी जीवाणु मे यह शक्ति किसी न किसी रूप मे विद्यमान थी। आजकल यही एक महान विचार चल रहा है कि क्या यह देह ही जो पञ्चभूत की

समष्टि मात्र है, आत्मा अथवा चिन्ता (Thought) आदि कही जाने वाली शक्ति के विकास का कारण है ? अथवा चिन्ताशक्ति ही देहोत्पत्ति का कारण है ? अवश्य ही संसार के सभी धर्म कहते है कि चिन्ता नाम की शक्ति ही शरीर की प्रकाशक है—कोई भी धर्म इसके विपरीत विश्वास नहीं प्रकट करता। किन्तु आधुनिक अनेक सम्प्रदाय (Comte's Positivism) मानते है कि चिन्ताशक्ति केवल शरीर नामक यन्त्र के विभिन्न अंशों के एक विशेष रूप के सन्निवेश से उत्पन्न होती है। यदि इसी मत को मान कर कहा जाय कि यह आत्मा, मन अथवा इसका जो कुछ भी नाम रक्खा जाय, यह सब इसी जड देह रूप यत्र का ही फलस्वरूप है, जिन सब जड़ परमाणुओं से मस्तिष्क और शरीर का गठन होता है उन्ही के रासायनिक अथवा भौतिक योग से उत्पन्न होने वाली वस्तु है, तब तो यह प्रश्न ही अमीमांसित रह जायगा। शरीर गठन कौन करता है, कौन सी शक्ति इन भौतिक अणुओं को शरीर के रूप मे परिणत करती है ? कौन सी शक्ति प्रकृति मे पडी हुई जड वस्तुओ के ढेर मे से कुछ अश लेकर तुम्हारा शरीर एक प्रकार का और मेरा शरीर दूसरे प्रकार का बना डालती है ? यह सब विभिन्नता क्यों होती है ? आत्मा नामक शक्ति शरीर मे रहने वाले भौतिक परमाणुओं के विभिन्न सन्निवेशो से उत्पन्न होती है यह कहना ऐसे ही है जैसे गाडी के पीछे की ओर घोडे को जोत देना। यह सन्निवेश कैसे उत्पन्न हुआ ? किस शक्ति ने ऐसा कर दिया ? यदि तुम कहो कि अन्य किसी शक्ति ने यह संयोग कर दिया है, और आत्मा—जो इस समय एक विशेष जड़राशि के साथ सयुक्त रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है वह इन्ही सब जड परमाणुओ के सयोग का फल है, तब तो उत्तर

ठीक नहीं हुआ। जो मत अन्यान्य मतों का खण्डन किये बिना ही, चाहे उसमे सब का समन्वय न हो, अधिकांश घटनाओ की, अधिकांश विषय की व्याख्या कर सकता है वही ग्राह्य है। अतएव यही बात युक्तिसंगत है कि जो शक्ति जड़राशि को लेकर उसमें से शरीर का निर्माण करती है और जो शक्ति शरीर के भीतर प्रकाशित रहती है ये दोनों एक ही है। अतः यह कहना कि "जो चिन्ता-शक्ति हमारे शरीर मे प्रकाशित होती है वह केवल जड़ अणुओ के सयोग से उत्पन्न होती है और इसीलिये शरीर से पृथक उसका कोई अस्तित्व नही" बिलकुल ही निरर्थक है। और शक्ति कभी जड़वस्तु से उत्पन्न हो नहीं सकती। वरञ्च यह प्रमाणित करना अधिक सम्भव है कि हम जिसे जड़ कहकर पुकारते है उसका अस्तित्व ही नही है। यह केवल शक्ति की एक विशेष अवस्था है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि काठिन्य आदि जो जड़ के गुण है वे सब विभिन्न रूप के स्पन्दनो के फल है। जड़ परमाणुओं के भीतर प्रबल स्पन्दन या कम्पन उत्पन्न कर देने से वे कठिन हो जायेगे। थोड़ी सी वायुराशि मे यदि अतिशय प्रबल गति उत्पन्न कर दी जाय तो वह मेज के काठ से भी अधिक कठोर मालूम होगी। अदृश्य वायुराशि यदि प्रबल झटके के साथ गतिशील हो जाय तो वह लोहे के डण्डे को मोड़ देगी और तोड़ देगी—केवल गतिशीलता के द्वारा ही उसमे कठिनता का धर्म या गुण उत्पन्न हो जायगा। इसी दृष्टान्त से यह कल्पना भी की जा सकती है कि अननुभाव्य अजड ईथर को यदि प्रबल चक्र की गति से चलाया जाय तो इसमे जड पदार्थों के सभी गुणो का सादृश्य दीख पड़ेगा। इसी प्रकार से विचार करने पर यह पूर्ण रूप से सिद्ध किया जा सकता है कि

हम जिन्हें पञ्चभूत कहते है उनका कोई अस्तित्व नहीं है, किन्तु दूसरा मत सिद्ध नहीं किया जा सकता।

शरीर के भीतर यह जो शक्ति का विकास देखा जाता है यह क्या है ? हम सभी यह बात सरलता से समझ सकते है कि यह शक्ति जो कुछ भी हो, यही शक्ति जड परमाणुओ को लेकर उनसे एक विशेष आकृति—मनुष्य देह—को तैयार करती है। और कोई आकर तुम्हारे मेरे शरीर को नहीं बनाता। दूसरा कोई मेरे लिये खा रहा है ऐसा मैने कभी नही देखा। मुझे ही इस भोजन का सार शरीर मे लेकर उससे रक्त, मास, अस्थि आदि का गठन करना होता है। यह अद्भुत शक्ति क्या है ? भूत भविष्य के सम्बन्ध मे कोई भी सिद्धान्त मनुष्यो को भयावह प्रतीत होता है, बहुत लोगों को तो यह केवल एक अमानुषिक बात मालूम होती है। अतएव वर्तमान मे क्या होता है, हम यही समझने की चेष्टा करेंगे। हम वर्तमान विषय को ही लेगे। वह शक्ति क्या है जो इस समय हमारे भीतर बैठी काम कर रही है ? हम देख चुके है कि सभी प्राचीन शास्त्रो मे इस शक्ति को लोगो ने इसी शरीर के समान शरीर से सम्पन्न एक ज्योतिर्मय पदार्थ माना है; उनका विश्वास था कि इस शरीर के चले जाने पर भी वह शरीर रहेगा। क्रमशः हम देखते है कि केवल ज्योतिर्मय देह कहने से सन्तोष नहीं होता—एक और भी ऊँचा भाव लोगों के मन पर अधिकार करता दिखाई देता है। वह यह है कि किसी प्रकार का शरीर शक्ति का स्थान नही ले सकता। जिस किसी वस्तु की आकृति है वह वस्तु केवल बहुत से परमाणुओं का एक समूह है, अतएव उसको चलाने के लिये और कुछ भी चाहिये। यदि इस शरीर

का गठन और परिचालन करने के लिये इस शरीर के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता है तो इसी कारण से उस ज्योतिर्मय देह का गठन और परिचालन करने के लिये भी तदतिरिक्त और कुछ चाहिये। यही "और कुछ" आत्मा नाम से पुकारा जाने लगा। आत्मा ही मानो इस ज्योतिर्मय देह के भीतर से स्थूल शरीर के ऊपर काम कर रहा है। यही ज्योतिर्मय शरीर मन का आधार कहा जाता है, और आत्मा इससे अतीत है। आत्मा मन नहीं है, वह मन के ऊपर कार्य करता है और मन के भीतर से शरीर के ऊपर कार्य करता है। तुम्हारे एक आत्मा है, मेरे भी एक आत्मा है सभी के पृथक् एक-एक आत्मा है और एक-एक सूक्ष्म शरीर भी है; इसी सूक्ष्म शरीर की सहायता से हम स्थूल शरीर के ऊपर कार्य करते है। अब प्रश्न उठा—आत्मा और उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे। शरीर और मन से पृथक् इस आत्मा का क्या स्वरूप है? बहुत से से वाद प्रतिवाद होने लगे, बहुत से सिद्धान्त और अनुमान माने जाने लगे, बहुत से दार्शनिक अनुसन्धान होने लगे—मै आपके समक्ष इस आत्मा के सम्बन्ध मे उन्होने जो कई एक सिद्धान्त अपनाये है उनका वर्णन करने की चेष्टा करूँगा। भिन्न-भिन्न दर्शनों का इस एक विषय मे मतैक्य देखा जाता है कि आत्मा का स्वरूप जो कुछ भी हो, उसकी कोई आकृति नही है, और जिसकी आकृति नहीं वह अवश्य ही सर्वव्यापी होगा। काल मन के अन्तर्गत है—देश भी मन के अन्तर्गत है। काल को छोड़ कार्य-कारण-भाव भी नहीं रह सकता। क्रमवर्तिभाव को छोड़ कार्य-कारण-भाव भी नहीं रह सकता। अतएव, देश–काल–निमित्त मन के अन्तर्गत है और यह आत्मा, मन से अतीत और निराकार है, इसलिये वह भी अवश्य

ही देश-काल-निमित्त से अतीत है। और जब वह देश-काल-निमित्त से अतीत है तो अवश्य ही अनन्त होगा। अब इस बार हिन्दूदर्शन का उच्चतम विचार आता है। अनन्त कभी दो नही हो सकते। यदि आत्मा अनन्त है तो केवल एक ही आत्मा हो सकता है, और यह जो अनेक आत्माओ की धारणा है—तुम्हारा एक आत्मा, मेरा दूसरा आत्मा—यह सत्य नहीं है। अतएव मनुष्य का प्रकृत स्वरूप एक ही है, अनन्त और सर्वव्यापी, और यह व्यवहारिक जीव मनुष्य के इस वास्तविक स्वरूप का केवल एक सीमाबद्ध भाव है। इसी हिसाब से पूर्वोक्त पौराणिक तत्व भी सत्य हो सकते है कि व्यवहारिक जीव, चाहे वह कितना ही बडा क्यो न हो जाय फिर भी मनुष्य के इस अतीन्द्रिय प्रकृत स्वरूप का अस्फुट प्रतिबिम्बमात्र ही है। अतएव मनुष्य का प्रकृत स्वरूप—आत्मा—जो कार्य-कारण से अतीत है—जो देश-काल से अतीत है—अवश्य ही मुक्त स्वभाव है—वह कभी बद्ध नही था, उसको बद्ध करने की शक्ति किसीमे नहीं थी। यह व्यवहारिक जीव, यह प्रतिबिम्ब देश-काल-निमित्त के द्वारा सीमाबद्ध है, इसलिये यह बद्ध है। अथवा किन्ही-किन्ही दार्शनिको की भाषा मे यो कहेगे कि "मालूम होता है कि जैसे वह बद्ध हो गया है, परन्तु वास्तव मे वह बद्ध नही है।" हमारी आत्मा के भीतर यथार्थ सत्य केवल इतना ही है—यही सर्वव्यापी, अनन्त चैतन्यस्वभाव है; हम स्वभाव से ही ऐसे है—चेष्टा करके हमे ऐसा बनने की आवश्यकता नही। प्रत्येक आत्मा ही अनन्त है इसलिये जन्म और मृत्यु का प्रश्न उठ ही नहीं सकता। कुछ बालक परीक्षा दे रहे थे। परीक्षक कठिन कठिन प्रश्न पूछ रहे थे। उनमे यह भी प्रश्न था—'पृथिवी गिरती क्यों नही?' वे मध्याकर्षण के नियम आदि सम्बन्धी उत्तर की आशा कर रहे थे। अधिकांश बालक-बालिक

कोई उत्तर नही दे सके। कोई कोई बालक मध्याकर्षण या और कुछ कह कह कर उत्तर देने लगे। उनमे से एक बुद्धिमती बालिका ने एक और प्रश्न करके इस प्रश्न का समाधान कर दिया—"पृथिवी गिरेगी कहॉ पर ?" यह प्रश्न ही गलत है। पृथिवी कहॉ गिरे ? पृथिवी के लिये पतन और उत्थान का कोई अर्थ नही है। अनन्त देश का ऊपर और नीचे कैसा ? यह दोनो तो आपेक्षिक है। जो अनन्त है वह कहॉ जायगा और कहॉ से आयेगा ? जब मनुष्य भूत और भविष्य की चिन्ता का—उसका क्या क्या होगा, इस चिन्ता का—त्याग कर देता है, जब वह देह को सीमाबद्ध और इसीलिये उत्पत्ति-विनाश-शील जान कर देहाभिमान का त्याग कर देता है, उसी समय वह एक उच्चतर अवस्था मे पहुँच जाता है। देह भी आत्मा नहीं, मन भी आत्मा नहीं; कारण इनका ह्रास और वृद्धि होती है। केवल जड़ जगत् से अतीत आत्मा ही अनन्त काल तक रह सकता है। शरीर और मन प्रतिनियत परिवर्तनशील है। ये दोनो ही कई एक परिवर्तनशील घटनाश्रेणियो के नाममात्र है। ये मानो एक नदी के समान है जिसका प्रत्येक जलपरमाणु नियत, चञ्चल है। तब भी हम देखते है कि यह वही एक नदी है। इस देह का प्रत्येक परमाणु नियतपरिणामशील है; कोई भी व्यक्ति कुछ क्षण को भी एक ही रूप का शरीर नहीं रख सकता। तथापि मन के ऊपर एक प्रकार का संस्कार बैठ गया है जिसके कारण हम इसे एक ही शरीर कह कर विवेचना करते हैं। मन के सम्बन्ध मे भी यही बात है। क्षण मे सुखी, क्षण मे दुःखी, क्षण मे सबल, क्षण मे दुर्बल—नियत परिणामशील भँवर के समान। अतएव मन भी आत्मा नहीं हो सकता, आत्मा तो अनन्त है। परिवर्तन केवल ससीम वस्तु मे ही सम्भव है। अनन्त मे किसी प्रकार का

परिवर्तन हो, यह असम्भव बात है। यह कभी नहीं हो सकता। शरीर के हिसाब से तुम और मै एक स्थान से दूसरे स्थान को जा सकते है, जगत् का प्रत्येक अणु-परमाणु ही नित्य परिणामशील है; किन्तु जगत् को समष्टि रूप मे लेने पर उसमें गति या परिवर्तन असम्भव है। गति सब जगह सापेक्ष होती है। मै जब एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता हूँ तब एक मेज़ अथवा और किसी वस्तु के साथ तुलना करके देखना होगा; जगत् का कोई परमाणु दूसरे किसी परमाणु के साथ तुलना करके ही परिणाम को प्राप्त हो सकता है; किन्तु सम्पूर्ण जगत् को समष्टि रूप मे लेने पर किसके साथ तुलना करके उसका स्थान परिवर्तन होगा? इस समष्टि के अतिरिक्त तो और कुछ है नहीं। अतएव यह अनन्त—एकमेवाद्वितीयम्, अपरिणामी, अचल और पूर्ण है और यही पारमार्थिक सत्ता है। इसलिये सर्वव्यापी के भीतर ही सत्य है, सान्त के भीतर नहीं। यह धारणा कि मैं एक क्षुद्र, सान्त, सदा परिणामी जीव हूँ कितनी ही आराम देनेवाली क्यों न हो, फिर भी यह एक पुराना भ्रमज्ञान ही है। यदि किसी से कहो कि—'तुम सर्वव्यापी अनन्त पुरुष हो।' तो वह डर जायगा। सब के भीतर बैठ कर तुम कार्य कर रहे हो, सब पैरो के द्वारा तुम चल रहे हो, सब मुखों से तुम बातचीत कर रहे हो, सब नासिकाओ के द्वारा तुम श्वास-प्रश्वास के कार्य को चला रहे हो—किसी से यह सब कहने से वह डर जाता है। वह तुमसे बार बार कहेगा यह 'अहं' ज्ञान कभी नहीं जायगा। लोगो का यह 'मै' कौन सा है, यह तो मै देख ही नहीं पाता हूँ। देख पाता तो सुखी हो जाता।

छोटे बालक के मूँछें नहीं होतीं। बड़े होने पर उसके दाढ़ी मूँछ निकल आती है। यदि 'अहं' शरीर मे रहता है तब तो बालक का 'अहं' नष्ट हो गया। यदि 'अहं' शरीरगत होता तब हमारी एक आँख अथवा हाथ टूट जाने पर 'अहं' भी नष्ट हो जाता। शराबी का शराब छोड़ना ठीक नही, क्योकि इससे उसका 'अह' नष्ट हो जायगा! चोर का साधु बनना भी ठीक नही, क्योकि इससे उसका 'अहं' भी छूट जायगा। इसी भय से किसी को भी अपना व्यसन छोड़ना उचित नहीं। अनन्त को छोड़कर और किसी मे 'अहं' है ही नही। केवल इस अनन्त का ही परिवर्तन नही होता, और सभी का क्रमागत परिणाम होता है। 'अहं' भाव स्मृति मे भी नहीं है। स्मृति मे यदि 'अहं' होता तो मस्तिष्क मे गहरी चोट लगने के कारण स्मृतिलोप हो जाने पर वह 'अह' भी नष्ट हो जाता और हमारा बिलकुल ही लोप हो जाता! प्रारम्भिक बचपन के दो तीन वर्ष का मुझे कोई स्मरण नहीं; यदि स्मृति के ऊपर मेरा अस्तित्व निर्भर करता होता तो ये दो-तीन वर्ष मेरा अस्तित्व ही नहीं था—कहना ही पड़ेगा। तब तो मेरे जीवन का जो अंश मुझे स्मरण नहीं, उस समय मैं जीवित नही था, यह कहना ही पड़ेगा। अवश्य ही यहाँ 'अह' का बहुत ही सङ्कीर्ण अर्थ लिया गया है। हम अभी तक 'मै' नही हैं। हम इसी 'मैं' को प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे है—यह अनन्त है, यही मनुष्य का प्रकृत स्वरूप है। जिनका जीवन सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त किये हुये है वे ही जीवित है, और हम जितना ही अपने जीवन को शरीर रूपी छोटे-छोटे सान्त पदार्थों मे बद्ध करके रखेगे उतना ही हम मृत्यु की ओर अग्रसर होगे। हमारा जीवन जिस मुहूर्त मे समस्त जगत् मे व्याप्त रहता है, जिस क्षण से वह दूसरे मे व्याप्त रहता है, उसी मुहूर्त

मे हम जीवित है, और जिस समय हम इस क्षुद्र जीवन मे अपने को वद्ध करके रखते है उसी मुहूर्त में मृत्यु है एवं इसी कारण हमें मृत्युभय होता है। मृत्युभय को तभी जीता जा सकता है जव मनुष्य यह समझले कि जब तक जगत् मे एक भी जीवन शेष है तब तक वह भी जीवित है। इस प्रकार के व्यक्तियो को ऐसी उपलब्धि होती है कि, "मै सब वस्तुओ मे, सब देहो मे वर्तमान हूँ। सव जन्तुओं मे मै वर्तमान हूँ। मै ही यह जगत् हूँ, सम्पूर्ण जगत् ही मेरा शरीर है। जितने दिन एक भी परमाणु शेष है उतने दिन मेरी मृत्यु की सम्भावना ही क्या है? कौन कहता है कि मेरी मृत्यु होगी?"—ऐसा ज्ञान हो जाने पर ऐसे लोग निर्भय हो जाते हैं, ऐसे ही समय निर्भीक अवस्था आ जाती है। नियतपरिणामशील छोटी-छोटी वस्तुओ मे अविनाशत्व है यह कहना मूर्खता है। एक प्राचीन भारतीय दार्शनिक ने कहा है कि आत्मा अनन्त है इसलिये आत्मा ही 'अहं' हो सकता है। अनन्त का भाग नहीं किया जा सकता, अनन्त को खण्ड-खण्ड नहीं किया जा सकता। यही एक अविभक्त, समष्टिरूप अनन्त आत्मा है, वही मनुष्य का यथार्थ 'मै' है, वही 'प्रकृत मनुष्य' है। मनुष्य के नाम से जिसको हम जानते है वह केवल इस 'मै' को व्यक्त जगत् मे प्रकाशित करने की चेष्टा का फल मात्र है; और आत्मा मे कभी 'क्रमविकास' नहीं रह सकता। यह जो सव परिवर्तन हो रहा है, बुरा-भला हो रहा है, पशु मनुष्य हो रहा है, यह सव कभी आत्मा मे नहीं होता। कल्पना करो कि एक पर्दा मेरे सामने है और उसमे एक छोटा सा छिद्र है; इसके भीतर से मै केवल कुछ चेहरे देख पा रहा हूँ। यह छिद्र जितना वड़ा होता जाता है उतना ही अधिक सामने का दृश्य मेरे सम्मुख प्रकाशित होता जाता है

और जब यह छिद्र सम्पूर्ण पर्दे को व्याप्त कर लेता है तब मै तुम सब को स्पष्ट देख पाता हूँ। यहाँ पर तुम्हारे अन्दर कोई परिवर्तन नहीं हुआ; तुम जो थे, वहीं हो। केवल छिद्र का क्रमविकास होता रहा, और उसके साथ साथ तुम्हारा प्रकाश होता रहा। आत्मा के सम्बन्ध में भी यही बात है। तुम मुक्त स्वभाव और पूर्ण ही हो। इसके लिये चेष्टा करनी नही होगी। धर्म, ईश्वर या परकाल, यह सब धारणा कहाँ से आई? मनुष्य 'ईश्वर, ईश्वर' करता क्यो घूमता फिरता है? सभी जातियों, सभी समाजो मे मनुष्य क्यों पूर्ण आदर्श का अन्वेषण करता फिरता है चाहे वह आदर्श मनुष्य में हो या ईश्वर मे या अन्य किसी वस्तु मे? इसका कारण यह है कि वह तुम्हारे भीतर ही वर्तमान है। तुम्हारा अपना ही हृदय धक-धक करता है, तुम सोचते हो, बाहर कोई वस्तु यह शब्द कर रही है। तुम्हारी आत्मा के अन्दर बैठा ईश्वर ही तुम्हे अपना अनुसन्धान करने को—अपनी उपलब्धि करने को प्रेरित कर रहा है।

यहाँ, वहाँ, मन्दिर मे, गिरजाघर मे, स्वर्ग-मर्त्य मे, नाना स्थानो मे नाना उपायो से अन्वेषण करने के बाद अन्त मे हमने जहाँ से आरम्भ किया था—अर्थात् हमारी आत्मा में ही हम वृत्ताकार घूम कर वापस आते है और देखते हैं कि जिसकी हम समस्त जगत् मे खोज करते थे, जिसके लिये हमने मन्दिरों, गिरजाओ मे जाकर कातर होकर प्रार्थनाये की, ऑसू बहाये, जिसको हम सुदूर आकाश मे मेघराशि के पीछे छिपा हुआ अव्यक्त रहस्यमय समझते रहे, वह हमारे निकट से भी निकट है, प्राण का प्राण है, वही हमारा शरीर है, वही हमारा आत्मा है—तुम ही 'मै' हो, मै ही 'तुम' हूँ। यही तुम्हारा स्वरूप

है—इसीका प्रकाश करो। तुम्हें पवित्र होना नहीं पड़ेगा—तुम पवित्र स्वरूप ही हो। तुम्हें पूर्ण स्वरूप होना नहीं पड़ेगा—तुम पूर्ण स्वरूप ही हो। समस्त प्रकृति ही पर्दे के समान अपने अन्दर रहने वाले सत्य को ढांके रहती है। तुम जो कुछ भी अच्छा विचार या अच्छा कार्य करते हो वह मानों केवल उस आवरण को धीरे-धीरे छिन्न करते हो और वही मानों प्रकृति के अन्दर स्थित शुद्ध स्वरूप अनन्त ईश्वर प्रकाशित हो रहा है। यही मनुष्य का सारा इतिहास है। यही आवरण जितना ही सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाता है, उतना ही प्रकृति के अन्दर स्थित प्रकाश भी अपने स्वभाव के अनुसार ही क्रमशः अधिकाधिक दीप्त होता जाता है, क्योंकि उसका स्वभाव ही इसी प्रकार दीप्त होना है। उसको जाना नहीं जा सकता, हम सब उसको जानने की वृथा ही चेष्टा करते हैं। यदि वह ज्ञेय होता तो उसका स्वभाव ही बदल जाता, कारण वह नित्यज्ञाता है। और ज्ञान तो ससीम है; किसी वस्तु का ज्ञान-लाभ करने के लिये उसकी ज्ञेय वस्तु के रूप में, विषय के रूप में चिन्ता करनी होती है। वह तो सकल वस्तुओं का ज्ञाता स्वरूप है, सब विषयो का विषयी स्वरूप है, इस विश्वब्रह्माण्ड का साक्षी स्वरूप है, तुम्हारा ही आत्मा स्वरूप है। ज्ञान तो मानो एक नीचे की अवस्था है—केवल एक अवनत भाव है। हम ही वह आत्मा हैं, फिर इसे हम किस प्रकार जानेंगे? प्रत्येक व्यक्ति वह आत्मा है और विभिन्न उपायो से इसी आत्मा को जीवन मे प्रकाशित करने की सभी चेष्टा कर रहे है; यदि ऐसा न होता तो ये सब नीतिप्रणालियॉ कहॉ से आतीं? सभी नीति-प्रणालियो का तात्पर्य क्या है? सभी नीतिप्रणालियों में एक ही भाव भिन्न-भिन्न रूप से प्रकाशित हुआ है—दूसरों का उपकार करना।

मानवजाति के समस्त सत्कर्मों की मूल अभिसन्धि है—मनुष्य, जन्तु आदि सभी के प्रति दया। किन्तु ये सब 'मै ही जगत् हूँ, यह जगत् एक अखण्ड स्वरूप है,' इसी सनातन सत्य के विभिन्न भाव मात्र है। यदि ऐसा नहीं हो तो दूसरो का हित करने में क्या युक्ति है ? मैं क्यों दूसरों का उपकार करूँ ? परोपकार करने को मुझे कौन बाध्य करता है ? सब जगह समदर्शन से उत्पन्न जो सहानभूति का भाव है उसी से तो यह बात हुई। अत्यन्त कठोर अन्तःकरण भी कभी-कभी दूसरो के प्रति सहानुभूति से भर जाता है। और तो क्या, जो व्यक्ति 'यह आपातप्रतीयमान (Apparent) ' अहं ' वास्तव मे भ्रम-मात्र है,' 'इस भ्रमात्मक ' अह ' में आसक्त रहना अत्यन्त नीच कार्य है'—ये सब बाते सुनकर भयभीत हो जाता है—वही व्यक्ति तुमसे कहेगा कि सम्पूर्ण आत्मत्याग ही सब नीतियों की भित्ति है। किन्तु पूर्ण आत्मत्याग क्या है ? सम्पूर्ण आत्मत्याग हो जाने पर शेष क्या रहेगा ? आत्मत्याग का अर्थ है इसी आपातप्रतीयमान ' अहं ' का त्याग, सब प्रकार की स्वार्थपरता का त्याग। यह अहंकार और ममता पूर्व कुसंस्कारों के फल स्वरूप है और जितना ही इस ' अहं ' का त्याग होना जाता है उतना ही आत्मा अपने नित्य स्वरूप में, अपनी पूर्ण महिमा में प्रकाशित होता है। यही वास्तविक आत्मत्याग है, यही समस्त नैतिक शिक्षा की भित्ति है, केन्द्र है। मनुष्य इसको जाने या न जाने, समस्त जगत् धीरे-धीरे इसी दिशा मे जा रहा है, अल्पाधिक परिमाण मे इसीका अभ्यास कर रहा है। केवल, अधिकाश लोग इसे अज्ञात भाव से ही कर रहे है। वे इसे ज्ञात भाव से करे। यह प्रकृत आत्मा नही है यह समझ कर वे इस त्याग-यज्ञ को करे। यह व्यवहारिक जीव ससीम जगत् के भीतर आवद्ध है। इस समय जिसको

मनुष्य नाम से पुकारा जाता है वह इसी जगत् की अतीत अनन्त सत्ता का सामान्य आभास मात्र है, उसी सर्वस्वरूप अनन्त अग्नि का एक कण मात्र है। किन्तु वह अनन्त ही तो उसका वास्तविक स्वरूप है।

इस ज्ञान का फल—इस ज्ञान की उपकारिता क्या है? आजकल सभी विषयो को उनकी इस उपकारिता से ही नापा जाता है। अर्थात् मोटी बात यो है कि इससे कितने रुपये, कितने आने और कितने पैसो का लाभ है? किन्तु लोगो को इस प्रकार प्रश्न करने का क्या अधिकार है? क्या सत्य को भी उपकार या धन के मापदण्ड से नापा जायगा? मान लो कि इससे कोई लाभ नही होता तो क्या यह सत्य कुछ कम सत्य हो जायगा? उपकार अथवा प्रयोजन सत्य का निर्णायक कभी नही हो सकता (Bentham's Utilitarianism and Jame's Pragmatism)। जो भी हो, इस ज्ञान मे बड़ा उपकार तथा प्रयोजन भी है। हम देखते है, सब लोग सुख की खोज करते है; किन्तु अधिकांश लोग नश्वर मिथ्या वस्तुओं मे उसको ढूँढते फिरते है। इन्द्रियो मे कभी किसी को सुख नही मिलता। सुख तो केवल आत्मा मे ही मिलता है। अतएव आत्मा मे इस सुख की प्राप्ति ही मनुष्य का सबसे बड़ा प्रयोजन है। और एक बात यह है कि अज्ञान ही सब दुःखो का कारण है, और मेरी समझ मे सब से बड़ा अज्ञान यही है कि जो अनन्त स्वरूप है वह अपने को सान्त मान कर रोता है; समस्त अज्ञान की मूलभित्ति यही है कि अविनाशी, नित्य शुद्ध पूर्ण आत्मा होते हुए भी हम सोचते हैं कि हम छोटे मन, छोटे छोटे देह मात्र हैं; यही समस्त स्वार्थपरता का मूल है। जब ही मै अपने को एक क्षुद्र देह समझ कर विवेचना करता

हूँ तभी मैं उसकी—जगत् के अन्यान्य शरीरो के सुख-दु.ख की ओर दृष्टि बिना डाले ही—रक्षा करने की तथा उसका सौन्दर्य सम्पादन करने की इच्छा करता हूँ। उस समय तुम और मै भिन्न हो जाता हूँ। और जब ही यह भेद-ज्ञान आता है तभी यह सब प्रकार के अमंगल का द्वार खोल देता है और सब प्रकार के दु खों की उत्पत्ति करता है। अतः पूर्वोक्त ज्ञानलाभ से यह लाभ होगा कि आजकल की मनुष्य-जाति का एक बहुत छोटा अश भी यदि क्षुद्र भाव का त्याग कर सके तो कल ही यह संसार स्वर्गरूप मे परिणत हो जायगा, किन्तु नाना प्रकार के यन्त्रो के तथा बाह्य जगत् सम्बन्धी ज्ञान की उन्नति से यह कभी नही हो सकता। जिस प्रकार अग्नि मे तेल डालने से अग्निशिखा और भी वर्धित होती है उसी प्रकार इन सब वस्तुओ से दु:खों की ही वृद्धि होती है। आत्मज्ञान के अतिरिक्त जितना भी भौतिक ज्ञान उपार्जित किया जाता है वह केवल अग्नि मे घृताहुति मात्र है। इससे केवल स्वार्थपर लोगों के हाथों मे दूसरों का कुछ लेने के लिये, दूसरों के लिये अपना जीवन बिना दिये दूसरो के कन्धो पर बैठ कर खाने के लिये एक और यंत्र एक और सुविधा मात्र आजाती है।

एक और प्रश्न है—क्या इसे कार्य रूप मे परिणत करना सम्भव है? वर्तमान समाज मे क्या इसको कार्य रूप मे परिणत किया जा सकता है? इसका उत्तर यही है कि सत्य—प्राचीन अथवा आधुनिक किसी समाज का भी सम्मान नही करता। समाज को ही सत्य का सम्मान करना पड़ेगा, अन्यथा ध्वस अवश्यम्भावी है। सत्य ही समस्त प्राणियो तथा समाज का मूल आधार है, अतः सत्य कभी

भी समाज के अनुसार अपना गठन नहीं करेगा। यदि निःस्वार्थपरता के समान महान सत्य समाज में कार्य रूप मे परिणत नहीं किया जा सकता तो ऐसे समाज को छोड़ कर वन मे जाकर बसना ही अच्छा है। इसीका नाम साहस है। साहस दो प्रकार का होता है। एक साहस होता है तोप के मुँह मे दौड़ पडना। यदि यही वास्तविक साहस होता तो सिंह आदि मनुष्य से श्रेष्ठ होते। किन्तु एक और साहस होता है जिसे सात्त्विक साहस कह कर पुकार सकते है। एक बार एक दिग्विजयी सम्राट भारतवर्ष मे आया। उसके गुरु ने उसे भारतीय साधुओं से साक्षात्कार करने का आदेश दिया था। बहुत खोज करने के बाद उसने देखा कि एक वृद्ध साधु एक पत्थर के ऊपर बैठे है। सम्राट को उनके साथ कुछ देर बातचीत करने से बड़ा सन्तोष हुआ। अतएव उसने साधु को अपने साथ देश ले जाने की इच्छा प्रकट की। साधु ने इसे स्वीकार नही किया और कहा—"मै इसी वन मे बड़े आनन्द मे हूँ।" सम्राट बोला—"मैं समस्त पृथिवी का सम्राट हूँ। मै आपको असीम ऐश्वर्य तथा उच्च पद-मर्यादा दूँगा।" साधु बोले—"ऐश्वर्य, पदमर्यादा, किसी मे भी मेरी आकांक्षा नहीं है।" तब सम्राट ने कहा—"आप यदि मेरे साथ नही जायेंगे तो मैं आपका विनाश कर दूँगा।" इस पर साधु बहुत हँसे और बोले—"महाराज, तुमने जितनी बाते कही, उनमे यही सब से अधिक अज्ञानपूर्ण मालूम होती है। क्या तुम मेरा संहार कर सकते हो? सूर्य मुझे सुखा नहीं सकता, अग्नि मुझे जला नही सकती, कोई यंत्र भी मेरा संहार नहीं कर सकता, कारण कि मैं जन्म रहित अविनाशी, नित्यविद्यमान, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान आत्मा हूँ।" यह एक अन्य प्रकार की साहसिकता है। सन १८५७ ई. मे सिपाही-विद्रोह

के समय एक मुसलमान सिपाही ने एक संन्यासी महात्मा को तलवार से भोंक दिया। हिन्दू विद्रोहियों ने इस मुसलमान को स्वामीजी के पास लाकर कहा—"आप कहे तो इसकी हत्या कर दे हम?" स्वामीजी ने उनकी ओर मुँह फिरा कर कहा—"भाई, तुम्हीं वह हो, तुम्ही वह हो।" यही कहते-कहते उन्होंने शरीर छोड़ दिया। यह भी एक प्रकार की साहसिकता है। यदि तुम सत्य के आदर्श पर समाज का संगठन नही कर सकते, यदि तुम इस प्रकार समाज-सगठन नहीं कर सकते कि जिसमे वह सर्वोच्च सत्य-स्थान पा सके तब फिर तुम अपने बाहुबल पर क्या अभिमान करते हो? तब फिर तुम अपनी सारी पाश्चात्य संस्थाओं का क्या अभिमान करते हो? अपनी महानता तथा श्रेष्ठता का तुम क्या गौरव करते हो, यदि तुम दिन-रात यही कहते रहते हो कि, "इसका कार्य मे परिणत करना असम्भव है।" पैसा-कौड़ी को छोड़ कर क्या और कुछ भी करने योग्य नहीं है? यदि यही है तो अपने समाज पर इतना अहकार क्यो करते हो? वही समाज सर्वश्रेष्ठ है जहॉ सर्वोच्च सत्य को कार्य मे परिणत किया जा सकता है—यही मेरा मत है। और यदि समाज इस समय उच्चतम सत्य को स्थान देने मे समर्थ नही है तो उसे इस योग्य बनाओ। उसको इस योग्य बनाओ और जितनी शीघ्र तुम इस कार्य मे सफल होगे उतना ही अच्छा। हे नरनारिगण! आत्मा के सम्बन्ध मे जाग्रत होओ, सत्य मे विश्वास करने का साहस करो, सत्य के अभ्यास का साहस करो। संसार मे कितने ही साहसी नरनारियो की आवश्यकता है। साहसी होना वडा कठिन है। शारीरिक साहस मे तो व्याघ्र मनुष्य से श्रेष्ठ है, उसके स्वभाव मे ही इस प्रकार की साहसिकता है। वल्कि इस

विषय में तो चींटी अन्य जन्तुओं से श्रेष्ठ है। परन्तु इस शारीरिक साहसिकता की बात क्यों करते हो? उसी साहस का अभ्यास करो जो मृत्यु के समक्ष भयभीत नहीं होता, जो मृत्यु का स्वागत कर सकता है, जिससे मनुष्य जान सके—कि वह आत्मा है, और समस्त जगत् में कोई भी अस्त्र ऐसा नहीं जो उसे संहार कर सके, सारे वज्र मिल कर भी उसका संहार नहीं कर सकते, जगत् की समस्त अग्नि भी उसे दग्ध नहीं कर सकती—जो साहसिकता सत्य को जानने का साहस करती है और जीवन में उस सत्य को दिखा सकती है, ऐसी साहसिकता जिसमें है वही व्यक्ति मुक्त पुरुष है, वही व्यक्ति वास्तव में आत्मस्वरूप हो गया। यह इसी समाज में—प्रत्येक समाज में—अभ्यास करना होगा। 'आत्मा के सम्बन्ध में पहले श्रवण, फिर मनन, उसके बाद निदिध्यासन करना होगा।'

आज कल के समाज में एक बात देखी जाती है—कार्य करने में अधिक ज़ोर लगाना और सब प्रकार के मनन, ध्यान, धारणा आदि पर बिल्कुल ध्यान न देना। अवश्य ही कार्य अच्छा हो सकता है, किन्तु वह भी तो चिन्ता से ही उत्पन्न होता है। मन के भीतर जो छोटी-छोटी शक्तियों का विकास होता रहता है वही जब शरीर द्वारा अनुष्ठित होता है तब उसी को कार्य कहते हैं। बिना चिन्ता के कोई कार्य नहीं हो सकता। मस्तिष्क को ऊँची-ऊँची चिन्ताओं, ऊँचे-ऊँचे आदर्शों से भर लो, उन्हीं को दिन-रात मन के सम्मुख स्थापित करके रक्खो; ऐसा होने पर इन्हीं विचारों से बड़े-बड़े कार्य होंगे। अपवित्रता के सम्बन्ध में कोई बात मत कहो किन्तु मन से कहो कि मैं शुद्ध पवित्र स्वरूप हूँ। हम क्षुद्र हैं, हमने जन्म लिया, हम मरेंगे,

इन्हीं चिन्ताओं में हमने अपने आप को एकदम अभिभूत कर रक्खा है, और इसीलिये हम सर्वदा एक प्रकार के भय से कॉपते है ।

एक सिंहनी जिसका प्रसवकाल निकट था, एक बार अपने शिकार की खोज मे बाहर निकली । उसने दूर पर भेड़ों के एक झुण्ड को चरते देख कर उन पर आक्रमण करने के लिये जैसे ही छलॉग मारी वैसे ही उसके प्राणपखेरू उड गये और एक मातृहीन सिंह के बच्चे ने जन्म लिया । भेडो ने उस सिंह के बच्चे की देखरेख प्रारम्भ कर दी और वह भेडो के बच्चो के साथ साथ बड़ा होने लगा, भेडो की भॉति घास-पात खाकर प्राण-धारण करने लगा, भेडो की भॉति 'मे-मे' भी करने लगा। यद्यपि वह ठीक एक सिंह के समान हो उठा था, फिर भी वह अपने को भेड समझता था । इसी प्रकार दिन बीत रहे थे कि एक दिन एक बड़ा भारी सिंह शिकार के लिये उधर आ निकला, किन्तु उसे यह देख कर बडा आश्चर्य हुआ कि भेड़ों के बीच मे एक सिंह भी है और भेडों की भॉति ही वह विपत्ति आने की सम्भावना मात्र से ही भाग रहा है । तब सिंह उसके पास जाकर- 'वह सिंह है, भेड़ नहीं' यह समझाने की चेष्टा करने लगा, किन्तु जैसे ही वह आगे बढ़ा वैसे ही भेड़ों का झुण्ड भागने लगा और उसके साथ-साथ वह 'मेष-सिंह' भी भागने लगा। जो हो उसने उस मेष-सिंह को अपने यथार्थ स्वरूप को समझाने का सकल्प नही छोड़ा। वह लक्ष्य करने लगा कि भेड-सिंह कहॉ रहता है, क्या करता है । एक दिन उसने देखा कि वह एक जगह पड़ा सो रहा है । देखते ही वह उसके ऊपर कूद कर जा पहुँचा और बोला—"अरे, तुम भेड़ों के साथ रह कर अपना स्वभाव किस प्रकार भूल गये ?

तुम तो भेड़ नहीं हो, तुम सिंह हो।" मेष-सिंह बोल उठा—"क्या कह रहे हो? मै भेड हूँ, सिंह कैसे हो सकता हूँ?" उसे किसी प्रकार विश्वास नहीं हुआ कि वह सिंह है, और वह भेड़ों की भाँति चीत्कार करने लगा। तब सिंह उसे उठा कर एक सरोवर के किनारे ले गया और बोला—"यह देखो अपना प्रतिबिम्ब, यह देखो मेरा प्रतिबिम्ब।" और तब वह इन दोनों की तुलना करने लगा। वह एक बार सिंह की ओर, और एक बार अपने प्रतिबिम्ब की ओर ध्यान से देखने लगा। उस समय क्षण भर मे ही उसका यह ज्ञान जाग गया कि 'सचमुच, मै तो सिंह ही हूँ।' तब वह सिंहगर्जना करने लगा और उसका भेडों का सा चीत्कार न जाने कहाँ चला गया! तुम सब सिंह स्वरूप हो, तुम आत्मा हो, शुद्धस्वरूप, अनन्त और पूर्ण। जगत् की महाशक्ति तुम्हारे भीतर है। "हे सखा, क्यो रोदन करते हो? जन्म-मृत्यु तुम्हारा भी नहीं है, मेरा भी नही है। क्यों रोते हो? तुम्हे रोग, दुःख कुछ भी नहीं है, तुम अनन्त आकाश स्वरूप हो जिसके ऊपर नाना प्रकार के मेघ आते है और कुछ देर खेल कर न जाने कहां अन्तर्हित हो जाते है; किन्तु आकाश जैसा पहले नीला था वैसा ही नीला रह जाता है।" इसी प्रकार के ज्ञान का अभ्यास करना होगा। हम जगत् मे पाप-ताप क्यों देखते है? कारण, हम स्वय ही असत् है। एक मार्ग मे एक ठूँठ खड़ा था। एक चोर उधर से जा रहा था, उसने समझा यह कोई पहरेवाला है। नायक ने समझा, वह उसकी नायिका है। एक बच्चे ने जब उसे देखा तो भूत समझ कर चीत्कार करने लगा। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने इस प्रकार यद्यपि उसे भिन्न-भिन्न रूपों मे देखा, तथापि वह एक ठूँठ के अतिरिक्त और कुछ भी नही था।

हम स्वयं जैसे होते है जगत् को वैसा ही देखते है। एक मेज़ पर एक मोहर की थैली रख दो और सोचो कि यहाँ पर एक बच्चा बैठा है। एक चोर ने आकर उस थैली को ले लिया। क्या बच्चा समझेगा कि चोरी हो गई? हमारे भीतर जो है वही हम बाहर भी देखते हैं। बच्चे के मन में चोर नहीं था, अतएव उसने चोर को नहीं देखा। सब प्रकार के ज्ञान के सम्बन्ध मे ऐसा ही होता है। जगत् के पाप, अत्याचार की बात मत कहना। किन्तु तुम्हे जगत् मे अब भी जो पाप देखना पड़ता है उसके लिये रोदन करो। अपने लिये रोओ कि तुम्हें अब भी सर्वत्र पाप देखना पड़ता है। और यदि तुम जगत् का उपकार करना चाहते हो तो जगत् के ऊपर दोषारोपण करना छोड़ दो। उसे और भी दुर्बल मत करो। यह सब पाप, दुःख आदि क्या हैं? यह सब तो दुर्बलता का ही फल है। लोग बचपन से ही शिक्षा पाते है कि वे दुर्बल है, वे पापी है। इस प्रकार की शिक्षा से जगत् दिन पर दिन दुर्बल होता जा रहा है। उनको सिखाओ कि वे सब उसी अमृत की सन्तान हैं—और तो क्या, जिसके भीतर आत्मा का प्रकाश अति क्षीण है उसे भी यही सिखाओ। बाल्य-काल से ही उनके मस्तिष्क में इस प्रकार की चिन्ताएँ प्रविष्ट कर दो जिनसे कि उनकी यथार्थ सहायता हो सके, जो उनको सबल बनाये, जिनसे उनका कुछ यथार्थ हित हो, जिससे दुर्बलता तथा अवसादकारक चिन्ता उनके मस्तिष्क मे प्रवेश ही न करे। सच्चिन्ता के स्रोत मे शरीर को डुबा दो, अपने मन से सर्वदा कहो—'मै ही वह हूँ, मै ही वह हूँ।' तुम्हारे मन में दिन रात यह बात संगीत की भाँति बजती रहे, और मृत्यु के समय भी 'सोऽहम्, सोऽहम्' बोलते हुए मरो। यही सत्य है—जगत् की अनन्त शक्ति

तुम्हारे भीतर है। जो कुसंस्कार तुम्हारे मन को ढके रखता है, उसे भगा दो। साहसी बनो। सत्य को जान कर उसे जीवन मे परिणत करो, चरम लक्ष्य बहुत दूर हो सकता है, किन्तु 'उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत।"

---

४. मनुष्य का यथार्थ स्वरूप

(न्यूयार्क में दिया हुआ भाषण)

हम यहाँ खडे है परन्तु हमारी दृष्टि दूर, बहुत दूर—अनेक समय, कोसो दूर चली जाती है। जब से मनुष्य ने चिन्ता करना आरम्भ किया तभी से उसको यह आदत रही है। मनुष्य सदा ही वर्तमान से बाहर देखने की चेष्टा करता है, वह जानना चाहता है कि इस शरीर के नष्ट होने के बाद वह कहाँ चला जाता है। इसी रहस्य को उद्घाटित करने के लिये अनेक मतो का प्रचार हुआ; सैकडों मतो की स्थापना हुई, और सैकडो मत खण्डित होकर छोड भी दिये गये; और जितने दिन मनुष्य इस जगत् मे रहेगा, जितने दिन वह चिन्ता करता रहेगा उतने दिन ऐसे ही चलेगा। इन सब मतो में ही कुछ न कुछ सत्य है। और इन्ही मे बहुतसा असत्य भी है। इस सम्बन्ध मे भारत मे जो अनुसन्धान हुआ है उसीका सार, उसीका फल मै आपके सामने रखने की चेष्टा करूँगा। भारतीय दार्शनिकों के इन सब मतों का समन्वय करने तथा यदि हो सका तो उसके साथ आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों का भी समन्वय करने की चेष्टा करूँगा।

वेदान्त-दर्शन का एक ही उद्देश्य है—एकत्व का अनुसन्धान या अन्वेषण। हिन्दू लोग विशेष के पीछे नहीं दौड़ते, वे सदा ही सामान्य वस्तु का—नही नहीं, सर्वव्यापी सार्वभौमिक वस्तु का

अन्वेषण करते हैं। हम देखते है कि उन्होंने वार वार इसी एक सत्य का अनुसन्धान किया है—"ऐसा कौन सा पदार्थ है जिसके जान लेने से सब कुछ जाना जा सकता है ?" जिस प्रकार मिट्टी के एक ढेले को जान लेने पर जगत् की सारी मिट्टी को जान लिया जाता है उसी प्रकार ऐसी कौनसी वस्तु है जिसे जान कर जगत् की सभी वस्तुये जानी जा सकती हैं ? यही उनका एक मात्र अनुसन्धान है, यही उनकी एकमात्र जिज्ञासा है। उनके मत से समस्त जगत् का विश्लेषण करके उसे एक मात्र 'आकाश' में पर्यवसित किया जा सकता है। हम अपने चारो ओर जो कुछ भी देखते है, छूते है, आस्वादन करते है, अधिक क्या, हम जो कुछ भी अनुभव करते हैं वह सब केवल इसी आकाश का विभिन्न विकास मात्र है। यह आकाश सूक्ष्म और सर्वव्यापी है। कठिन, तरल, वाष्पीय, सब पदार्थ, सब प्रकार की आकृतियाँ, शरीर, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारा— सब इसी आकाश से उत्पन्न है। किस शक्ति ने इस आकाश पर कार्य करके इसमे से जगत् की सृष्टि की ? आकाश के साथ एक सर्वव्यापी शक्ति रहती है। जगत् में जितनी भी भिन्न भिन्न शक्तियाँ है—आकर्षण, विकर्षण, यहाँ तक कि चिन्ताशक्ति भी, सभी प्राण नामक एक महाशक्ति का विकास मात्र है। इसी प्राण ने आकाश के ऊपर कार्य करके इस जगत्-प्रपञ्च की रचना की है। कल्प के प्रारम्भ में यही प्राण मानो अनन्त आकाश-समुद्र में प्रसुप्त रहता है। प्रारम्भ मे यह आकाश गतिहीन होकर अवस्थित था। बाद में प्राण के प्रभाव से इस आकाश-समुद्र मे गति उत्पन्न होती है। और इस प्राण की जैसे ही गति होती है वैसे ही इस आकाश-समुद्र मे से नाना ब्रह्माण्ड, नाना जगत्, कितने ही सूर्य, चन्द्र, तारा-

गण, पृथ्वी, मनुष्य, जन्तु, उद्भिद् और नाना शक्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। अतएव हिन्दुओ के मत से सब प्रकार की शक्ति प्राण का और सब प्रकार के दृश्य पदार्थ आकाश का विभिन्न स्वरूप मात्र हैं; कल्पान्त मे सभी घन पदार्थ पिघल जायँगे, और वह तरल पदार्थ वाष्पीय आकार में परिणत हो जायगा। वह फिर तेज रूप धारण करेगा। अन्त मे सब कुछ जिसमे से उत्पन्न हुआ था उसी आकाश मे विलीन हो जायगा। और आकर्षण, विकर्षण, गति आदि समस्त शक्तियाँ धीरे धीरे मूल प्राण मे परिणत हो जायँगी। उसके बाद जब तक फिर कल्पारम्भ नही होता तब तक यह प्राण मानो निद्रित अवस्था मे रहेगा। कल्पारम्भ होने पर वह फिर जाग कर नाना रूपों को प्रकाशित करेगा और कल्पान्त मे सभी कुछ लय हो जायगा। इसी प्रकार वह आता है, जाता है, एक बार पीछे और एक बार आगे—मानो झूल रहा है। आधुनिक विज्ञान की भाषा मे कहेगे कि एक समय वह स्थितिशील (Static) रहता है, फिर गतिशील (Dynamic) हो जाता है; एक समय प्रसुप्त रहता है और फिर क्रियाशील हो जाता है। इसी रूप से अनन्त काल से चला आरहा है।

किन्तु यह विश्लेषण भी अधूरा ही रहा। आधुनिक पदार्थ-विज्ञान ने भी यही तक जान पाया है। इसके ऊपर भौतिक विज्ञान की गति नहीं है। किन्तु इस अनुसन्धान का यहीं अन्त नही हो जाता। हमने अभी तक उस वस्तु को प्राप्त नहीं किया जिसे जान कर सब कुछ जाना जा सके। हमने समस्त जगत् को भूत और शक्ति मे अथवा प्राचीन भारतीय दार्शनिको के शब्दो मे आकाश

और प्राण मे पर्यवसित कर दिया। अब आकाश और प्राण को किसी एक वस्तु मे पर्यवसित करना होगा। इन्हे मन नामक उच्चतर क्रिया-शक्ति मे पर्यवसित किया जा सकता है। महत् अथवा समष्टि चिन्ता-शक्ति से प्राण और आकाश दोनो की उत्पत्ति होती है। चिन्ता-शक्ति ही इन दो शक्तियों के रूप मे विभक्त हो जाती है। प्रारम्भ मे यही सर्वव्यापी मन था। इसी ने परिणत होकर आकाश और प्राण रूप धारण किये और इन्हीं दोनो के सम्मिश्रण से समस्त जगत् बना।

अब हम मनस्तत्व की आलोचना करेंगे। मै आपको देख रहा हूँ। ऑखे विषय को ग्रहण कर रही है और अनुभूतिजनक स्नायु उसे मस्तिष्क मे प्रेरित कर रहे है। ऑखे देखने का साधन नही है, वे केवल बाहरी यन्त्र है, कारण देखने का जो वास्तविक साधन है, जो मस्तिष्क मे विषय-ज्ञान को संवाद ले जाता है, उसको यदि नष्ट कर दिया जाय तब मेरी बीस ऑंखे रहते हुए भी आप मे से किसी को भी मै नही देख सकूँगा। अक्षिजाल (Retina) के ऊपर पूरा अक्स या प्रतिबिम्ब पड़ सकता है फिर भी तुम सब को मै देख नहीं पाऊँगा। अतएव सिद्ध है कि वास्तविक दर्शनेन्द्रिय इस ऑख से पृथक् कोई वस्तु है; प्रकृत चक्षुरिन्द्रिय अवश्य ही चक्षुयन्त्र के पीछे विद्यमान है। सभी प्रकार की विषयानुभूति के सम्बन्ध मे इसी प्रकार समझना चाहिये। नासिका घ्राणेन्द्रिय नही है; वह केवल यन्त्र मात्र है, उसके पीछे घ्राणेन्द्रिय है। प्रत्येक इन्द्रिय के सम्बन्ध मे समझना होगा कि पहले तो इस स्थूल शरीर मे बाह्य यन्त्र लगे हुये है; पीछे किन्तु इसी स्थूल शरीर मे इन्द्रियॉ भी मौजूद हैं। किन्तु इन सब से भी काम नही चलता! मान लीजिये, मै आपसे कुछ कह रहा हूँ

और आप बड़े मनोयोग के साथ मेरी बात सुन रहे हैं, इसी समय यहॉ एक घण्टा बजता है; शायद आप उस घण्टे की ध्वनि को नहीं सुन सकेंगे। यह शब्द-तरंग आपके कान मे पहुँच कर कान के पर्दे मे लगी, स्नायुओ के द्वारा यह संवाद मस्तिष्क मे पहुँचा, किन्तु फिर भी आप उसे क्यों नहीं सुन सके ? यदि मस्तिष्क मे संवाद वहन करने तक ही समस्त श्रवण-प्रक्रिया सम्पूर्ण हो जाती, तो फिर तुम क्यो नही सुन पा सके ? अतएव मालूम हुआ कि सुनने की प्रक्रिया के लिये और भी कुछ आवश्यक है—मन इन्द्रिय से युक्त नहीं था। जिस समय मन इन्द्रियों से पृथक रहता है उस समय इन्द्रियॉ उसके पास जो कुछ भी संवाद लायेगी मन उनको ग्रहण नही करेगा। जब मन उनसे युक्त रहता है तभी वह किसी संवाद को ग्रहण करने मे समर्थ होता है। किन्तु इससे भी विषयानुभूति पूर्ण नही होगी। बाहरी यन्त्र संवाद वहन कर सकता है, इन्द्रियगण उसे भीतर ले जा सकती है और मन इन्द्रियों से संयुक्त रह सकता है, फिर भी विषयानुभूति पूर्ण नही होगी। एक वस्तु और आवश्यक है। भीतर से प्रतिक्रिया आवश्यक है। प्रतिक्रिया से ही ज्ञान उत्पन्न होगा। बाहर की वस्तु ने मानों मेरे अन्दर संवाद-प्रवाह प्रेरित किया। मेरे मन ने उसे लेकर बुद्धि के निकट अर्पण कर दिया, बुद्धि ने पहले से बने हुये मन के संस्कारो के अनुसार उसे सजाया और बाहर की ओर प्रतिक्रिया-प्रवाह की प्रेरणा की, इसी प्रतिक्रिया के साथ साथ विषयानुभूति होती है। मन की जो शक्ति इस प्रतिक्रिया की प्रेरणा करती है उसे 'बुद्धि' कहते है। किन्तु फिर भी अभी विषयानुभूति पूर्ण नहीं हुई। मान लीजिये, एक चित्रक्षेपक यन्त्र है और एक पर्दा है। मै इस पर्दे पर एक चित्र डालने की चेष्टा कर रहा हूँ। तो मै क्या

करूँगा ? मै उस यन्त्र से नाना प्रकार की प्रकाश-किरणें इस पर्दे पर डालने की और उन्हे एक स्थान में एकत्रित करने की चेष्टा करूँगा। एक ऐसी अचल वस्तु की आवश्यकता है जिस पर चित्र डाला जा सके। किसी चञ्चल वस्तु पर यह करना असम्भव है, कोई स्थिर वस्तु चाहिये। कारण, मै जो प्रकाश-किरणे डालना चाहता हूँ वे चञ्चल है; इन चञ्चल प्रकाश-किरणों को किसी अचल वस्तु के ऊपर एकत्रीभूत, एकीभूत करके एक जगह लाना होगा। यही बात उन संवादों के विषय मे भी है जिन्हें इन्द्रियॉ मन के आगे और मन बुद्धि के आगे समर्पित करता है, जब तक ऐसी कोई वस्तु नहीं मिल जाती जिस पर यह चित्र डाला जा सके, जिस पर भिन्न भिन्न भाव एकत्रीभूत हो कर मिल सके तब तक यह विषयानुभूति भी पूर्ण नही होगी। वह क्या वस्तु है जो समुदय को एकत्व का भाव प्रदान करती है। वह कौनसी वस्तु है जो विभिन्न गतियो के भीतर भी प्रतिक्षण एकत्व की रक्षा किये रहती है? वह कौन सी वस्तु है जिसके ऊपर भिन्न भिन्न भाव मानो एक ही जगह गूँथे रहते है; जिसके ऊपर विषय आकर मानो एक जगह वास करते है और एक अखण्ड भाव को धारण करते है? हमने देखा कि ऐसी कोई वस्तु आवश्यक ह और उस वस्तु का शरीर और मन की तुलना मे अचल होना भी आवश्यक है। जिस पर्दे के ऊपर यह चित्रक्षेपक यन्त्र चित्र डाल रहा है वह इन प्रकाश-किरणो की तुलना मे अचल है, ऐसा न होने पर चित्र पडेगा ही नही। अर्थात् इसका एक व्यक्ति (Individual) होना आवश्यक है। यही वस्तु, जिसके ऊपर मन यह सब चित्रांकन करता है, यही वस्तु जिसके ऊपर मन और बुद्धि द्वारा ले जायी

जाकर हमारी विषयानुभूति स्थापित, श्रेणीबद्ध और एकत्रीभूत होती है, इसी को मनुष्य की आत्मा कहते हैं।

तो, हमने देखा कि समष्टि मन या महत्, आकाश और प्राण इन दो भागो मे विभक्त रहता है। और मन के पीछे आत्मा रहता है। समष्टि मन के पीछे जो आत्मा है उसको ईश्वर कहते है। व्यष्टि मे यह मनुष्य की आत्मा मात्र है। जिस प्रकार समष्टि मन आकाश और प्राण के रूप मे परिणत हो गया है उसी प्रकार समष्टि आत्मा भी मन के रूप मे परिणत हो गया है। अब प्रश्न उठता है—क्या इसी प्रकार व्यष्टि मनुष्य के सम्बन्ध मे भी समझना होगा ? मनुष्य का मन भी क्या उसके शरीर का स्रष्टा है और क्या उसका आत्मा उसके मन का स्रष्टा है ? अर्थात् मनुष्य का शरीर, मन और आत्मा—ये तीन विभिन्न वस्तुये है, अथवा ये एक के भीतर ही तीन है, अथवा ये सब एक पदार्थ की ही तीन विभिन्न अवस्थाएँ मात्र है ? हम क्रमश: इसी प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करेंगे। जो भी हो, हमने अब तक यही देखा कि पहले तो यह स्थूल देह है, उसके बाद इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और बुद्धि के भी बाद आत्मा। तो पहली बात यह हुई कि आत्मा शरीर से पृथक तथा मन से भी पृथक वस्तु है। यहीं से धर्म जगत् मे मतभेद देखा जाता है। द्वैतवादी कहते है कि आत्मा सगुण है अर्थात् भोग, सुख, दु:ख—सभी यथार्थ में आत्मा के धर्म है; अद्वैतवादी कहते है कि वह निर्गुण है।

हम पहले द्वैतवादियों के मत का—आत्मा और उसकी गति के सम्बन्ध मे उनके मत का वर्णन करके उसके बाद जो मत इसका सम्पूर्ण रूप से खण्डन करता है उसका वर्णन करेंगे। अन्त मे

अद्वैतवाद के द्वारा दोनों मतों का सामञ्जस्य सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे। यह मानवात्मा शरीर और मन से पृथक है एवं आकाश और प्राण से गठित नहीं है इसीलिये अमर है। क्यो ? मर्त्यत्व या विनश्वरत्व का अर्थ क्या है ? जो विश्लिष्ट हो जाता है वही विनश्वर है। और जो वस्तु कई एक पदार्थों के संयोग से बनती है वही विश्लिष्ट होगी; केवल वह पदार्थ जो अन्य पदार्थों के संयोग से उत्पन्न नहीं है, कभी विश्लिष्ट नहीं होता, इसीलिये उसका कभी विनाश नहीं हो सकता। वह अविनाशी है। वह अनन्त काल से है, उसकी कभी सृष्टि नहीं हुई। सृष्टि तो केवल सयोग मात्र है। शून्य से कभी किसी ने सृष्टि नही देखी। सृष्टि के सम्बन्ध में हम केवल यह जानते है कि यह पहले से वर्तमान कितनी ही वस्तुओ का नये नये रूप मे एकत्र मिलन मात्र है। यदि ऐसा है तो यह मानवात्मा भिन्न भिन्न वस्तुओ के संयोग से उत्पन्न नही है, अतः वह अवश्य ही अनन्त काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। इस शरीर का नाश हो जाने पर भी आत्मा रहेगा। वेदान्तवादियों के मत से—जब इस शरीर का नाश हो जाता है तब मनुष्य की इन्द्रियो का मन मे लय हो जाता है, मन का प्राण मे लय हो जाता है, प्राण आत्मा मे प्रविष्ट हो जाता है और उस समय वही मानवात्मा मानो सूक्ष्म शरीर अथवा लिंग शरीर रूपी वस्त्र पहिन कर चला जाता है। इसी सूक्ष्म शरीर मे मनुष्य के समस्त संस्कार वास करते है। संस्कार क्या है ? मन मानो तालाब के समान है—और हमारी प्रत्येक चिन्ता मानों उसी तालाब की लहर के समान है। जिस प्रकार तालाब में लहर उठती है, गिरती है, गिरकर अन्तर्हित हो जाती है उसी प्रकार मन मे ये सब चिन्ताओ की तरंगे लगातार

उठती और अन्तर्हित होती रहती हैं। किन्तु वे एकदम अन्तर्हित भी नही होतीं। वे क्रमश: सूक्ष्मतर होती जाती है, परन्तु वर्तमान रहती ही है। प्रयोजन होने पर फिर उठती हैं। जिन चिन्ताओ ने सूक्ष्मतर रूप धारण कर लिया है उन्हीं मे से कुछ एक को फिर तरङ्गाकार मे लाने को ही स्मृति कहते है। इसी प्रकार हमने जो कुछ ही चिन्ता की है, जो कुछ कार्य हमने किये है सभी कुछ मन के अन्दर अवस्थित है। ये सब सूक्ष्म भाव से ही स्थित रहते है और मनुष्य के मर जाने पर भी ये संस्कार उसके मन मे रहते है—फिर वे सूक्ष्म शरीर के ऊपर कार्य करते रहते है। आत्मा ये ही सब संस्कार एवं सूक्ष्म शरीर रूपी वस्त्र धारण करके चला जाता है और यह विभिन्न संस्कार रूप विभिन्न शक्तियो का समवेत फल ही आत्मा की गति को नियमित करता है। उनके मत से आत्मा की तीन प्रकार की गति होती है।

जो अत्यत धार्मिक हैं उनकी मृत्यु के बाद वे सूर्यरश्मियों का अनुसरण करते है; सूर्यरश्मियो का अनुसरण करके वे सूर्यलोक मे जाते हैं; वहॉ से वे चन्द्रलोक और चन्द्रलोक से विद्युल्लोक मे उपस्थित होते है; वहॉ एक मुक्त आत्मा से उनका साक्षात्कार होता हैं; वे इन जीवात्माओं को सर्वोच्च ब्रह्मलोक मे ले जाते है। यहॉ उन्हे सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता प्राप्त होती है; उनकी शक्ति और ज्ञान प्राय: ईश्वर के समान हो जाता है, और द्वैतवादियों के मत मे वे अनन्त काल तक वहॉ वास करते है, अथवा अद्वैतवादियो के अनुसार कल्पान्त मे ब्रह्म के साथ एकत्व लाभ करते है। जो लोग सकाम भाव से सत्कार्य करते है वे मृत्यु के बाद चन्द्रलोक मे जाते है, वहाँ नाना

प्रकार के स्वर्ग हैं। वे वहाँ पर सूक्ष्मशरीर—देवशरीर प्राप्त करते हैं। वे देवता होकर वहाँ वास करते है और दीर्घ काल तक स्वर्ग के सुखों का उपभोग करते है। इस भोग का अन्त होने पर फिर उनका प्राचीन कर्म बलवान हो जाता है; अतः फिर उनका मर्त्यलोक मे पतन हो जाता है। वे सब वायुलोक, मेघलोक आदि लोकों के भीतर होकर आते है और अन्त मे वृष्टिधारा के साथ पृथ्वी पर गिर पड़ते है। वृष्टि के साथ गिर कर वे किसी शस्य का आश्रय ले कर रहते हैं। इसके बाद जब कोई व्यक्ति उस अन्न को खाता है तब उसकी औरस सन्तति मे वह जीवात्मा फिर शरीर धारण करता है। जो लोग अत्यंत दुष्ट है उनकी मृत्यु होने पर वे भूत अथवा दानव हो जाते हैं और चन्द्रलोक और पृथ्वी के बीच किसी स्थान मे वास करते है। उनमे से कोई कोई मनुष्यों के ऊपर बड़ा अत्याचार करते है और कोई कोई मनुष्यो से मैत्री भी कर लेते है। वे कुछ समय तक इसी स्थान मे रहकर फिर पृथ्वी पर आकर पशु-जन्म लेते है। कुछ समय पशु-देह मे रहकर वे फिर मनुष्यत्व लाभ करते है और फिर एक बार मुक्तिलाभ करने की उपयोगी अवस्था को प्राप्त करते है। तो हमने देखा कि जो लोग मुक्ति की निकटतम सीढ़ी पर पहुँच गये है, जिनके भीतर कम अपवित्रता रह गई है वे ही सूर्य की किरणों के सहारे ब्रह्मलोक मे जाते है। जो मध्य वर्ग के लोग हैं, जो स्वर्ग जाने की इच्छा से सत्कर्म करते है वे ही सब चन्द्रलोक मे जाकर वहाँ के स्वर्गों मे वास करते है और देवशरीर को भी प्राप्त करते है, किन्तु उन्हे मुक्तिलाभ करने के लिये फिर मनुष्य देह धारण करना पडता है। और जो अत्यन्त दुष्ट हैं वे भूत, दानव आदि रूप मे परिणत होते है, उसके बाद वे पशु होते है; और मुक्तिलाभ के लिये उन्हे फिर मनुष्यजन्म

ग्रहण करना पड़ता है। इस पृथ्वी को कर्मभूमि कहा जाता है। अच्छा बुरा सभी कर्म यहीं करना होता है। मनुष्य स्वर्गकाम होकर सत्कार्य करने पर स्वर्ग मे जाकर देवता हो जाता है; इस अवस्था मे वह कोई नया कर्म नहीं करता, केवल पृथ्वी पर किये हुये अपने सत्कर्मों का फल भोग करता है। और जब ये सत्कर्म समाप्त हो जाते है उसी समय जो असत् या बुरे कर्म उसने पृथ्वी पर किये थे उनका सञ्चित फल वेग के साथ उसके ऊपर आ जाता है और उसे वहाँ से फिर एक वार पृथ्वी पर घसीट लाता है। इसी प्रकार जो भूत हो जाते है वे उसी अवस्था मे कोई नूतन कर्म न करते हुए केवल भूत कर्म का फल भोग करते रहते है; उसके बाद पशुजन्म ग्रहण कर वहाँ भी कोई नया कर्म नहीं करते। उसके बाद वे भी फिर मनुष्य हो जाते है।

मान लो कि एक व्यक्ति ने जीवन भर अनेक बुरे काम किए किन्तु एक बहुत अच्छा काम भी किया। ऐसी दशा मे उस सत्कार्य का फल उसी क्षण प्रकाशित हो जायगा, और इस सत्कार्य का फल शेष होते ही बुरे कार्यों का फल भी उसे मिलेगा। जिन सब लोगो ने अनेक अच्छे अच्छे बडे बड़े कार्य किये है किन्तु उनके समस्त जीवन की गति अच्छी नही रही, वे सब देवता हो जायँगे। देवदेह से सम्पन्न होकर देवताओं की शक्ति का कुछ काल तक सम्भोग करके उन्हे फिर मनुष्य होना पड़ेगा। जिस समय सत्कर्मों की शक्ति क्षय हो जायगी उस समय फिर वही पुरातन असत्कार्यों का फल होने लगेगा। जो अत्यन्त बुरे कर्म करते है उन्हे भूतयोनि, दानवयोनि मे जाना पड़ेगा, और जब उनके बुरे कर्मों का फल समाप्त हो जायगा उस समय उनका जितना भी सत्कर्म शेष है उसके फल से वे फिर

मनुष्य हो जायँगे। जिस मार्ग से ब्रह्मलोक मे जाया जाता है, जहाँ से पतन अथवा प्रत्यावर्तन की सम्भावना नहीं रहती उसे देवयान कहते है, और चन्द्रलोक के मार्ग को पितृयान कहते हैं।

अतएव वेदान्त-दर्शन के मत मे मनुष्य ही जगत् मे सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और यह पृथ्वी ही सर्वश्रेष्ठ स्थान है, कारण कि एक मात्र यहीं पर मुक्त होने की सम्भावना है। देवता आदि को भी मुक्त होने के लिये मनुष्य-जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। इसी मानव-जन्म मे ही मुक्ति की सब से अधिक सुविधा है।

अब हम इसके विरोधी मत की आलोचना करेंगे। बौद्ध लोग इस आत्मा का अस्तित्व एकदम अस्वीकार करते है। वे कहते है कि शरीर और मन के पीछे आत्मा नामक एक पदार्थ है, यह मानने की क्या आवश्यकता है? इस शरीर और मन का यन्त्र स्वतःसिद्ध है, यह कहने से क्या यथेष्ट व्याख्या नहीं हो जाती? और एक तीसरे पदार्थ की कल्पना से क्या लाभ? यह युक्ति खूब प्रबल है। जितनी दूर तक अनुसन्धान किया जाय, यही मालूम होता है कि यह शरीर और मन का यन्त्र स्वतःसिद्ध है, और हममे से अनेक इस तत्व को इसी भाव से देखते है। तब फिर शरीर और मन के अतिरिक्त अथच शरीर और मन के आश्रयभूमि स्वरूप आत्मा नामक एक पदार्थ के अस्तित्व की कल्पना की आवश्यकता क्या है? बस शरीर और मन कहना ही तो पर्याप्त है; नियत परिणामशील जडस्रोत का नाम शरीर है और नियत परिणामशील चिन्तास्रोत का नाम मन है। तब जो एकत्व की प्रतीति हो रही है वह कैसे? बौद्ध कहते है कि यह एकत्व वास्तविक नहीं है। मान लो कि एक जलती मशाल को

घुमाया जा रहा है। घुमाने पर एक ही अग्नि का वृत्तस्वरूप या गोल आकार हो जायगा। वास्तव में कोई वृत्त है नहीं, किन्तु मशाल के नियमित घूमने से उसने यह वृत्त का आकार धारण कर लिया है। इसी प्रकार हमारे जीवन मे भी एकत्व नही है; जड़ की राशि क्रमागत रूप से चल रही है। सम्पूर्ण जड़राशि को एक कह कर संबोधित करने की इच्छा होगी तो कर सकते हो, किन्तु उसके अतिरिक्त वास्तव मे कोई एकत्व नहीं है। मन के सम्बन्ध मे भी यही बात है; प्रत्येक चिन्ता दूसरी चिन्ताओं से पृथक है। इस प्रबल चिन्तास्रोत मे ही इस भ्रमात्मक एकत्व का भाव रख दिया जाता है; अतएव फिर तीसरे पदार्थ की आवश्यकता क्या है? यह जो कुछ देखा जाता है, यह जड़स्रोत और यह चिन्तास्रोत—केवल इन्हीं का अस्तित्व है; इनके बाद और कुछ सोचने की आवश्यकता ही क्या है? अनेक आधुनिक सम्प्रदायों ने बौद्धों के इस मत को ग्रहण कर लिया है, किन्तु वे सभी इसे अपना अपना आविष्कार कह कर प्रतिपादित करना चाहते है। अधिकांश बौद्ध दर्शनो मे मोटी बात यही है कि यह दृश्यमान जगत् पर्याप्त है। इसके पीछे और कुछ है कि नहीं यह अनुसन्धान करने की बिलकुल ही आवश्यकता नहीं है। यह इन्द्रियग्राह्य जगत् ही सर्वस्व है—किसी वस्तु को इस जगत् के आश्रय रूप में कल्पना करने की आवश्यकता ही क्यो पड़ी? सब ही गुणसमष्टि है। ऐसे आनुमानिक पदार्थ की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है कि जिस मे वे सब गुण लगे रहे हो? पदार्थ का ज्ञान आता है केवल गुणराशि के वेग से स्थान-परिवर्तन के कारण, कोई अपरिणामी पदार्थ वास्तव मे इनके पीछे है, ऐसी बात नहीं। हम देखते हैं कि यह युक्ति अति प्रबल है और साधारण मनुष्य की अनुभूति के पक्ष मे खूब सहायक

हो जाती है। वास्तव में एक लाख मनुष्यों में एक व्यक्ति भी इस दृश्य जगत् से अतीत और किसी वस्तु की धारणा भी कर सकता है कि नहीं इसमें सन्देह है। अधिकांश लोगों के लिये प्रकृति नित्य-परिणामशील मात्र है। हम लोगों मे भी कम लोगों ने हमारे सब के पीछे स्थित उस स्थिर समुद्र का कुछ कुछ आभास भी पाया होगा। हमारे लिये यह जगत् केवल तरंगपूर्ण है। इस प्रकार हमे दो मत मिलते हैं। एक तो यह कि शरीर और मन के पीछे एक अपरिणामी सत्ता रहती है; दूसरा यह कि इस जगत् में निश्चलत्व नामक कुछ भी नहीं है, सब कुछ चञ्चल है, सभी कुछ परिणाम है, जो हो अद्वैत-वाद में ही इन दोनो मतो का सामञ्जस्य मिलता है।

अद्वैतवादी कहते हैं, 'जगत् का एक अपरिणामी आश्रय है'—द्वैतवादियो की यह बात सत्य है। किसी अपरिणामी पदार्थ की कल्पना किये बिना हम परिणाम की कल्पना कर ही नहीं सकते। किसी अपेक्षाकृत अल्पपरिणामी पदार्थ की तुलना मे किसी पदार्थ की परिणाम के रूप मे चिन्ता की जा सकती है, और उसकी अपेक्षा भी अल्प परिणामी पदार्थ के साथ तुलना मे उसे भी परिणामी रूप मे निर्देश किया जा सकता है जब तक कि एक पूर्ण अपरिणामी पदार्थ को बाध्य होकर स्वीकार न कर लिया जाय। यह जगत्-प्रपञ्च अवश्य ही एक ऐसी अवस्था में था जब यह स्थिर शान्त था; जब यह दो शक्तियो के सामञ्जस्य-रूप मे था अर्थात् जब वास्तव मे किसी भी शक्ति का अस्तित्व नही था; कारण, वैषम्य न होने पर शक्ति का विकास नहीं होता। यह ब्रह्माण्ड फिर उसी साम्यावस्था की प्राप्ति की ओर जा रहा है। यदि हमारा किसी विषय के सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान है, तो वह यही है।

द्वैतवादी जब कहते हैं कि कोई अपरिणामी पदार्थ है तब वह ठीक ही कहते हैं; किन्तु वह शरीर और मन से बिलकुल अतीत है, शरीर और मन से बिलकुल पृथक् है, यह कहना भूल है। बौद्ध लोग जो कहते है कि समुदय जगत् केवल परिणाम-प्रवाह मात्र है यह बात भी सत्य है; कारण, जब तक मै जगत् से पृथक हूँ; जब तक मै अपने अतिरिक्त और सभी कुछ देख रहा हूँ, मोटी बात है कि जब तक द्वैतभाव रहेगा; तब तक यह जगत् परिणामशील ही प्रतीत होगा। किन्तु वास्तविक बात यह है कि यह जगत् परिणामी भी है और अपरिणामी भी। आत्मा, मन और शरीर ये तीनो पृथक् वस्तुएँ नही है वरञ्च एक ही है। एक ही वस्तु कभी देह, कभी मन और कभी देह और मन से अतीत आत्मा प्रतीत होती है। जो शरीर की ओर देखते हैं व मन तक को भी नहीं देख सकते; जो मन को देखते है वे आत्मा को नही देख पाते; और जो आत्मा को देखते है उनके लिये शरीर और मन दोनो न जाने कहाँ चले जाते है! जो लोग केवल गति देखते है वे सम्पूर्ण स्थिर भाव को नही देख पाते, और जो इस सम्पूर्ण स्थिर भाव को देख पाते है उनके निकट गति न जाने कहॉ चली जाती है। सर्प मे रज्जु का भ्रम हुआ। जो व्यक्ति रज्जु मे सर्प ही देखता है उसके लिये रज्जु कहाँ चली जाती है, और जब भ्रान्ति दूर होकर वह व्यक्ति रज्जु ही देखता है तो फिर उसके लिये सर्प नही रहता।

तो हमने देखा कि वस्तु एक ही है और वही एक नाना रूप से प्रतीत होती है। इसको आत्मा कहे या वस्तु कहे या अन्य कुछ नाम दे, जगत् मे एकमात्र इसी का अस्तित्व है। अद्वैतवादियो की

भाषा मे यह आत्मा ही ब्रह्म है, जो केवल नानारूप उपाधिवश अनेक प्रतीत हो रहा है। समुद्र की तरङ्गो की ओर देखो; एक भी तरङ् समुद्र से पृथक् नही है। तब फिर तरङ्ग पृथक् क्यो प्रतीत होती है? नामरूप ने—तरङ्ग की आकृति और हमने जो इसे तरङ्ग नाम दे दिया है उसी ने उसे समुद्र से पृथक् कर दिया है। नामरूप के नष्ट हो जाने या चले जाने पर वह जो समुद्र था वही रह जाता है। तरंग और समुद्र के बीच कौन प्रभेद कर सकता है? अतएव यह समुदय जगत् एक स्वरूप हुआ। जितना भी पार्थक्य है वह सब नामरूप के ही कारण है। जिस प्रकार सूर्य लाखों जलकणो पर प्रतिबिम्बित होकर प्रत्येक जलकण के ऊपर सूर्य की एक सम्पूर्ण प्रतिकृति की सृष्टि कर देता है उसी प्रकार वही एक आत्मा, वही एक सत्ता विभिन्न वस्तुओ में प्रतिबिम्बित होकर नाना रूप मे दिखाई पड़ता है। किन्तु वास्तव मे वह एक है। वास्तव मे 'मै' अथवा 'तुम' नामक कुछ नहीं है—सब एक है। चाहे कहो—सभी मै हूँ, या कहो—सभी तुम हो। किन्तु यह द्वैतज्ञान बिलकुल मिथ्या है, और समुदय जगत् इसी द्वैतज्ञान का फल है। जब विवेक उदय होने पर मनुष्य देख पाता है कि दो वस्तुएँ नहीं है, एक ही वस्तु है, तब उसे बोध होता है कि वही स्वयं यह अनन्त ब्रह्माण्ड स्वरूप हो गया है। मैं ही यह परिवर्तनशील जगत् हूँ, और मै ही अपरिणामी, निर्गुण, नित्यपूर्ण नित्यानन्दमय हूँ।

अतएव नित्यशुद्ध, नित्य, पूर्ण अपरिणामी अपरिवर्तनीय एक आत्मा है; उसका परिणाम कभी नही होता, और ये सब विभिन्न परिणाम उसी एकमात्र आत्मा मे ही प्रतीत होते हैं। उसके ऊपर नामरूप

ने ये सब विभिन्न स्वप्नचित्र अङ्कित किये है। आकृति ने ही तरंग को समुद्र से पृथक् किया है। मान लो कि तरंगे मिल गईं, तब क्या यह आकृति रहेगी? नही, वह बिलकुल ही चली जायगी। तरंग का अस्तित्व पूर्ण रूप से समुद्र के अस्तित्व के ऊपर निर्भर रहता है; किन्तु समुद्र का अस्तित्व तरग के अस्तित्व के ऊपर निर्भर नहीं रहता। जब तक तरंग रहती है तब तक रूप भी रहता है, किन्तु तरंग की निवृत्ति होने पर वह रूप नहीं रह सकता। इसी नाम-रूप को माया कहते है। यह माया ही भिन्न व्यक्तियो का सृजन करके एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से पृथक् बोध करा रही है। किन्तु वास्तव में इसका अस्तित्व नहीं है। माया का अस्तित्व है यह नही कहा जा सकता। रूप या आकृति का अस्तित्व है यह नहीं कहा जा सकता, कारण, वह तो दूसरे के अस्तित्व पर निर्भर रहती है। और वह नहीं है यह भी नही कहा जा सकता, कारण, उसी ने तो यह सब भेद उत्पन्न किया है। अद्वैतवादियो के मत मे यही माया या अज्ञान या नामरूप अथवा योरोपीय लोगो के मत मे देश-काल-निमित्त ही इसी एक अनन्त सत्ता से इस विभिन्नरूप जगत् की सत्ता दिखा रहे हैं। परमार्थतः यह जगत् एक अखण्ड स्वरूप है; जब तक कोई दो वस्तुओ की कल्पना करता है तब तक वह भ्रम में है। जब वह जान जाता है कि एक मात्र सत्ता है तभी वह यथार्थ को जानता है। जितना ही समय बीतता जाता है उतना ही हमारे निकट यह सत्य प्रमाणित होता जाता है। क्या जड़ जगत् में, क्या मनोजगत् मे और क्या अध्यात्म जगत् मे, सभी जगह यह सत्य प्रमाणित हो रहा है। अब प्रमाणित हो गया है कि तुम, मैं, सूर्य, चन्द्र, तारे—ये सभी एक जड़ समुद्र के विभिन्न अंशों के नाम मात्र हैं। इस जड़राशि का क्रमागत परिणाम हो रहा है। जो शक्ति का कण कुछ मास

पहले सूर्य में था, हो सकता है कि आज वह मनुष्य के भीतर आगया हो, कल शायद वह पशु के भीतर और परसों शायद किसी उद्भिद के भीतर प्रवेश कर जायगा। आना जाना निरन्तर हो रहा है। यह सब एक ही अखण्ड जड़राशि है—केवल नामरूप से पृथक् पृथक् है। उसके एक बिन्दु का नाम सूर्य है, एक का नाम चन्द्र, एक का तारा, एक का मनुष्य, एक का पशु, एक का उद्भिद, इसी प्रकार और भी, और ये जो भिन्न भिन्न नाम हैं ये भ्रमात्मक हैं; कारण, इस जड़ राशि का क्रमागत परिवर्तन हो रहा है। इसी जगत् को एक दूसरे भाव से देखने पर यह एक विशाल चिन्ता-समुद्र के समान प्रतीत होगा जिसका एक एक बिन्दु एक एक मन है। तुम एक मन हो, मैं एक मन हूँ, प्रत्येक व्यक्ति केवल एक एक मन है। और इसी जगत् को ज्ञान की दृष्टि से देखने पर, अर्थात् जब आँखों पर से मोह का आवरण हट जाता है, जब मन शुद्ध हो जाता है तब वही नित्य शुद्ध, अपरिणामी, अविनाशी, अखण्ड पूर्ण स्वरूप पुरुष के रूप मे प्रतीत होगा। तब द्वैतवादियो का परलोकवाद—मनुष्य मरने के बाद स्वर्ग जाता है अथवा अमुक लोक मे जाता है, असत् लोक में भूत हो जाता है, उस के बाद पशु होता है—ये सब बाते क्या हुई? अद्वैतवादी कहते हैं—न कोई आता है न कोई जाता है—तुम्हारे लिये जाना आना किस तरह सम्भव है? तुम तो अनन्त स्वरूप हो; तुम्हे जाने के लिये स्थान कहाँ है?

किसी स्कूल में छोटे बच्चों की परीक्षा हो रही थी। परीक्षक इन छोटे छोटे बच्चो से कठिन कठिन प्रश्न कर रहे थे। उन्हीं प्रश्नों मे एक प्रश्न था कि "पृथ्वी गिरती क्यो नहीं?" प्रायः सभी बालक इस प्रश्न

को समझ नहीं सके और अपनी अपनी समझ से उल्टे सीधे उत्तर देने लगे। तब एक बुद्धिमती बालिका ने उसका उत्तर दे दिया। वह बोली—"पृथ्वी गिरेगी किस पर?" यह प्रश्न ही तो भूल है। जगत् में ऊँचा नीचा तो कुछ है नहीं। ऊँचा नीचा तो केवल आपेक्षिक ज्ञान मात्र है। आत्मा के सम्बन्ध में भी यही बात है। जन्म-मृत्यु का प्रश्न ही भूल है। कौन जाता है, कौन आता है? तुम कहाँ नही हो? वह स्वर्ग कहाँ है जहाँ तुम पहले से ही नही हो? मनुष्य का आत्मा सर्वव्यापी है। तुम कहाँ जाओगे? कहाँ नहीं जाओगे? आत्मा तो सब जगह है। अतएव पूर्ण रूप से जीवन्मुक्त व्यक्ति के लिये यह बालकों का सा स्वप्न, जन्म-मृत्यु के सम्बन्ध मे यह बालकों का सा भ्रम, स्वर्ग-नरक आदि का स्वप्न—सभी कुछ एकदम अन्तर्हित हो जाता है, जिनके भीतर कुछ अज्ञान अवशिष्ट है उनको वह नाना प्रकार के ब्रह्मलोक पर्यन्त दृश्य दिखा कर अन्तर्हित हो जाता है और अज्ञानियो के लिये वह रह जाता है।

समस्त जगत्, स्वर्ग जायँगे, मरेंगे, पैदा होंगे—इन सब बातों पर विश्वास क्यों करता है? मैं एक पुस्तक पढ़ रहा हूँ, उसके पृष्ठ पर पृष्ठ पढ़े जा रहे है और उलटे जा रहे हैं। एक पृष्ठ आया, उलट दिया गया। परिणाम किसका हो रहा है? कौन आ जा रहा है? मै नहीं, केवल इस पुस्तक के पन्ने उलटे जारहे है। समस्त प्रकृति आत्मा के सम्मुख रक्खी एक पुस्तक के समान है। उसका एक के बाद दूसरा अध्याय पढ़ा जा रहा है, उलटा जा रहा है, और प्रति बार एक नूतन दृश्य सामने आ रहा है। पढ़ने के बाद इसे भी उलट दिया गया। फिर एक नया अध्याय सामने आया; किन्तु आत्मा जो

था वही है—अनन्तस्वरूप। परिणाम प्रकृति का हो रहा है आत्मा का नहीं। उसका कभी भी परिणाम नहीं होता। जन्म मृत्यु प्रकृति मे है, तुममे नहीं। तथापि अज्ञ लोक भ्रान्त हो कर सोचते हैं, हम मर रहे है, जी रहे है, प्रकृति नहीं; ठीक उसी तरह जैसे हम भ्रान्तिवश समझते है कि सूर्य चल रहा है, पृथ्वी नही। अतः यह सब भ्रान्ति ही है, जैसे रेलगाडी पर बैठ कर भ्रमवशातः उसे चलती हुई न समझकर खेत आदि को चलायमान समझते है। जन्म और मृत्यु की भ्रान्ति भी ठीक ऐसी ही है। जब मनुष्य किसी विशेष भाव में रहता है तब वह इसे पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारा आदि के रूप मे देखता है; और जितने मनुष्य इस मनोभाव से युक्त हैं वे सब इसी रूप में देखते है। मेरे तुम्हारे बीच लाखो जीव हो सकते है जो विभिन्न प्रकृतिसम्पन्न है। वे हमे कभी न देख पायेंगे और हम भी उन्हे कभी नही। हम एक ही प्रकार की चित्तवृत्ति सम्पन्न प्राणी को देख पाते है। जिन वाद्य-यन्त्रों में एक ही प्रकार का कम्पन है, उनमे से एक के बजने पर बाकी सब बजेगे। मान लो कि हम अब जिस प्राण-कम्पन से युक्त है, उसे हम मानव-कम्पन नाम से पुकार सकते है; यदि यह परिवर्तित हो जाय तो अब यहाँ मनुष्य दिखाई नहीं पड़ेंगे; उसके बदले मे और ही अनुरूप दृश्य हमारे सामने आ जायँगे—या तो देव जगत् और देवतादि आयेंगे अथवा दुष्ट मनुष्यों के लिये दानव और दानव जगत्; किन्तु ये सब एक ही जगत् के विभिन्न भाव मात्र हैं। यह जगत् मानव दृष्टि से पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, तारा आदि रूप मे और दानवो की दृष्टि से देखने पर यही नरक या शास्तिस्थान के रूप मे प्रतीत होगा और जो स्वर्ग जाना चाहते है उन्हें स्वर्ग के रूप मे प्रतीत होगा। जो व्यक्ति आजीवन यह सोचता रहा कि मै स्वर्ग मे सिंहासन

पर बैठे हुए ईश्वर के निकट जा कर सारा जीवन उनकी उपासना करूँगा, उसकी मृत्यु होने पर वह अपने चित्त में स्थित इसी विषय को देखेगा। यह जगत् ही उसके लिये एक बृहत् स्वर्ग मे परिणत हो जायगा; वह देखेगा कि नाना प्रकार की अप्सराये, किन्नर आदि उडते फिर रहे है और देवता लोग सिंहासनों पर बैठे है। स्वर्ग आदि समस्त ही मनुष्य कृत है। अतएव अद्वैतवादी कहते है— द्वैतवादियों की बात तो सत्य ही है, परन्तु यह सब उनका अपना ही बनाया हुआ है। ये सब लोक, ये सब दैत्य, पुनर्जन्म आदि सभी रूपक (Mythology) है, और मानवजीवन भी ऐसा ही है। ये सब रूपक हों और मानव जीवन सत्य हो, यह नही हो सकता। मनुष्य सर्वदा यही भूल करता है। अन्यान्य वस्तुओ को—जैसे स्वर्ग नरक आदि को रूपक कहने से उसकी समझ मे आता है किन्तु अपने अस्तित्व को वह कभी भी रूपक स्वीकार करना नहीं चाहता। यह दृश्यमान जगत् सभी रूपक मात्र है और सब से बड़ा मिथ्या ज्ञान यह है कि हम शरीर है जो हम न कभी थे, न कभी हो सकते है। हम केवल मनुष्य है, यह एक भयानक असत्य है। हमी जगत् के ईश्वर है। ईश्वर की उपासना करके हमने सदा अपने अव्यक्त आत्मा की ही उपासना की है। तुम जन्म से ही दुष्ट और पापी हो यह सोचना ही सब से बड़ी मिथ्या बात है। जो स्वयं पापी है वह केवल दूसरों को पापी ही देखते है। मान लो कि एक बच्चा यहाँ है और सोने की मोहरों की एक थैली तुम यहाँ मेज पर रख देते हो। मान लो कि एक चोर आया और थैली ले गया। बच्चे की दृष्टि मे थैली का रखा जाना और चोरी हो जाना—दोनों ही समान हैं। उसके भीतर चोर नहीं है इसलिये वह बाहर भी चोर नही देखता। पापी और दुष्ट मनुष्य ही

बाहर पाप देख पाता है, किन्तु साधु मनुष्य को उसका बोध नहीं होता। अत्यन्त असाधु पुरुष इस जगत् को नरक स्वरूप देखते हैं; मध्यम श्रेणी के लोग इसे स्वर्गस्वरूप देखते हैं; और जो पूर्ण सिद्ध पुरुष है वे इसे साक्षात् भगवान के रूप में ही देखते हैं। बस, तभी उनके नेत्रों का आवरण हट जाता है, और तब वे ही व्यक्ति पवित्र और शुद्ध होकर देख पाते है कि उनकी दृष्टि बिलकुल बदल गई है। जो दुःस्वप्न उन्हे लाखों वर्षों से पीड़ित कर रहे थे वे सब एकदम समाप्त हो जाते हैं, और जो अपने को इतने दिन मनुष्य, देवता, दानव, आदि समझ रहे थे, जो अपने को कभी ऊपर, कभी नीचे, कभी पृथ्वी पर, कभी स्वर्ग मे अथवा कभी, किसी और स्थान में स्थित समझते थे वे देख पाते है—वे वास्तव मे सर्वव्यापी है, वे काल के अधीन नहीं हैं, काल उनके अधीन है, समस्त स्वर्ग उनके भीतर है, वे स्वयं किसी स्वर्ग मे अवस्थित नहीं हैं—और मनुष्य ने किसी काल के जिस किसी देवता की उपासना की है वे सब उसके भीतर ही है, वह किसी देवता के अन्दर अवस्थित नहीं है; वह देव, असुर, मानुष, पशु, उद्भिद, प्रस्तर आदि का सृष्टिकर्ता है, और उस समय मनुष्य का स्वरूप उसके निकट इस जगत् से श्रेष्ठतर होकर, स्वर्ग से भी श्रेष्ठतर और सर्वव्यापी आकाश से भी अधिक सर्वव्यापी रूप मे प्रकाशित होता है। उसी समय मनुष्य निर्भय हो जाता है, उसी समय मनुष्य मुक्त हो जाता है। उस समय सब भ्रान्ति दूर हो जाती है, सभी दुःख दूर हो जाते हैं, सभी भय एक बार में ही चिर काल के लिये समाप्त हो जाते हैं। तब जन्म न जाने कहाँ चला जाता है और उसके साथ मृत्यु भी चली जाती है; दुःख भी चला जाता है और उसके साथ

सुख भी चला जाता है। पृथिवी उड़ जाती है और उसके साथ साथ स्वर्ग भी उड़ जाता है; शरीर चला जाता है, उसके साथ मन भी चला जाता है। उस व्यक्ति की दृष्टि मे यह समस्त जगत् ही मानों अव्यक्त भाव धारण कर लेता है। यह जो शक्तियों का निरन्तर संग्राम, निरन्तर संघर्ष है यह सब एकदम स्थगित हो जाता है, और जो शक्ति और भूत रूप में, प्रकृति की विभिन्न चेष्टाओ के रूप मे प्रकाशित हो रहा था, जो स्वयं प्रकृति रूप मे प्रकाशित हो रहा था, जो स्वर्ग, पृथिवी, उद्भिद, पशु, मनुष्य, देवता आदि के रूप मे प्रकट हो रहा था, वही समस्त एक अनन्त, अच्छेद्य, अपरिणामी सत्ता के रूप में परिणत हो जाता है; और ज्ञानी पुरुष देख पाते है कि वे उस सत्ता से अभिन्न है। " जिस प्रकार आकाश मे नाना वर्ण के मेघ आकर कुछ देर खेल फिर अन्तर्हित हो जाते हैं, " उसी प्रकार इस आत्मा के सम्मुख पृथ्वी, स्वर्ग, चन्द्रलोक, देवता, सुख, दु:ख आदि आते है; किन्तु वे उसी अनन्त, अपरिणामी, नीलवर्ण आकाश को हमारे सम्मुख छोड़कर अन्तर्हित हो जाते हैं। आकाश का कभी भी परिणाम नहीं होता, परिणाम केवल मेघ का ही होता है। भ्रम के कारण ही हम सोचते है कि हम अपवित्र है, हम सान्त है। हम जगत् से पृथक् हैं। प्रकृत मनुष्य यही एक अखण्ड सत्ता रूप है।

यहाँ पर दो प्रश्न उठते है। पहला यह है कि "क्या अद्वैत ज्ञान की उपलब्धि सम्भव है? अब तक तो सिद्धान्त की बात हुई; क्या उसकी अपरोक्षानुभूति सम्भव है?" हाँ बिलकुल सम्भव है। ऐसे अनेक व्यक्ति संसार में इस समय भी जीवित है जिनका अज्ञान

सदा के लिये चला गया है। तो क्या इन लोगों की, सत्य ज्ञान की प्राप्ति होने के बाद तुरन्त ही मृत्यु हो जाती है? हम जितनी जल्दी समझते हैं उतनी जल्दी नही। मान लो, दो पहिये जो एक लकड़ी से जुड़े हुए है साथ साथ चल रहे है। अब यदि मै एक पहिये को पकड़ कर बीच की लकड़ी को काट दूँ तो जिस पहिये को मैंने पकड़ रखा है वह तो रुक जायगा; किन्तु दूसरा पहिया, जिसमे पहले का वेग अभी है, कुछ दूर और चल कर गिर पड़ेगा। पूर्ण शुद्ध स्वरूप आत्मा मानो एक पहिया है और शरीर मन आदि रूप भ्रान्ति दूसरा पहिया; और कर्म रूपी काष्ठ दण्ड द्वारा ये दोनो जुड़े हुए है। ज्ञान ही मानो कुठार है जो इस संयोग-दण्ड को काट देता है। जब आत्मा रूपी पहिया रुक जायगा, तब आत्मा, आ रहा है जा रहा है अथवा उसका जन्म और मृत्यु हो रहा है, इस प्रकार के सभी अज्ञान के भावो का त्याग कर देगा, और प्रकृति के साथ उसका सयुक्त भाव एवं अभाव, वासना—सब चला जायगा; तब आत्मा देख सकेगा कि वह पूर्ण है, वासना रहित है। किन्तु शरीर और मन के पहिये मे अभी प्राक्तन कर्मों का वेग रहेगा। इसलिये जब तक यह कर्मों का वेग पूरी तरह समाप्त नही होगा तब तक शरीर और मन रहेगे ही; यह वेग समाप्त हो जाने पर इनका भी पतन हो जायगा, तब आत्मा मुक्त होगा। तब फिर स्वर्गलोक जाना स्वर्ग से पृथिवी पर लौटना यहाँ तक कि ब्रह्मलोक जाना तक स्थागित हो जायगा; कारण वह (आत्मा) कहाँ से आयेगा, कहाँ जायेगा? जिन व्यक्तियो ने इस जीवन मे ही इस अवस्था को प्राप्त किया है, जिन्हे अन्ततः एक मिनट के लिये भी यह संसार का दृश्य बदल कर सत्य का आभास

मिला है उन्हे जीवन्मुक्त के नाम से पुकारते है। यही जीवन्मुक्त अवस्था लाभ करना वेदान्ती का लक्ष्य है।

एक बार मैं पश्चिमी भारत मे हिन्दमहासागर के तटवर्ती मरुदेश में भ्रमण कर रहा था। वहुत दिन तक निरन्तर पैदल भ्रमण करता रहा। किन्तु यह देख कर मुझे महान् आश्चर्य होता था कि चारों ओर सुन्दर सुन्दर झीलें हैं और झीलों के चारो ओर वृक्ष-लताएँ है और उनकी सुखद शीतल छाया जल मे पड़ रही है। कैसे अद्भुत दृश्य थे वे ! और लोग इसे रेगिस्तान कहते है ! एक मास तक वहाँ मैं घूमता रहा और प्रतिदिन ही मुझे वे सुन्दर दृश्य दिखाई दिये। एक दिन मुझे वड़ी प्यास लग रही थी और मैने सोचा कि वहाँ एक झील पर जाकर प्यास वुझा लूँ। अतएव मै इन सुन्दर निर्मल तालावों में से एक की ओर अग्रसर हुआ। जैसे ही मैं वहाँ पहुँचा कि वह सव दृश्य न जाने कहाँ लुप्त हो गया। और तव मेरे मन मे यह ज्ञान हुआ कि 'जीवन भर जिस मरीचिका की वात पुस्तकों में पढ़ता रहा हूँ यह वही मरीचिका है।' और उसके साथ साथ यह ज्ञान भी हुआ कि 'इस पिछले मास भर प्रतिदिन मै मरीचिका ही देखता रहा हूँ, किन्तु मैंने कभी न जाना कि यह मरीचिका है।' इसके वाद फिर दूसरे दिन मैंने चलना प्रारम्भ किया। फिर वही सुन्दर दृश्य दिखने लगे, किन्तु उसके साथ साथ यह ज्ञान भी होने लगा कि यह सममुच झील नहीं है, मरीचिका है। इस जगत् के सम्वन्ध में भी यही वात है। हम प्रति दिन, प्रति मास, प्रति वर्ष इस जगत् रूपी मरुस्थल मे भ्रमण कर रहे है, किन्तु मरीचिका को मरीचिका नहीं समझ पाते हैं। एक दिन यह मरीचिका अदृश्य हो जायगी, किन्तु

फिर आ जायगी। शरीर पूर्वकृत कर्म के अधीन रहेगा इसीलिये यह मरीचिका फिर लौट आयेगी। जब तक हम कर्म से बँधे हुए है तब तक जगत् हमारे सम्मुख आयेगा ही। नर, नारी, पशु, उद्भिद, आसक्ति, कर्तव्य—सभी कुछ आयेगा किन्तु पहले की तरह हमारे ऊपर इसकी शक्ति का प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसी नवीन ज्ञान के प्रभाव से कर्म की शक्ति का नाश होगा, उसका विष का दाँत टूट जायगा; जगत् हमारे सम्मुख एकदम बदल जायगा; कारण, जैसे जगत् दिखाई देगा वैसे ही उसके साथ सत्य और मरीचिका के भेद का ज्ञान भी आयेगा।

उस समय यह जगत् पहले का सा जगत् नहीं रहेगा। किन्तु इस प्रकार के ज्ञान की साधना मे एक विपदाशङ्का है। हम देखते है कि प्रत्येक देश मे लोग यही वेदान्त का मत ग्रहण करके कहते है, "मै धर्माधर्म से अतीत हूँ, मै विधि-निषेध से परे हूँ, अत: मेरी जो इच्छा होगी वही मै करूँगा।" इसी देश में देखो, अनेक अज्ञानी कहते रहते हैं, "मैं बद्ध नही हूँ, मे स्वय ईश्वर स्वरूप हूँ; मेरी जो इच्छा होगी वही करूँगा।" यह ठीक नही है यद्यपि यह बात सच है कि आत्मा भौतिक, मानसिक और नैतिक सभी प्रकार के नियमो से अतीत है। नियम के अन्दर बन्धन हैं, नियम के बाहर मुक्ति। यह भी सच है कि मुक्ति आत्मा का जन्मगत स्वभाव है, यह उसका जन्मप्राप्त स्वत्व है और आत्मा का वास्तविक मुक्त स्वभाव भौतिक आवरण के भीतर से मनुष्य की आपातप्रतीयमान स्वतन्त्रता के रूप मे प्रतीत होता है। अपने जीवन के प्रतिक्षण में तुम अपने को मुक्त अनुभव करते हो। हम अपने को मुक्त अनुभव बिना किये एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते,

बोल नहीं सकते और श्वास-प्रश्वास भी नहीं ले सकते। किन्तु फिर कुछ देर विचार करने पर यह भी प्रमाणित हो जाता है कि हम एक यन्त्र के समान है, मुक्त नहीं। तब कौन सी बात सत्य मानी जाय? "हम मुक्त है" यह धारणा ही क्या-भ्रमात्मक है? एक पक्ष कहता है कि 'मै मुक्त स्वभाव हूँ' यह धारणा भ्रमात्मक है, दूसरा पक्ष कहता है कि 'मै बद्धभावापन्न हूँ' यह धारणा ही भ्रमात्मक है। तब यह दो प्रकार की अनुभूति कहाँ से आती है? मनुष्य वास्तव मे मुक्त है; मनुष्य परमार्थतः जो है वह मुक्त के अतिरिक्त और कुछ हो ही नही सकता, किन्तु जैसे ही वह माया के जगत् मे आता है, जैसे ही वह नामरूप के भीतर पड़ जाता है, वैसे ही वह बद्ध हो जाता है। 'स्वाधीन इच्छा' यह कहना ही भूल है। इच्छा कभी स्वाधीन हो ही नही सकती। कैसे होगी? जो प्रकृत मनुष्य है वह जब बद्ध हो जाता है तभी उसकी इच्छा की उत्पत्ति होती है, उससे पहले नहीं।

मनुष्य की इच्छा बद्ध है, किन्तु जो इसका मूल है वह तो सदा ही मुक्त है। अतएव बन्धन की दशा मे भी, चाहे वह मनुष्य-जीवन हो, चाहे देव-जीवन हो, चाहे स्वर्ग मे हो, चाहे पृथिवी पर, फिर भी हमारे अन्दर उस विधिप्रदत्त अधिकार स्वरूप स्वतन्त्रता या मुक्ति की स्मृति रहती ही है। और जानबूझ कर या अनजाने ही हम सब इस मुक्ति की ओर अग्रसर हो रहे हैं। मनुष्य जब मुक्त हो जाता है तब किस प्रकार नियम मे बद्ध रह सकता है? जगत् का कोई भी नियम उसे बाँध नही सकता। कारण, यह विश्वब्रह्माण्ड उसीका तो है। और वह उस समय समुदय विश्वब्रह्माण्डस्वरूप ही

है। चाहे हम कहें कि वही समुदय जगत् है, या कहें—उसके लिये जगत् का अस्तित्व ही नहीं है। तब उसके लिये लिंग देश आदि छोटे छोटे भाव किस प्रकार सम्भव हैं ? वह कैसे कहेगा—मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं बालक हूँ ? क्या यह सब मिथ्या नहीं है ? उसने जान लिया है कि यह सब मिथ्या है। तब वह किस तरह कहेगा—यह पुरुष का अधिकार है, यह स्त्री का अधिकार है ? किसी का कुछ अधिकार नहीं है, किसी का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। पुरुष भी नहीं है, स्त्री भी नहीं है, आत्मा लिंगहीन है, नित्यशुद्ध। मैं पुरुष या स्त्री हूँ यह कहना और मैं अमुक देशवासी हूँ यह कहना केवल मिथ्यावाद है। सभी देश मेरे हैं, समस्त जगत् मेरा है; कारण, समस्त जगत् के द्वारा मैंने मानो अपने को ढक लिया है, समस्त जगत् ही मानो मेरा शरीर हो गया है। किन्तु हम देखते हैं कि बहुत से लोग विचार करते समय ये सब बातें कह कर काम के समय सभी प्रकार के अपवित्र काम करते हैं; और यदि हम उनसे पूछें कि 'क्यों तुम ऐसा कर रहे हो' तो वे उत्तर देंगे, 'यह तुम्हारी बुद्धि का ही भ्रम है। हमारे द्वारा कोई अन्याय होना असम्भव है।' इन सब लोगों की परीक्षा करने का क्या उपाय है ? उपाय यही है कि—

यद्यपि सत् और असत् दोनो एक ही आत्मा के आंशिक प्रकाश मात्र हैं तथापि असद्भाव ही आत्मा का वाह्य आवरण है, और 'सत्' भाव मनुष्य के वास्तविक स्वरूप आत्मा के अपेक्षाकृत अधिक निकट का आवरण है। जब तक मनुष्य असत् का स्तर भेद नहीं कर लेता तब तक वह सत् के स्तर पर नहीं पहुंच सकता; और जब तक वह सत् और असत् दोनों के स्तर को

भेद नहीं करता तब तक वह आत्मा के निकट पहुँच नहीं सकता। आत्मा के निकट पहुँचने के बाद उसके लिये फिर क्या रह जाता है? अत्यन्त सामान्य कर्म, भूत जीवन के कार्य का अति सामान्य वेग ही शेष रह जाता है, किन्तु यह वेग भी शुभ कर्मों का ही वेग है। जब तक असद्वेग एकदम समाप्त नहीं हो जाता, जब तक पहले की अपवित्रता बिलकुल दग्ध नहीं हो जाती तब तक कोई व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार तथा प्राप्ति नहीं कर सकता। अतएव जो लोग आत्मा के निकट पहुँच गये हैं, जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है उनके केवल गत जीवन के शुभ संस्कार, शुभ वेग अवशिष्ट रह जाते हैं। शरीर मे वास करते हुए भी, एवं अनवरत कर्म करते हुए भी वे केवल सत्कर्म ही करते हैं; उनके मुख से सभी के प्रति केवल आशीर्वाद ही निकलता है, उनके हाथ केवल सत्कार्य ही करते हैं, उनका मन केवल सच्चिन्ता ही कर सकता है, उनकी उपस्थिति ही, चाहे वे कहीं भी जायँ सभी जगह मानवजाति के लिये महाकल्याण करनेवाली होती है। इस प्रकार के व्यक्ति के द्वारा क्या कोई बुरा कार्य सम्भव है? याद रखिये, 'प्रत्यक्षानुभूति' में और 'केवल मुख से कहने' में बड़ा अन्तर है! अज्ञानी व्यक्ति भी नाना प्रकार की ज्ञान की बातें कहते है। तोता भी इसी तरह बका करते हैं। मुँह से कहना और बात है और अनुभव करना और बात। दर्शन, मतामत, विचार, शास्त्र, मन्दिर, सम्प्रदाय आदि कोई भी बुरा नही है। किन्तु प्रत्यक्षानुभूति होने पर इन सब की आवश्यकता नही रहती। नक़्शा अच्छी वस्तु है, परन्तु नक़्शे मे अंकित देश स्वयं देख कर आने के बाद यदि उसी नक्शे को फिर से देखो तो कितना अन्तर दिखाई पड़ेगा! अतएव जिसने सत्य को प्रत्यक्ष कर लिया है उसे फिर

समझने के लिये न्याय-युक्ति, तर्क–वितर्क आदि का आश्रय नहीं लेना पड़ता। उसके लिये तो सत्य अन्तरात्मा के मर्म मर्म में प्रविष्ट हो गया है– प्रत्यक्ष का भी प्रत्यक्ष हो गया है। वेदान्तियों की भाषा मे कहे तो कहेंगे कि वह उसके लिये करामलकवत् हो गया है। प्रत्यक्ष उपलब्धि करने वाले लोग निःसंकोच भाव से कह सकते हैं, 'यही आत्मा है।' तुम उनके साथ कितना ही तर्क क्यों न करो, वे तुम्हारी बात पर केवल हँसेगे, वे उसे अण्ड वण्ड वकवास ही समझेगे। बालक चाहे कुछ भी बोले उससे वे कुछ कहते नहीं। वे तो सत्य की उपलब्धि करके भरपूर हो गये हैं। मान लो कि तुम एक देश देख कर आये हो और कोई व्यक्ति तुम्हारे पास आकर यह तर्क करने लगे कि उस देश का कहीं अस्तित्व ही नही है; इसी तरह वह व्यक्ति तर्क करता जाता है, किन्तु उसके प्रति तुम्हारा भाव यही होगा कि वह पागलखाने मे भेज देने के योग्य है। इसी प्रकार जो धर्म की प्रत्यक्ष उपलब्धि कर चुके है वे कहते है कि "जगत् मे धर्म सम्बन्धी जो बाते सुनी जाती है वे सब केवल बालको की बाते है। प्रत्यक्षानुभूति ही धर्म का सार है।" धर्म की उपलब्धि की जा सकती है। प्रश्न यह है कि क्या तुम इसके अधिकारी हो चुके हो? क्या तुम्हे धर्म की वास्तव में आवश्यकता है? यदि तुम ठीक ठीक चेष्टा करो तो तुम्हें प्रत्यक्ष उपलब्धि होगी, और तभी तुम वास्तव मे धार्मिक होओगे। जब तक यह उपलब्धि तुम्हे नहीं होती तब तक तुममे और नास्तिक में कोई भेद नहीं। नास्तिक तो फिर भी निष्कपट होते है, किन्तु जो कहता है कि 'मैं धर्म मे विश्वास करता हूँ' और उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति की चेष्टा कभी नहीं करता वह निश्चय ही निष्कपट नहीं है।

इसके बाद फिर प्रश्न उठता है— उपलब्धि के बाद क्या होता है ? मान लो कि हमने जगत् का यही अखण्ड भाव (हम ही एक मात्र अनन्त पुरुष है यह भाव) उपलब्ध किया; मान लो कि हमने जान लिया कि आत्मा ही एक मात्र है और वह विभिन्न रूप से प्रकाशित हो रहा है; इस प्रकार जान लेने के बाद हमारा क्या होता है ? तब क्या हम निश्चेष्ट होकर एक कोने मे बैठ कर मर जाते है ? इसके द्वारा जगत् का क्या उपकार होगा ? वही प्राचीन प्रश्न फिर घूम कर आता है ! पहले तो इसके द्वारा जगत् का उपकार होगा ही क्यों ? इसके लिये भी कोई युक्ति है ? लोगों को यह प्रश्न करने का अधिकार ही क्या है कि इससे जगत् का क्या भला होगा ? इसका अर्थ क्या है ?—छोटे छोटे बच्चे मिठाई पसन्द करते है। मान लो कि तुम विद्युत् के विषय मे गवेपणा कर रहे हो। बच्चा तुम से पूछता है, 'इससे क्या मिठाई खरीदी जाती है ?' तुमने कहा—'नही।' 'तो इससे क्या लाभ ?' तत्वज्ञान की आलोचना मे व्यस्त देख कर भी लोग इसी प्रकार की जिज्ञासा करते है, 'इससे जगत् का क्या उपकार होगा ? क्या इससे हमें रुपया मिलेगा ?' 'नहीं।' 'तो फिर इससे क्या लाभ है ?' उपकार का अर्थ लोग इतना ही समझते है। तो भी धर्म की इस प्रत्यक्ष अनुभूति से जगत् का पूर्ण उपकार होता है। लोगो को भय लगता है कि जब वे यह अवस्था प्राप्त करेगे, जब उन्हे ज्ञान होगा कि सभी एक है तब उनके प्रेम का स्रोत सूख जायगा; जीवन मे जो कुछ मूल्यवान है वह सब चला जायगा; इस जीवन मे और पर जीवन मे जो कुछ भी उन्हे प्रिय है वह सब उनके लिये कुछ भी न रहेगा। किन्तु लोग यह बात एक बार सोच कर भी नहीं देखते कि जो सब व्यक्ति अपने सुख की चिन्ता की ओर से उदासीन

हो गये हैं वे ही जगत् में सर्वश्रेष्ठ कर्मी हो गये हैं। मनुष्य तभी वास्तव मे प्रेम करता है जब वह देख पाता है कि उसके प्रेम का पात्र कोई क्षुद्र मर्त्य जीव नही है। मनुष्य तभी वास्तविक प्रेम कर सकता है जब वह देख पाता है कि उसके प्रेम का पात्र एक मिट्टी का ढेला नहीं किन्तु स्वयं भगवान् है। स्त्री स्वामी से और अधिक प्रेम करेगी यदि वह समझेगी कि स्वामी साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं। स्वामी भी स्त्री से अधिक प्रेम करेगा यदि वह जानेगा कि स्त्री स्वयं ब्रह्मस्वरूप है। वे मातायें भी सन्तान से अधिक स्नेह करेंगी जो सन्तान को ब्रह्म-स्वरूप देखेगी। वे ही लोग अपने महान् शत्रुओं से भी प्रेमभाव रक्खेगे जो जानेगे कि ये शत्रु साक्षात् ब्रह्मस्वरूप है। वे ही लोग साधु व्यक्तियों से प्रेम करेंगे जो समझेगे कि साधु व्यक्ति साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं। वे ही लोग अत्यन्त असाधु व्यक्तियो से भी प्रेम करेंगे जो यह जान लेगे कि इन महा दुष्टों के भी पीछे वही प्रभु विद्यमान है। जिनका क्षुद्र अहंकार एकदम मर चुका है और उसके स्थान पर ईश्वर ने अधिकार जमा लिया है वे ही लोग जगत् को इशारे पर चला सकते है। उनके लिये समस्त जगत् दूसरा ही रूप धारण कर लेता है। दु:खकर अथवा क्लेशकर जो कुछ भी है वह सब उनकी दृष्टि में चला जाता है; सभी प्रकार का गोलमाल और द्वन्द्व मिट जाता है। उनके लिये जगत् उस समय कारागार स्वरूप न रह कर (जहाँ हम प्रति-दिन एक टुकड़ा रोटी के लिये झगड़ा, मारपीट करते हैं) हमारे क्रीडाक्षेत्र के रूप में बदल जायगा। उस समय जगत् बड़े ही सुन्दर रूप में परिणत हो जायगा। इसी प्रकार के व्यक्ति को यह कहने का अधिकार है कि—'यह जगत् कितना सुन्दर है!' उन्हीं को यह कहने का भी अधिकार है कि सभी मंगल स्वरूप है। इस प्रकार की

प्रत्यक्ष उपलब्धि होने से जगत् का यह महान् हित होगा कि जगत् का यह सब विवाद, गोलमाल सब दूर होकर शान्ति का राज्य होगा। यदि जगत् के सभी मनुष्य आज इस महान् सत्य के एक विन्दु की भी उपलब्धि कर सकें तो उनके लिये यह समस्त जगत् एक दूसरा ही रूप धारण कर लेगा और यह सब गोलमाल समाप्त हो कर शान्ति का राज्य आ जायगा। यह घिनौनी तथा अमानुषिक जल्दबाज़ी, यह स्पर्धा, जो हमें अन्य सभो के आगे बढ़ निकलने के लिये बाध्य करती है, इस संसार से उठ जायगी। इसके साथ साथ सब प्रकार की अशान्ति, घृणा, ईर्ष्या एवं सभी प्रकार का अशुभ सदा के लिये चला जायगा। उस समय देवता लोग इसी जगत् मे वास करेंगे। उस समय यही जगत् स्वर्ग हो जायगा। और जब देवता देवता में खेल होगा, देवता का देवता से कार्य होगा, देवता देवता में प्रेम होगा तब क्या अशुभ ठहर सकता है? ईश्वर की प्रत्यक्ष उपलब्धि का यही एक बड़ा सुफल है। समाज मे आप जो कुछ भी देखते है वह सभी उस समय परिवर्तित होकर एक दूसरा रूप धारण कर लेगा। तब आप मनुष्य को खराब समझ कर नही देखेंगे; यही प्रथम महालाभ है। उस समय आप लोग किसी अन्य अन्याय कार्य करने वाले दरिद्र नर-नारी की ओर घृणापूर्वक दृष्टिपात नहीं करेंगे। हे महिलागण, फिर आप, जो दुखिया कामिनी रात भर रास्ते मे भटकती फिरती है, उसके प्रति घृणा पूर्वक दृष्टिपात न करेंगी; कारण, आप वहाँ भी साक्षात् ईश्वर को देखेंगी। तब आप मे ईर्ष्या अथवा दूसरों पर शासन करने का भाव उदय नहीं होगा; यह सब चला जायगा उस समय प्रेम इतना प्रबल हो जायगा कि मानव जाति को सत्पथ पर चलाने के लिये फिर चाबुक की आवश्यकता नहीं रहेगी।

यदि संसार के नरनारियों के लाखवें भाग का एक भाग भी बिल्कुल चुप रह कर एक क्षण के लिये भी कहे,—" तुम सभी ईश्वर हो; हे मानवगण, हे पशुओ, हे सभी प्रकार के जीवित प्राणियो! तुम सभी एक जीवन्त ईश्वर के प्रकाश हो," तो आधे घण्टे के अन्दर ही समस्त जगत् का परिवर्तन हो जायगा। उस समय चारों ओर घृणा का बीज न फैला कर, ईर्ष्या और असत् चिन्ता का प्रवाह न फैला कर सभी देशो के लोग सोचेगे कि सभी 'वह' है। जो कुछ तुम देख रहे हो या अनुभव कर रहे हो, वह सब वही है। तुम्हारे भीतर अशुभ न रहने पर तुम अशुभ किस तरह देखोगे? तुम्हारे भीतर ही यदि चोर नहीं है तो तुम किस प्रकार चोर को देखोगे? तुम स्वयं यदि खूनी नहीं हो तो किस प्रकार खूनी को देख सकते हो? साधु हो जाओ, तो असाधुभाव तुम्हारे अन्दर से एक दम चला जायगा। इसी प्रकार समस्त जगत् का परिवर्तन हो जायगा, यही समाज का महान् लाभ है। मनुष्य के पक्ष मे यह महान् लाभ है। इन्हीं सब भावों को भारत मे प्राचीन काल मे अनेक महात्माओ ने आविष्कृत और कार्य रूप मे परिणत किया था। किन्तु आचार्यों की सकीर्णता तथा देश की पराधीनता आदि कारणो से यह सब चिन्ता चारो ओर प्रचार न पा सकी। ऐसा होने पर भी ये सब महान् सत्य है। जहाँ भी इन विचारों का प्रभाव पड़ा है वही मनुष्य ने देवत्व को प्राप्त किया है। इसी प्रकार के एक देवतास्वरूप मनुष्य के द्वारा मेरा समस्त जीवन परिवर्तित हो गया है; इस सम्बन्ध मे आगामी रविवार को मैं आप से कुछ कहूँगा। इस समय यही सब भाव जगत् मे प्रचार करने का समय आ गया है। मठों मे आबद्ध न रह कर, केवल पण्डितो के पढ़ने के लिये दार्शनिक पुस्तक-समूह मे आबद्ध न रह

कर, केवल कुछ सम्प्रदायों के अथवा कुछ पण्डितों के एकमात्र अधिकार मे न रह कर इसका समस्त जगत् मे प्रचार होगा जिससे यह साधु, पापी, आबालवृद्धवनिता, शिक्षित, अशिक्षित सभी की साधारण सम्पत्ति हो सके। तब ये सब भाव जगत् की वायु मे खेलेंगे और हम जो वायु श्वास-प्रश्वास द्वारा ले रहे हैं वह प्रत्येक ताल पर बोलेगी—'तत्त्वमसि', यह असंख्य चन्द्र-सूर्य-पूर्ण ब्रह्माण्ड वाक्योच्चारण करने वाले प्रत्येक पदार्थ के भीतर से बोल उठेगा—'तत्त्वमसि'!

---

५. माया और ईश्वरधारणा का क्रमविकास

हमने देखा कि अद्वैत वेदान्त की एक मूलभित्ति स्वरूप मायावाद अस्पष्ट रूप से संहिताओ मे भी देखा जाता है, और उपनिषदो मे जिन तत्त्वों को खूब परिस्फुट रूप मिल गया है वे सभी संहिताओ मे अस्पष्ट रूप से किसी न किसी आकार मे विद्यमान है। आप मे से बहुत से लोग अब मायावाद के तत्त्व को सम्पूर्ण रूप से समझ गये होंगे या समझ सकेंगे; प्रायः लोग भ्रान्तिवशतः माया को 'भ्रम' कह कर व्याख्या करते हैं, अतएव वे जब जगत् को माया कह कर पुकारते है तब उसे भी भ्रम ही कह कर व्याख्या करनी पड़ेगी। माया को 'भ्रम' के अर्थ मे लेना ठीक नहीं है। माया कोई विशेष मत नहीं है, वह तो केवल विश्वब्रह्माण्ड के स्वरूप का वर्णन मात्र है। उसी माया को समझने के लिये हमे संहिता तक जाना पडेगा और प्रथम माया का क्या अर्थ था, उसके सम्बन्ध मे क्या धारणा थी यह भी देखना पड़ेगा। हम देख चुके हैं, लोगों मे देवताओ का ज्ञान किस रूप मे आया। हमे समझना होगा कि ये देवता पहले केवल शक्तिशाली पुरुष मात्र थे। आप लोगों मे से बहुत से यह पढ़कर कि ग्रीक, हिब्रू, पारसी अथवा अन्य जातियों के प्राचीन शास्त्रों में देवता लोग हमारी दृष्टि मे जो सब कार्य अत्यन्त घृणित है वे करते थे,

भयभीत हो जाते है; किन्तु हम एक दम भूल जाते हैं कि हम लोग उन्नीसवी शताब्दी के हैं और देवता अनेक सहस्र वर्ष पहले के जीव थे; और हम यह भी भूल जाते हैं कि इन सब देवताओं के उपासक लोग उनके चरित्र मे कुछ भी असंगत देख नही पाते थे और वे जिस प्रकार से उन देवताओ का वर्णन करते थे उससे उन्हें कुछ भी भय नही होता था, कारण वे सब देवता उन्ही के समान थे। हम लोगो को आजीवन यह बात सीखनी होगी कि प्रत्येक व्यक्ति के बारे मे उसी के आदर्शों के अनुसार विचार करना होगा, दूसरो के आदर्शों के अनुसार नही। ऐसा न करके हम दूसरों को अपने आदर्शों की दृष्टि से देखते है। यह ठीक नहीं। हमारे आसपास रहने वाले सभी लोगो के साथ व्यवहार करने मे हम सदा यही भूल करते है, और मेरे मतानुसार, दूसरों के साथ हमारा जो कुछ भी वाद-विवाद होता है वह सब इसी एक कारण से होता है कि हम दूसरो के देवता को अपने देवता के द्वारा, दूसरों के आदर्शों को अपने आदर्शों के द्वारा और दूसरो के उद्देश्य को अपने उद्देश्य के द्वारा विचार करने की चेष्टा करते है। विशेप विशेष अवस्थाओ में हो सकता है कि मैं कोई विशेप कार्य करूँ, और जब मै देखता हूँ कि अन्य व्यक्ति वही कार्य कर रहा है तो मै सोच लेता हूँ कि उसका भी वही उद्देश्य है; मेरे मन मे यह बात एक वार भी नहीं उठती कि यद्यपि फल एक हो सकता है तथापि भिन्न भिन्न सहस्रो कारण वही एक फल उत्पन्न कर सकते है। मै जिस कारण से उस कार्य को करने मे प्रवृत्त होता हूँ, अन्य सब लोग उसी कार्य को अन्य उद्देश्यों से कर सकते है। अतएव इन सब प्राचीन धर्मों के ऊपर विचार करते समय हम जिस भाव से दूसरो के सम्बन्ध मे सोचते है वैसा न करें

वरञ्च हम अपने को प्राचीन समय के लोगों की स्थिति में रख कर विचार करें।

ओल्ड टेस्टामेण्ट (Old Testament) में निष्ठुर जिहोवा के वर्णन से बहुत से लोग भयभीत हो उठते हैं, परन्तु क्यों? लोगों को यह कल्पना करने का क्या अधिकार है कि प्राचीन यहूदियों का जिहोवा हमारी कल्पना के ईश्वर के समान होगा? और हमें यह भी न भूलना चाहिये कि हमारे बाद जो लोग आयेंगे वे जिस तरह प्राचीन धर्म या ईश्वर की धारणा के ऊपर हँसते हैं उसी तरह वे हमारे धर्म अथवा ईश्वर की धारणा के ऊपर हँसेंगे। यह सब होने पर भी इन सब विभिन्न ईश्वर सम्बन्धी धारणाओं का संयोग करने वाला एक स्वर्णसूत्र है और वेदान्त का उद्देश्य है इस सूत्र का आविष्कार करना। भगवान् कृष्ण ने कहा है—"भिन्न भिन्न मणियाँ जिस प्रकार एक सूत्र में गुँथी हुई रहती हैं उसी प्रकार इन सब विभिन्न भावों के भीतर भी एक सूत्र रहता है।" और आज कल की धारणाओं के अनुसार यह कितना ही वीभत्स, भयानक अथवा अरुचिकर क्यों न मालूम पड़े, वेदान्त का कर्तव्य इन सभी धारणाओं तथा सभी वर्तमान धारणाओं के भीतर इस संयोगसूत्र का आविष्कार करना है। प्राचीन काल की अवस्था को लेकर विचार करने पर वे विचार अधिक संगत मालूम पड़ते हैं और ऐसा लगता है कि हमारी सभी धारणाओं से अधिक वीभत्स वे नहीं थीं। उनकी वीभत्सता हमारे सामने तभी प्रकाशित होती है जब हम उस प्राचीन समाज की अवस्था और लोगों के नैतिक भाव को, जिनके भीतर इन सब देवताओं का भाव विकसित हुआ था, उनसे पृथक करके देखते हैं। कारण, प्राचीन काल

की सामाजिक अवस्था आजकल नहीं है। जिस प्रकार प्राचीन यहूदी आज के तीक्ष्णबुद्धि यहूदी मे परिणत हो गया है, जिस प्रकार प्राचीन आर्य आज के बुद्धिमान हिन्दू मे परिणत हो गया है उसी प्रकार जिहोवा की और देवताओं की भी क्रमोन्नति हुई है। हम इतनी ही भूल करते है कि हम उपासक की क्रमोन्नति तो स्वीकार करते हैं, परन्तु ईश्वर की नहीं। उपासकों की उन्नति के नाम पर हम उनकी जो प्रशंसा करते है उसे भी ईश्वर को हम देना नहीं चाहते। तात्पर्य यह कि हम तुम जिस प्रकार किसी विशेप भाव के प्रकाशक होने के कारण उस भाव की उन्नति के साथ साथ उन्नत होते है, उसी प्रकार देवता भी विशेप विशेष भाव के द्योतक होने के कारण भाव की उन्नति के साथ साथ उन्नत होते है। आप शायद यही आश्चर्य करेंगे कि देवता और ईश्वर की भी कही उन्नति होती है? तो हम भी कह सकते हैं कि मनुष्य की भी उन्नति होती है क्या? आगे चलकर हम देखेंगे कि इस मनुष्य के भीतर जो प्रकृत मनुष्य है वह अचल, अपरिणामी, शुद्ध और नित्यमुक्त है। जिस प्रकार यह मनुष्य उस वास्तविक मनुष्य की छाया मात्र है उसी प्रकार हमारी ईश्वर-धारणाएँ केवल हमारे मन की सृष्टि है—वे उसी प्रकृत ईश्वर का आंशिक प्रकाश, आभास मात्र है। इस समस्त आंशिक प्रकाश के पीछे प्रकृत ईश्वर है और वह नित्य शुद्ध, अपरिणामी है। किन्तु यह सब आंशिक प्रकाश सर्वदा ही परिणामशील है—वे उनके अन्तरालस्थ सत्य की क्रमाभिव्यक्ति मात्र है; वही सत्य जब अधिक परिमाण मे अभिव्यक्त होता है तब उसे उन्नति और जब उसका अधिकांश आवृत या अनभिव्यक्त रहता है तब उसे अवनति कहते हैं। इसी प्रकार जैसे हमारी उन्नति होती है वैसे ही देवताओ की भी होती है।

सीधे ढंग से कहे तो जिस प्रकार हमारी उन्नति होती है, जिस प्रकार हमारा स्वरूप प्रकाशित होता है उसी प्रकार देवता भी अपना स्वरूप प्रकाशित करते रहते हैं।

•

अब हम मायावाद को समझ सकेगे। संसार के सभी धर्मों ने इस प्रश्न को उठाया है—संसार मे इतना असामञ्जस्य क्यों है? संसार मे इतना अशुभ क्यों है? किन्तु हम धर्मभाव के प्रथम आविर्भाव के समय इस प्रश्न को उठते नही देखते; इसका कारण यह है कि शायद आदि मनुष्य को जगत् का असामञ्जस्य दिखाई नहीं पड़ता था, उसके चारों ओर कोई असामञ्जस्य नही था, किसी प्रकार का मतविरोध नही था, भले बुरे की कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं थी। केवल उसके हृदय में दो वस्तुओ का संग्राम हो रहा था। एक कहती थी—यह करो, और दूसरी उसी को करने का निषेध करती थी। प्राथमिक मनुष्य भावनाओं के दास थे। उनके मन मे जो आता था वे वही करते थे। वे इन भावनाओं के सम्बन्ध मे विचार करने तथा उनका संयम करने की चेष्टा बिलकुल ही नहीं करते थे। इन सब देवताओं के सम्बन्ध मे भी यही बात है; ये लोग भी उपस्थित प्रवृत्तियों के आधीन थे। इन्द्र आये और उन्होंने दैत्यबल को छिन्न भिन्न कर दिया। जिहोवा किसी के प्रति सन्तुष्ट थे तो किसी से रुष्ट थे, क्यो, यह कोई भी नहीं जानता था, जानना भी नही चाहता था। इसका कारण, उस समय अनुसन्धान की प्रवृत्ति ही लोगो मे नहीं जागी थी, इसलिये वे जो कुछ भी करते थे वही ठीक था। उस समय भले बुरे की कोई धारणा ही नहीं थी। हम जिन्हे बुरा कहते हैं ऐसे बहुत से कार्य देवता लोग करते थे; हम वेदो मे

देखते है, इन्द्र तथा अन्य देवता अनेक बुरे कार्य करते थे, किन्तु इन्द्र के उपासकों की दृष्टि मे पाप या बुरा काम कुछ भी नहीं था, इसलिये वे इस सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं करते थे।

नैतिक भाव की उन्नति के साथ साथ मनुष्य के मन में एक युद्ध प्रारम्भ हुआ; मनुष्य के अन्दर मानों एक नई इन्द्रिय का आविर्भाव हुआ। भिन्न भिन्न भाषाओं और भिन्न भिन्न जातियो ने इसको भिन्न भिन्न नाम दिये; कोई कहते है यह ईश्वरी वाणी है, कोई कहते हैं वह पहले की शिक्षा का फल है। जो भी हो, उसने प्रवृत्तियो को दमन करने वाली शक्ति के रूप में काम किया। हमारे मन की एक प्रवृत्ति कहती है, यह काम करो, दूसरी कहती है, मत करो। हमारे भीतर कितनी ही प्रवृत्तियॉ है जो इन्द्रियों के द्वारा बाहर जाने की चेष्टा करती रहती है। और उनके पीछे चाहे कितना ही क्षीण क्यो न हो, और एक स्वर कहता है—बाहर मत जाना। इन दो बातो के संस्कृत नाम है प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रवृत्ति ही हमारे सभी कर्मों का मूल है। निवृत्ति से धर्म की उत्पत्ति है। धर्म आरम्भ होता है-इस "मत करना" से; आध्यात्मिकता भी इस "मत करना" से ही आरम्भ होती है। जहॉ यह "मत करना" नहीं है वहाँ धर्म का आरम्भ ही नहीं हुआ ऐसा समझो। यह जो "मत करना" है, यहीं निवृत्ति का भाव आगया। और निरन्तर युद्ध मे रत पाशवीप्रकृति देवताओ के बावजूद भी मनुष्य की धारणा उन्नत होने लगी।

अब मनुष्य के हृदय मे प्रेम ने प्रवेश किया। अवश्य ही इसकी मात्रा बहुत थोड़ी थी और आज भी यह मात्रा

अधिक बढी नही है। पहले पहल यह प्रेम जाति तक सीमित रहा। ये सब देवता केवल अपने सम्प्रदाय मात्र से प्रेम करते थे। प्रत्येक देवता एक जातीय देवमात्र था, केवल उसी जाति-विशेप का रक्षक मात्र था। और जिस प्रकार भिन्न भिन्न देशों के विभिन्न वशीय लोग अपने को उस एक विशेप पुरुप का वंशज कहते है जो उस वश के प्रतिष्ठाता होते हैं, उसी प्रकार कभी कभी किसी जाति के लोग अपने के एक देवता का वशधर समझते थे। प्राचीन काल में अनेक जातियॉ थीं और आज भी हैं जो अपने को चन्द्रवंशी या सूर्यवंशी कहती हैं। सस्कृत के प्राचीन ग्रन्थो मे आपने बड़े बड़े सूर्यवशी वीर सम्राटो की कथाये पढ़ी होगी। ये लोग पहले चन्द्र-सूर्य के उपासक थे; बाद मे ये अपने को चन्द्र और सूर्य का वंशज कहने लगे। अत: जब यह जातीय भाव आने लगा तब किंचित् प्रेम जागा, परस्पर एक दूसरे के प्रति एक कर्तव्य-भाव भी आया और कुछ सामाजिक शृंखला की उत्पत्ति हुई; और इसी के साथ साथ यह भावना भी आने लगी कि हम एक दूसरे का दोष सहन या क्षमा बिना किये कैसे एक साथ रह सकेगे? मनुष्य किस प्रकार अन्तत: कभी न कभी अपनी प्रवृत्तियो का बिना संयम किये दूसरो के साथ, यहॉ तक कि एक व्यक्ति के साथ भी रह सकता है? यह असम्भव है। इसी प्रकार संयम की भावना आयी। इसी सयम की भावना में सम्पूर्ण समाज गुँथा हुआ है, और हम जानते हैं कि जो नर-नारी इस सहिष्णुता या क्षमा रूपी शिक्षा से रहित है वे अत्यन्त कष्ट में जीवन बिता रहे हैं।

अतएव जब इस प्रकार धर्म का भाव आया तब मनुष्य के मन मे एक उच्चतर अपेक्षाकृत अधिक नीतिसगत भाव का आभास

आया। तब वे अपने उन्हीं प्राचीन देवताओं में—चञ्चल, लड़ाकू, शराबी, गोमांसाहारी देवताओं मे—जिनको जले मांस की गन्ध से और तीव्र सुरा की आहुति से ही परम आनन्द होता था—कुछ असंगति देखने लगे। दृष्टान्त स्वरूप देखिये—वेद में वर्णन आता है कि कभी कभी इन्द्र इतना मद्यपान कर लेता था कि वह बेहोश होकर गिर पड़ता था और अण्ड बण्ड बकने लगता था। इस प्रकार के देवताओं मे लोगों का विश्वास स्थापित रखना अब असम्भव हो गया। तब सभी के उद्देश्यों की खोज आरम्भ हो गई थी और देवताओं के कार्यों के उद्देश्य भी पूछे जाने लगे। अमुक देवता के अमुक कार्य का क्या उद्देश्य है? कोई उद्देश्य नहीं मिला। अतएव लोगो ने उन सब देवताओं का त्याग कर दिया, अथवा वे देवताओ के विषय मे और भी उच्च धारणाये बनाने लगे। उन्होने देवताओं के उन सब गुणों तथा कार्यों को, जिन्हे वे समझ सकते थे या अच्छा समझते थे, एकत्रित किया और जिन कार्यों को उन्होने अच्छा नही समझा अथवा समझा ही नहीं, उन्हे भी अलग कर दिया; और इनमें से जो अच्छे कार्यों का समूह था उसे उन्होंने 'देव-देव' नाम दिया। तब उनके उपास्य देवता केवल शक्ति के परिचायक मात्र नही रहे, शक्ति से अधिक और भी कुछ उनके लिये आवश्यक होगया। अब वे नीतिपरायण देवता हो गये; वे मनुष्यों से प्रेम करने लगे, मनुष्यों का हित करने लगे। किन्तु देवता सम्बन्धी धारणा फिर भी अक्षुण्ण रही। वे लोग देवता की नीतिपरायणता तथा शक्ति को ही बढा सके। अब विश्व मे वे एक देवता सर्वश्रेष्ठ नीतिपरायण तथा एक प्रकार से सर्वशक्तिमान पुरुष माने जाने लगे।

किन्तु यह जोड़-गाँठ कब तक चल सकती है ? जिस प्रकार जगत् के रहस्य की व्याख्या सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती गई उसी प्रकार यह रहस्य मानों और भी रहस्यमय होता गया। देवता अथवा ईश्वर के गुण जिस प्रकार समयुक्तान्तर श्रेणी (Arithmetical progression) के नियम से बढ़ने लगे उसी प्रकार सन्देह भी समगुणितान्तर श्रेणी (Geometrical progression) के नियम से बढने लगे। निष्ठुर जिहोवा के साथ जगत् का सामञ्जस्य स्थापित करने मे जो कठिनता होती थी उससे अधिक कठिनता होने लगी ईश्वरसम्बन्धी नवीन धारणा के साथ जगत् का सामञ्जस्य स्थापित करने में। सर्वशक्तिमान और प्रेममय ईश्वर के राज्य मे ऐसी पैशाचिक घटनाये क्यों घटती हैं ? सुख की अपेक्षा दुःख इतना अधिक क्यों है ? साधु भाव जितना है, असाधुभाव उससे अधिक क्यों है ? जगत् में कुछ भी खराबी नही है ऐसा समझ कर हम ऑखे बन्द करके बैठे रह सकते है; किन्तु इससे जगत् की वीभत्सता में तो कुछ परिवर्तन होता नही। यदि इसे हम बहुत अच्छे शब्दों में कहे तो कह सकते है कि यह जगत् टैण्टालस के नरक* के समान है; उससे यह किसी अंश मे उत्कृष्ट नहीं। प्रबल प्रवृत्तियॉ, इन्द्रियों को चरितार्थ करने की सभी वासनायें विद्यमान हैं, परन्तु उनकी पूर्ति करने का उपाय नहीं है। हमारी इच्छा के विरुद्ध हमारे अन्दर एक

* ग्रीक लोगों की एक पौराणिक कथा है कि टैण्टालस नामक राजा पाताल के एक तालाब में गिर गया था। तालाब का जल उसके होठों तक आता था, परन्तु जैसे ही वह अपनी प्यास बुझाने का प्रयत्न करता था वैसे ही जल कम हो जाता था। उसके सिर के ऊपर नाना प्रकार के फल लटकते थे, और जैसे ही वह इन्हें खाना चाहता था वे ग़ायब हो जाते थे।

तरंग उठती है जो हमें आगे बढ़ने को बाध्य करती है, परन्तु जैसे ही हम एक पाँव आगे बढ़ाते हैं वैसे ही एक धक्का लगता है। हम सब टैण्टालस की भाँति इस जगत् मे जीवित रहने को और मरने को मानो विधि-विधान से अभिशप्त हैं। पंचेन्द्रिय द्वारा सीमाबद्ध जगत् से अतीत आदर्श हमारे मस्तिष्क मे आते है किन्तु बहुत सी चेष्टायें करने के बाद हम देखते है कि उन्हें हम कभी भी कार्य रूप मे परिणत नही कर सकते। इसके विरुद्ध हम अपने आस पास की अवस्था की चक्की में पिस कर चूर चूर हो कर परमाणुओं में परिणत हो जाते है। और यदि हम आदर्शप्राप्ति की चेष्टा का परित्याग करके केवल सांसारिक भाव को लेकर रहने की चेष्टा करते हैं तो भी हमे पशुजीवन विताना पड़ता है और हमारी अवनति हो जाती है। अतएव किसी ओर भी सुख नहीं है। जो लोग इस जगत् मे जिस अवस्था में उत्पन्न हुए हैं उसी अवस्था मे रहना चाहते है, तो उनके भाग्य में भी दुःख ही है। और जो लोग सत्य के लिये—इस पाशविक जीवन से कुछ उन्नत जीवन के लिये—प्राण देने को आगे बढ़ते हैं उन्हें सहस्र गुना दुःख होता है। यही वस्तुस्थिति है और इसकी कोई व्याख्या भी नहीं है, व्याख्या हो भी नही सकती। किन्तु वेदान्त इससे बाहर निकलने का मार्ग बतलाता है। याद रखिये कि ये सब बाते बोलते समय मुझे ऐसी अनेक बातें कहनी पड़ेंगी जिनसे आपको कुछ भय लगेगा। किन्तु जो कुछ मै कह रहा हूँ उसे आपने याद रखा, भलीभाँति हजम किया और दिन रात चिन्तन किया तो यह आपके अन्दर बैठ जायगी, आपकी उन्नति करेगी और सत्य को समझने तथा सत्य मे प्रतिष्ठित होने मे आपको समर्थ करेगी।

यह बात कोई मतविशेष नही है कि यह जगत् टैण्टालस का नरक है। यह एक सत्य है। हम जगत् के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते, परन्तु हम यह भी नही कह सकते कि हम कुछ नहीं जानते। इस जगत्-शृंखला का अस्तित्व है यह हम नहीं कह सकते, और जब हम उसके सम्बन्ध मे चिन्ता करने लगते है तब हम देखते है कि हम कुछ भी नहीं जानते। यह हमारे मस्तिष्क का पूर्ण भ्रम हो सकता है। शायद मै केवल स्वप्न देख रहा हूँ। मै स्वप्न देख रहा हूँ कि मै आप से बाते कर रहा हूँ और आप मेरी बात सुन रहे है। कोई भी इसके विरुद्ध प्रमाण नहीं दे सकता कि यह स्वप्न नहीं है। 'मेरा मस्तिष्क' यह भी तो एक स्वप्न हो सकता है, और वास्तविक बात यह है कि अपना मस्तिष्क देखा किसने है? वह तो हमने केवल मान लिया है। सभी विषयों के सम्बन्ध मे यही बात है। शरीर हमारा है यह भी तो हम मान ही लेते है, और यह भी नहीं कह सकते कि हम नहीं जानते। ज्ञान और अज्ञान के बीच की यह अवस्था, यह रहस्यमय पहेली, यह सत्य और मिथ्या का मिश्रण—कहाँ जाकर इनका मिलन हुआ कौन जानता है? हम स्वप्न मे विचरण कर रहे है—अर्ध निद्रित, अर्ध जाग्रत—जीवनभर एक पहेली में आबद्ध, यही हममे से प्रत्येक की दशा है! सभी प्रकार के इन्द्रियज्ञान की यह दशा है। सब दर्शनों की, विज्ञान की, सब प्रकार के मानवीय ज्ञान की—जिनको लेकर हमे इतना अहङ्कार है उन सबकी भी यही दशा है—यही परिणाम है; यही ब्रह्माण्ड है।

चाहे पदार्थ कहो, या भूत कहो, मन कहो या आत्मा कहो, बात एक ही है—हम यह नहीं कह सकते कि ये सब है और यह भी

नहीं कह सकते कि ये सब नहीं है। हम उन सबको एक भी नहीं कह सकते, अनेक भी नहीं कह सकते। यह प्रकाश और अन्धकार का खेल—यह नाना प्रकार की दुर्बलता—अविविक्त, अपृथक, अविभाज्य—सदा ही रही है, इसमे सभी घटनाये कभी सत्य मालूम होती हैं, कभी मिथ्या। कभी लगता है कि हम जाग्रत है, कभी लगता है सोये हुये है। यही माया है और यही वस्तुस्थिति है। इसी माया मे हमारा जन्म हुआ है, इसी मे हम जीवित हैं; इसी मे हम चिन्ता करते हैं, इसी मे हम स्वप्न देखते हैं। इसी माया मे हम दार्शनिक है, इसी मे साधु है; यही नहीं, हम इसी माया मे कभी दानव और कभी देवता हो जाते है। चिन्ता के रथ पर चढ़ कर चाहे कितनी ही दूर क्यों न जाओ, अपनी धारणा को ऊँचे से ऊँचा बनाओ, उसे अनन्त या जो इच्छा हो नाम दो, फिर भी यह सब माया के ही भीतर है। इसके विपरीत हो ही नहीं सकता; और मनुष्य का समस्त ज्ञान—केवल इसी माया के साधारण भाव का आविष्कार करना, उसका वास्तविक रूप जानना है। यह माया नामरूप का कार्य है। जिस किसी वस्तु की आकृति है, जो कुछ भी तुम्हारे मन मे किसी प्रकार के भाव का उद्दीपन करने वाला है, वही माया के अन्तर्गत है। जर्मन दार्शनिक भी कहते हैं—सभी कुछ देशकालनिमित्त के अधीन है, और यही माया है।

अब हम फिर उस ईश्वर-धारणा के सम्बन्ध मे क्या हुआ इस पर विचार करेंगे। इसके पहले संसार की अवस्था का जो चित्र खीचा गया है उससे सहज ही समझ मे आजाता है कि पूर्वोक्त ईश्वर की धारणा हो ही नहीं सकती—अर्थात् उन एक ईश्वर की जो अनंत काल से हमें प्यार कर रहे है (प्यार हमारी धारणा के अनुसार)— उन

एक अनंत सर्वशक्तिमान और नि:स्वार्थ पुरुष की जो इस विश्व का शासन कर रहे है। इस सगुण ईश्वर की धारणा के विरुद्ध खड़े होने के लिये कवि का साहस आवश्यक है। कवि पूछता है—तुम्हारा न्यायशील दयालु ईश्वर कहाँ है ? वह मनुष्य है अथवा पशु ? क्या वह अपनी लाखों सन्तान का विनाश नहीं देखता ? कारण, ऐसा कौन है जो एक क्षण भी दूसरे की हिंसा किये बिना जीवन धारण कर सकता है ? क्या आप सहस्रों जीवनों का संहार किये बिना एक साँस भी ले सकते है ? लाखों जीव मर रहे है, इसी से आप जीवित हैं। आपके जीवन का प्रति क्षण, प्रत्येक नि:श्वास जो आप लेते है वह सहस्रों जीवों की मृत्युस्वरूप है और आपकी प्रत्येक गति लाखों जीवों की मृत्युस्वरूप है। वे क्यों मरे ? इस सम्बन्ध मे एक अति प्राचीन अयुक्तिपूर्ण दलील दी जाती है कि—"वे तो अति नीच जीव है।" मान लो कि यह बात ठीक है, किन्तु यह तो एक टेढा प्रश्न है जिसका निश्चय करना ही कठिन है। कौन कह सकता है कि चींटी मनुष्य से श्रेष्ठ है अथवा मनुष्य चींटी से ? कौन कह सकता है कि यह ठीक है या वह ठीक है ? मनुष्य घर बना सकता है, यन्त्र बना सकता है, इसलिये वही श्रेष्ठ है। परन्तु हम इसी तरह यह भी तो कह सकते हैं कि चींटी घर नहीं बना सकती, यन्त्र नहीं बना सकती इसीलिये वह श्रेष्ठ है। जिस प्रकार इस पक्ष में कोई युक्ति नहीं है उसी प्रकार उस पक्ष मे भी कोई युक्ति नहीं है।

अच्छा, मान लिया कि वे अति क्षुद्र जीव हैं, फिर भी वे मरे क्यों ? उनके क्षुद्र होने से ही तो उनका बचना और भी आवश्यक है। वे क्यों न बचें ? उनका जीवन अधिकतर इन्द्रियों में आबद्ध है

अतः वे हमारी तुम्हारी अपेक्षा सहस्रगुना दुःख-सुख का बोध करते हैं। कुत्ता या व्याघ्र जिस स्फूर्ति और लगन के साथ भोजन करते हैं उस तरह कौन मनुष्य कर सकता है? इसका कारण है कि हमारी समस्त कार्यों की प्रवृत्ति इन्द्रियो मे नहीं है, बुद्धि में है, आत्मा मे है। किन्तु कुत्ते की इन्द्रियों मे ही प्राण पड़े रहते है, वह इन्द्रियसुख के लिये उन्मत्त हो जाता है, वह जितने आनन्द के साथ इन्द्रियसुख का उपभोग करता है, मनुष्य उतना नही कर सकता; और जैसा उसका यह सुख है उसी परिमाण मे उसका दुःख भी है।

जितना सुख है उतना ही दुःख है। यदि मनुष्येतर प्राणी इतनी तीव्रता से सुख की अनुभूति करते हैं तो यह भी सत्य है कि उनके दुःख की अनुभूति भी उतनी ही अधिक तीव्र होगी—मनुष्य की अपेक्षा सहस्रगुनी तीव्र होगी, परन्तु फिर भी उन्हे मरना होगा! तो फिर मरने मे भी उन्हे मनुष्य की अपेक्षा सहस्रगुना कष्ट होगा। फिर भी हमे उनके कष्ट की चिन्ता न करते हुये उन्हे मारना पडता है। यही तो माया है; और यदि हम मान ले कि ईश्वर हमारी ही तरह का एक व्यक्ति है (सगुण) जिसने यह सृष्टि रची है तो ये सब सिद्धान्त और व्याख्यायें जो यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि बुराई में ही भलाई छिपी रहती है, ये सब पर्याप्त नहीं हैं। उपकार चाहे सैकड़ो हो किन्तु अपकारों से उपकार क्यों होंगे? इस सिद्धान्त के अनुसार मै यदि अपनी इन्द्रियों के सुख के लिये दूसरों का गला काटूँ तो कोई बुराई नहीं है। अतएव यह युक्ति ठीक नही मालूम होती। बुराई मे से भलाई क्यो निकलेगी? इस प्रश्न का उत्तर देना होगा। किन्तु इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है; यह बात भारतीय दर्शन को माननी पड़ी।

वेदान्त अन्य सभी धर्मों और सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक साहस के साथ सत्य का अन्वेषण करने मे अग्रसर हुआ है। वेदान्त ने बीच मे ही किसी जगह पहुँच कर अपने अनुसन्धान को स्थगित नहीं किया, और उसको अग्रसर होने मे एक सुविधा भी प्राप्त थी। वह यह कि वेदान्त धर्म के विकास के समय पुरोहित सम्प्रदाय ने सत्यान्वेषियो का मुख बन्द करने की चेष्टा नहीं की। धर्म मे पूर्ण स्वाधीनता थी। उन लोगों की संकीर्णता थी सामाजिक प्रणाली मे। यहाँ (इंग्लैण्ड मे) समाज खूब स्वाधीन है। भारतवर्ष मे सामाजिक स्वाधीनता नही थी किन्तु धार्मिक स्वाधीनता थी। इस देश मे कोई चाहे जैसी पोशाक पहने अथवा जो इच्छा हो करे, उससे कोई कुछ न कहेगा; किन्तु चर्च मे यदि कोई एक दिन भी न जाय तो तरह तरह की बाते उठ खड़ी होती है। सत्य की चिन्ता करते समय उसे हजार बार सोचना पड़ेगा कि समाज क्या कहता है। दूसरी ओर भारतवर्ष मे यदि कोई इतर जाति के हाथ का खाना खा लेता है तो तुरन्त ही समाज उसे जातिच्युत कर देता है। पूर्व पुरुप जैसी पोशाक पहनते थे उससे ज़रा भी पृथक पोशाक पहनते ही बस, उसका सर्वनाश हो जाता है। मैने यहाँ तक सुना है कि एक व्यक्ति प्रथम बार रेलगाड़ी देखने गया था, इसीलिये जातिच्युत कर दिया गया! मान लो कि यह घटना सत्य नही है, किन्तु यह सच है कि हमारे समाज की यही गति है। किन्तु धर्म के विषय मे देखता हूँ कि—नास्तिक, बौद्ध, जडवादी—सभी प्रकार के धर्म, सभी प्रकार के मतमतान्तर, अद्भुत अद्भुत और बड़े बड़े भयानक मतो का प्रचार हो रहा है, शिक्षा भी हो रही है; अधिक क्या, देवमन्दिरो के द्वार पर ही

ब्राह्मण लोग जड़वादियों की देवनिन्दा को सुनते सहते हैं ! यह बात उनके धर्म की उदारता और महत्व की ही परिचायक है।

भगवान बुद्ध ने वृद्धावस्था में शरीरत्याग किया था। मेरे एक अमेरिकन वैज्ञानिक मित्र बुद्धदेव का चरित्र पढकर बडे प्रसन्न होते थे किन्तु बुद्धदेव की मृत्यु उन्हे अच्छी नहीं लगती थी, कारण, कि उन्हे क्रॉस पर नहीं लटकाया गया था। कितनी भ्रमात्मक धारणा है ! बड़ा आदमी होने से ही हत्या किया जाना आवश्यक माना जाता है। भारतवर्ष मे इस प्रकार की धारणा प्रचलित नहीं थी। बुद्धदेव ने भारतीय देवताओं तथा जगत् का शासन करने वाले ईश्वर तक को अस्वीकार करते हुये भारतवर्ष भर का भ्रमण किया किन्तु तथापि वे वृद्धावस्था तक जीवित रहे थे। वे पचासी वर्ष की अवस्था तक जीवित रहे और देश के आधे भाग मे उन्होने अपने धर्म का प्रचार कर लिया था।

चार्वाकों ने भी बडे बडे भयानक मतों का प्रचार किया था—उन्नीसवीं शताब्दी मे भी लोग इस प्रकार खुल्लमखुल्ला जड़वाद का प्रचार करने का साहस नहीं करते। ये चार्वाक लोग मन्दिरों और नगरो मे प्रचार करते फिरते थे कि धर्म मिथ्या है, वह केवल पुरोहितो की स्वार्थपूर्ति का एक उपाय मात्र है, वेद केवल धूर्त निशाचरों की रचना है—ईश्वर भी नही है, आत्मा भी नही है। यदि आत्मा है तो स्त्री-पुत्र आदि के प्रेम से आकृष्ट होकर लौट क्यों नही आता ? इन लोगों की यह धारणा थी कि यदि आत्मा होता तो मृत्यु के बाद भी प्रेम आदि भावना उसको रहती और वह खूब अच्छा खाना, अच्छा पहनना चाहता। ऐसा होने पर भी किसी ने चार्वाको के ऊपर अत्याचार नहीं किया।

धर्म के विषय मे हमारे यहाँ स्वाधीनता थी, अतएव आज भी धर्म के विषय मे हमारे भीतर महाशक्ति विराजित है। आप लोगो ने सामाजिक स्वतन्त्रता ली थी, इसीलिये आपकी सामाजिक प्रणाली इतनी सुन्दर है। हमने सामाजिक बातो मे बिल्कुल स्वतन्त्रता नही दी, इसलिये हमारे समाज मे सङ्कीर्णता है। आपके देश मे धार्मिक स्वतन्त्रता नहीं दी गई; धर्म के विषय मे प्रचलित मत का उल्लंघन करते ही बन्दूक उठ जाती थीं ! उसी का फल यह है कि योरप मे धार्मिक भाव इतना सङ्कीर्ण है। भारतवर्ष में सामाजिक श्रृंखला को खोलना होगा और योरप मे धार्मिक श्रृंखला को तोड़ना पड़ेगा। तभी उन्नति होगी। यदि हम लोग इस आध्यात्मिक, नैतिक या सामाजिक उन्नति के भीतर जो एकत्व है उसको समझ सके, यदि हम जानले कि वे सब एक ही पदार्थ के विभिन्न विकास मात्र है, तो धर्म हमारे समाज के भीतर प्रवेश करेगा, हमारे जीवन का प्रति मुहूर्त धर्म भाव से पूर्ण हो जायगा। धर्म हमारे जीवन के प्रत्येक कार्य मे प्रवेश करेगा, धर्म नाम से जो कुछ भी है वह सब हमारे जीवन मे अपने प्रभाव का विस्तार करेगा। वेदान्त के प्रकाश में आप समझेंगे कि समस्त विज्ञान केवल धर्म का ही विभिन्न विकास मात्र है; जगत् की सभी वस्तुये इसी प्रकार हैं।

तो हमने देखा कि स्वाधीनता होने के कारण ही योरप में यह विज्ञान की उत्पत्ति और उन्नति हुई है; और हम देखते हैं कि कितने आश्चर्य की बात है कि सभी समाजों में दो विभिन्न दल देखे जाते हैं। एक संहार करने वाला, दूसरा संगठन करने

वाला। मान लो कि समाज में दोष है और एक दल उठकर गाली गलौज करने लगा। बहुत दिन तक ये लोग केवल कट्टरपन्थी रहे। सभी देशों और समाजों मे ये लोग देखे जाते हैं; और स्त्रियाँ तो अधिकांश इस चीत्कार में योग दिया करती हैं, कारण वे स्वभाव से भावुक होती है। जो व्यक्ति खड़े होकर किसी विषय के विरुद्ध लेक्चरबाजी करेगा उसके दल की वृद्धि होगी ही। तोड़ना सहज होता है, पागल आदमी जो चाहे तोड फोड़ सकता है, किन्तु किसी वस्तु का बनाना उसके लिये कठिन है।

सभी देशो मे इस प्रकार के गन्दे विषयों के प्रतिवादी किसी न किसी रूप मे पाये जाते है, और वे समझते हैं कि केवल गाली-गलौज से और दोषो को प्रकाश मे लाकर ही वे लोगो का उपकार कर रहे है। उनको देखने से ऐसा लगता है कि वे कुछ उपकार कर रहे है, किन्तु वास्तव मे वे अनिष्ट ही अधिक करते हैं। एक दिन मे तो कोई काम नहीं होता। समाज एक ही दिन मे तो बन नहीं गया, और परिवर्तन का अर्थ है, कारणो को दूर करना। मान लो कि बहुत से दोष है, किन्तु केवल गालीगलौज से तो कुछ होगा नही; हमें उनकी जड़ तक जाना पड़ेगा। पहले तो दोष का कारण क्या है यह जानना होगा, फिर उसे दूर करने से दोष स्वतः ही दूर हो जायगा। चिल्लाने से लाभ होने के स्थान पर हानि की ही अधिक सम्भावना है।

किन्तु पूर्ववर्णित दूसरे दल के हृदय में सहानुभूति थी। वे समझ गये थे कि दोषो को दूर करने के लिये उनके कारणों को देखना

होगा। बड़े बड़े साधु महात्माओं का ही यह दल था। एक बात आपको याद रखना चाहिये कि जगत् के सभी बड़े बड़े आचार्य लोग कह गये हैं कि हम नाश करने नहीं आये, किन्तु पहले से जो कुछ है उसे पूर्ण करने आये है। प्रायः लोग आचार्यगण का यह महान् उद्देश्य न समझ कर ऐसा कहते हैं कि उन्होंने साधारण मनुष्यों की भाँति अनुपयुक्त कार्य किये। इस समय भी बहुधा लोग कहते हैं कि वे लोग (आचार्यगण) जिसको सत्य समझते थे उसे प्रकट रूप से कहने का साहस नही करते थे और वे कुछ अंश मे कायर थे। किन्तु यह बात नही है। ये सब एकदेशदर्शी लोग उन सब महापुरुषो के हृदय के अनन्त प्रेम की शक्ति को नहीं समझते हैं। वे तो संसार के समस्त नर-नारियों को अपनी सन्तान के समान देखते थे। वे ही यथार्थ मातापिता है, वे ही यथार्थ देवता हैं, उनके हृदय मे प्रत्येक के लिये अनन्त सहानुभूति और क्षमा थी—वे सदा ही सहने को और क्षमा करने को उद्यत रहते थे। वे जानते थे कि किस प्रकार मानव समाज संगठित हो सकता है; अतएव वे अत्यन्त धैर्य के साथ, अत्यन्त सहिष्णुता के साथ अपनी संजीवनी औषध का प्रयोग करने लगे। उन्होंने किसी को गालियॉ नहीं दी, न भय दिखलाया किन्तु बड़े धैर्य के साथ लोगों को एक एक कदम रख कर मार्ग दिखलाया है। ये उपनिषदो के रचयिता थे। वे अच्छी तरह जानते थे कि ईश्वर सम्बन्धी प्राचीन धारणा अन्य सभी उन्नत नीति-संगत धारणा के साथ मेल नहीं खाती। वे पूरी तरह से जानते थे कि इन सब खण्डन करने वालों के भीतर ही अधिक सत्य है; वे पूरी तरह से जानते थे कि बौद्ध और नास्तिक लोग जो कुछ प्रचार करते हैं उसमें अनेक महान् सत्य हैं; किन्तु

वे यह भी जानते थे कि जो लोग पहले के मतों से कोई सम्बन्ध न रख कर एक नया मत स्थापित करना चाहते है, जो लोग जिस सूत्र मे माला गुँथी हुई है उसी को तोड़ना चाहते है, जो शून्य के ऊपर नूतन समाज का गठन करना चाहते है वे पूरी तरह से असफल होंगे।

हम कभी भी किसी नूतन वस्तु का निर्माण नहीं कर सकते, हम केवल पुरानी वस्तुओ का स्थान परिवर्तन कर सकते है। बीज ही वृक्ष के रूप में परिणत हो जाता है, अतः हमे धैर्य के साथ शान्तिपूर्वक लोगों की सत्य की खोज मे लगी हुई शक्ति को ठीक तरह से चलाना होगा, और जो सत्य पहले ही से ज्ञात है उसी को पूर्ण रूप से जानना होगा। अतएव प्राचीन काल की इस ईश्वर सम्बन्धी धारणा को वर्तमान काल के लिए एकदम अनुपयुक्त कह कर उडाये विना ही उन लोगो ने उसमे जो कुछ सत्य है उसका अन्वेषण आरम्भ किया; उसी का फल वेदान्त-दर्शन है। वे प्राचीन सभी देवताओं तथा जगत् के शासनकर्ता एक ईश्वर के भाव से भी उच्चतर भावों का आविष्कार करने लगे—इसी प्रकार उन्होने जो उच्चतम सत्य आविष्कृत किया उसी को निर्गुण पूर्णब्रह्म नाम से पुकारते हैं—इसी निर्गुण ब्रह्म की धारणा मे उन्होंने जगत् के बीच में एक अखण्ड सत्ता को देख पाया।

"जिन्होंने इस बहुत्वपूर्ण जगत् में उस एक अखण्ड स्वरूप को देख पाया है, जो इस मर्त्य जगत् मे उस एक अनन्त जीवन को देख पाते हैं, जो इस जड़ता तथा अज्ञान से पूर्ण जगत् मे उसी एक स्वरूप को देख लेते हैं उन्हीं को चिरशान्ति मिलती है और किसी को नहीं।"

---

६. माया और मुक्ति

कवि कहते हैं कि "हम जिस समय जगत् में प्रवेश करते हैं उस समय अपने पीछे मानों एक हिरण्मय मेघजाल लेकर प्रवेश करते है।" किन्तु यदि सच पूछो तो हम मे से सभी इस प्रकार महिमामण्डित होकर संसार मे प्रवेश नहीं करते; हममें से बहुत से तो कुज्झटिका (कुहरे) की कालिमा अपने पीछे लेकर जगत् मे प्रवेश करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। हम लोग, हममें से सभी मानों युद्ध करने के लिये युद्धक्षेत्र मे प्रेरित कर दिये गये है। रोते रोते हमे इस जगत् मे प्रवेश करना होगा—यथासाध्य चेष्टा करके अपना मार्ग बनाना होगा—इस अनन्त जीवन-समुद्र में पीछे की ओर कोई चिन्ह तक न छोडकर मार्ग बनाना होगा—सम्मुख की ओर हम अग्रसर हो रहे है, पीछे अनन्त युग पड़े है, और सामने भी अनन्त युग पड़े हैं। इसी प्रकार हम चलते रहते है और अन्त मे मृत्यु आकर हमें इस क्षेत्र से अपसारित कर देती है—विजयी अथवा पराजित कुछ भी निश्चित नहीं है; यही माया है।

बालक के हृदय की आशा बलवती होती है। बालकों के विस्फारित नयनों के समक्ष समस्त जगत् मानों एक सुनहले चित्र के समान मालूम पडता है; वह समझता है कि मेरी जो इच्छा होगी वही होगा। किन्तु जैसे ही वह आगे बढ़ता है वैसे ही प्रत्येक पद पर प्रकृति वज्रदृढ प्राचीर के रूप मे उसका गतिरोध करके खड़ी हो

जाती है। वारम्बार उस प्राचीर को भंग करने के उद्देश्य से वह वेग के साथ उसके ऊपर टक्कर मार सकता है। सारे जीवन भर जितना वह अग्रसर होता जाता है उतना ही उसका आदर्श उससे दूर होता चला जाता है—अन्त मे मृत्यु आ जाती है और सारा खेल समाप्त हो जाता है; यही माया है।

वैज्ञानिक उठे, महाज्ञान की पिपासा लिये। उनके लिये ऐसा कुछ भी नहीं है जिसका वे त्याग न कर सकते हों, कोई किसी प्रकार भी उन्हे निरुत्साह नहीं कर सकता। वे धीरे धीरे आगे बढ़ते हुये प्रकृति के एक के बाद एक गुप्त तत्त्वो का आविष्कार करते है —प्रकृति के अन्तस्तल मे से आभ्यन्तरीण गूढ रहस्यो का उद्घाटन करते हैं—किन्तु इसका उद्देश्य क्या है ? इस सब के करने का क्या उद्देश्य है ? हम इन वैज्ञानिकों का गौरव क्यों करे ? उन्हे कीर्ति क्यो मिले ? क्या प्रकृति मनुष्य जितना जान सकता है उससे अनन्त गुना अधिक नहीं जान सकती ? ऐसा होने पर भी क्या वह जड़ नहीं है ? जड़ का अनुकरण करने मे कौन सा गौरव है ? वज्र चाहे कितना ही विद्युत्शक्तिशाली क्यो न हो, प्रकृति उसे चाहे जितनी दूर उठाकर फेक सकती है। यदि कोई मनुष्य उसका शतांश भी कर सकता है तो हम उसे उठाकर आकाश मे पहुँचा देते है ! परन्तु यह सब किस लिये ? प्रकृति के अनुकरण के लिये, मृत्यु के, जड़त्व के, अचेतन के अनुकरण के लिये हम उसकी प्रशंसा क्यों करे ?

मध्याकर्षण शक्ति भारी से भारी पदार्थ को क्षण भर में खण्ड खण्ड कर फेक सकती है, फिर भी वह एक जड़ शक्ति है। जड़

के अनुकरण से क्या लाभ है ? तथापि हम सारे जीवन भर केवल इसी के लिये चेष्टा करते रहते हैं; यही माया है।

इन्द्रियाँ मनुष्य की आत्मा को बाहर खींच लाती है। मनुष्य उन स्थानो मे सुख और आनन्द की खोज कर रहा है जहाँ वह उन्हे कभी भी नहीं पा सकता। युगो से हम यह सीखते आ रहे है कि यह निरर्थक और व्यर्थ है; यहाँ हमे सुख नहीं मिल सकता, परन्तु हम सीख नही सकते ! अपने अनुभव के अतिरिक्त और किसी उपाय से हम सीख नही सकते। हम प्रयत्न करते है; हमे धक्का लगता है, फिर भी क्या हम सीखते है ? नहीं, फिर भी नही सीखते। पतग जैसे दीपक की लौ पर जलते है उसी प्रकार हम इन्द्रियो में सुख की प्राप्ति की आशा से अपने को बार बार झोकते है। हम फिर लौटते है, ताजगी लेकर; इसी प्रकार चलता रहता है और अन्त मे असमर्थ होकर, धोखा खाकर हम मर जाते है; और यही माया है।

यही बात हमारी बुद्धि के सम्बन्ध मे भी है। हम जगत् के रहस्य की मीमासा करने की चेष्टा करते है—हम इस जिज्ञासा, इस अनुसन्धान की प्रवृत्ति को बन्द नही रख सकते; किन्तु हम लोगो को यह जान लेना चाहिये कि ज्ञान प्राप्तव्य वस्तु नहीं है—कुछ पद अग्रसर होते ही अनादि अनन्त काल का प्राचीर बीच मे व्यवधान के रूप मे आ खडा होता है जिसे हम लॉघ नहीं सकते। कुछ दूर बढ़ कर अनादि देश का व्यवधान आकर खड़ा हो जाता है जिसे अतिक्रमण नहीं कर सकते; सभी कुछ अनतिक्रमणीय हो कर हम हम कार्यकारण रूपी दीवार की सीमा से बद्ध है। हम इसे लॉघ कर आगे नहीं जा

सकते। तो भी हम चेष्टा करते रहते है। चेष्टा हमे करनी ही पड़ेगी; यही माया है।

प्रत्येक साँस मे, हृदय की प्रत्येक धड़कन मे, अपनी प्रत्येक गति मे हम समझते है कि हम स्वतन्त्र हैं, और उसी क्षण हम देखते है कि हम स्वतन्त्र नही है। क्रीत दास—हम प्रकृति के क्रीत दास है—शरीर, मन तथा सभी चिन्ताओ एवं सभी भावो मे हम प्रकृति के क्रीत दास हैं; यही माया है।

ऐसी एक भी माता नही है जो अपनी सन्तान को अद्‌भुत शिशु—महापुरुष नही समझती है। वह उसी बालक को लेकर पागल हो जाती है, उसी बालक के ऊपर उसके प्राण पडे रहते हैं। बालक बडा हुआ—शायद बिलकुल शराबी और पशुतुल्य हो गया—जननी के प्रति बुरा व्यवहार तक करने लगा। जितना ही उसका दुर्व्यवहार बढ़ता है उतना ही जननी का प्रेम भी बढ़ता है। लोग इसे जननी का नि.स्वार्थ प्रेम कह कर खूब प्रशंसा करते है—उनके मन मे प्रश्न भी नही उठता कि वह माता जन्म भर के लिये केवल एक क्रीत दासी के समान है—वह प्रेम किये बिना रह ही नहीं सकती। हजारो बार उसकी इच्छा होती है कि वह इस मोह का त्याग कर देगी, किन्तु वह कर ही नहीं सकती। अतः वह इसे सुन्दर पुष्पों से सजा कर उसी को अद्‌भुत प्रेम कह कर व्याख्या करती है; यही माया है।

हम सब का यही हाल है। नारद ने एक दिन श्रीकृष्ण से पूछा, "प्रभो, आपकी माया कैसी है, मै देखना चाहता हूँ।" कई दिन के बाद श्रीकृष्ण नारद को लेकर एक जंगल मे गये। बहुत दूर जाने के बाद श्रीकृष्ण नारद से बोले—"नारद, मुझे बड़ी प्यास लगी है।

क्या कहीं से थोड़ा जल लाकर पिला सकते हो ?". नारद बोले—"प्रभो, कुछ देर ठहरिये, मै अभी जल लेकर आता हूँ।" यह कह कर नारद चले गये। कुछ दूर पर एक गॉव था, नारद वहीं जल की खोज करने लगे। एक मकान के द्वार पर पहुँच कर उन्होंने खटखटाया। द्वार खुला और एक परम सुन्दरी कन्या उनके सम्मुख आकर खड़ी हुई। उसे देखते ही नारद सब कुछ भूल गये। भगवान उनकी प्रतीक्षा कर रहे होगे, वे प्यासे होगे, हो सकता है प्यास से उनका प्राण-वियोग भी हो जाय—ये सभी बातें नारद भूल गये। सब कुछ भूल कर वे उसी कन्या के साथ बातचीत करने लगे, धीरे धीरे एक दूसरे के प्रति प्रणयभाव उत्पन्न होने लगा। तब फिर नारद उस कन्या के पिता के पास जाकर उसके साथ विवाह करने के लिये प्रार्थना करने लगे—विवाह भी हो गया और वे उसी गाँव में रहने लगे—धीरे धीरे उनके सन्तति भी होने लगी। इसी तरह रहते रहते बारह वर्ष बीत गये। नारद के ससुर भी मर गये और उनकी सम्पत्ति के नारद उत्तराधिकारी हो गये और पुत्र कलत्र, भूमि, पशु, सम्पत्ति, गृह आदि को लेकर नारद खूब स्वच्छन्दता पूर्वक सुख से रहने लगे। अन्त मे उन्हे यह बोध होने लगा कि वे खूब सुखी है। इसी समय उस देश मे बाढ आई। एक दिन रात के समय नदी दोनों तटों को तोड़कर बहने लगी और सम्पूर्ण गॉव डूब गया। मकान सब गिरने लगे; मनुष्य, पशु, पक्षी, सब बह बह कर डूबने लगे, नदी की धार में सभी कुछ बहने लगा। नारद को भी भागना पड़ा। एक हाथ से उन्होंने स्त्री को पकड़ा, दूसरे हाथ से दो बच्चों को, और एक बालक को कन्धे पर बिठा कर उस भयङ्कर नदी को पार करने की चेष्टा करने लगे।

कुछ दूर जाने के बाद ही लहरों का वेग बढ़ने लगा। कन्धे पर बैठे हुये शिशु की नारद किसी प्रकार रक्षा न कर सके; वह गिर कर तरंगो मे बह गया। निराशा और दु ख से नारद चीत्कार कर उठे। उसकी रक्षा करने को जाते ही और एक बालक, जिसका हाथ वे पकडे हुये थे, हाथ से छूट डूब कर मर गया। अपनी पत्नी को वे अपने शरीर की समस्त शक्ति लगा कर पकडे हुये थे, अन्त में तरंगो के वेग से पत्नी भी उनके हाथ से छूट गई और वे स्वयं तट पर गिर कर मिट्टी मे लोटपोट होने लगे और बड़े कातर स्वर मे विलाप करने लगे। इसी समय मानो किसी ने उनकी पीठ पर कोमल हाथ रख कर कहा—"वत्स, कहाँ, जल कहाँ है? तुम जल लेने गये थे, मैं तुम्हारी प्रतीक्षा मे हूँ। तुम्हें गये हुये आधा घण्टा हुआ।" आध घण्टा! नारद के लिये तो बारह वर्ष बीत चुके थे! और आध घण्टे के भीतर ही ये सब दृश्य उनके मन के अन्दर से निकल गये—यही माया है! किसी न किसी रूप मे हम सब इसी माया के भीतर रहते है। यह बात समझना बड़ा कठिन है—विषय भी बड़ा जटिल है। इसका क्या तात्पर्य है? तात्पर्य यही है कि—यह बात बड़ी भयानक है—सभी देशों में महापुरुषो ने इसी तत्व का प्रचार किया है, सभी देशो के लोगों ने यही शिक्षा प्राप्त की है, किन्तु बहुत कम लोगों ने इस पर विश्वास किया है; उसका कारण यही है कि स्वयं बिना भोगे हुये, बिना ठोकर खाये हुये हम इस पर विश्वास नहीं कर सकते। सच पूछिये तो सभी वृथा है, सभी मिथ्या है।

सर्व-संहारक काल आकर सब को ग्रास कर लेता है, कुछ भी नही छोड़ता। वह पाप को खा जाता है, पापी को भी खा जाता है,

वह राजा को, प्रजा को, सुन्दर को, कुत्सित को—सभी को खा डालता है, किसी को भी नहीं छोडता। सभी कुछ उस चरम गति—विनाश—की ओर अग्रसर हो रहा है। हमारा ज्ञान, शिल्प विज्ञान—सभी कुछ उसी एक अनिवार्य गति मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहा है। कोई भी इस तरंग की गति को नहीं रोक सकता, कोई भी इस विनाशाभिमुखी गति को एक क्षण के लिये भी रोक कर रख नही सकता। हम उसे भूले रहने की चेष्टा कर सकते है, जैसे किसी देश मे महामारी फैलने पर शराब, नाच, गान आदि व्यर्थ की चेष्टाये करके लोग सब कुछ भूलने की चेष्टा करते हुये लकवा मारे हुये मनुष्य की भाँति गतिशक्तिरहित हो जाते है। हम लोग भी इसी प्रकार इस मृत्यु की चिन्ता को भूलने की अति कठोर चेष्टा कर रहे है—सभी प्रकार के इन्द्रियसुखों के द्वारा उसे भूलने की चेष्टा कर रहे है किन्तु इससे उसकी निवृत्ति नही होती।

लोगों के सामने दो मार्ग है। इनमे से एक सभी जानते है—वह यह है—"जगत् मे दुःख है, कष्ट है, सब सत्य है किन्तु इस सम्बन्ध मे विल्कुल सोचना नहीं चाहिये। 'यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृत पिबेत्।' दुःख अवश्य है किन्तु उधर नज़र मत डालो। जो थोडा बहुत सुख मिले उसे भोग कर लो, इस संसार-चित्र के अन्धकारमय अश को मत देखो—केवल प्रकाशमय अंश की ओर देखो।" इस प्रकार के विचारों मे कुछ सत्य तो अवश्य है किन्तु इस मे भयानक विपत्ति की आशंका भी है। इसमें सत्य इतना ही है कि यह हमे कार्य मे प्रवृत्त रखता है। आशा एवं इसी प्रकार का एक प्रत्यक्ष आदर्श हमे कार्य मे प्रवृत्त और उत्साहित करता है

अवश्य, किन्तु इसमे यह एक विपत्ति है कि अन्त मे हताश होकर सब चेष्टाये छोड़ देनी पडती है। जो लोग कहते है—" संसार को जैसा देखते हो वैसा ही ग्रहण करो; जितनी दूर तक स्वच्छन्द रह सकते हो, रहो ' समस्त दुःख, कष्ट आने पर भी सन्तुष्ट रहो; आघात होन पर भी कहो कि यह आघात नहीं; पुष्पवृष्टि है; दास के समान परिचालित होने पर भी कहो—'मै मुक्त हूॅ, स्वाधीन हूॅ' दूसरों के तथा अपनी आत्मा के सम्मुख दिन रात मिथ्या बोलो, क्योंकि संसार में रहने का, जीवित रहने का यही एक मात्र उपाय है, "—ऐसे लोग बाध्य होकर ही अन्त मे ऐसा करते है। इसी को पक्का सांसारिक ज्ञान कहते है और इस उन्नीसवीं शताब्दी में यह ज्ञान जितना साधारण है उतना साधारण कभी भी नहीं था; इसका कारण यही है कि लोग इस समय जो चोटे खा रहे है ऐसी चोटें उन्होने पहले कभी नही खाई थीं, प्रतिद्वन्द्विता भी इतनी तीव्र पहले कभी नहीं थी; इस समय मनुष्य अपने दूसरे भाइयों के प्रति जितना निष्ठुर है उतना पहले कभी नही था, और इसीलिये आज कल यह सान्त्वना दी जाती है। आज कल यह उपदेश ही अधिकतर दिया जाता है, किन्तु इस उपदेश से अब कोई फल नही होता; कभी भी नहीं होता। गले हुये शव को फूलो से ढक कर कब तक रखा जा सकता है। असम्भव कब तक चल सकता है? एक दिन ये सब फूल उड जायेंगे, तब यह शव पहले से भी अधिक वीभत्स रूप मे दिखेगा। हमारा समस्त जीवन ही ऐसा है। हम अपने पुराने सड़े घाव को स्वर्ण के वस्त्र से ढक देने की चेष्टा कर सकते हैं किन्तु एक दिन आयेगा जब वह स्वर्णवस्त्र खिसक पड़ेगा और वह घाव अत्यन्त वीभत्स रूप मे हमारे सम्मुख प्रकाशित होगा। तब क्या कोई

आशा नहीं है ? यह बात सत्य है कि हम सभी माया के दास हैं, हम सभी माया के अन्दर ही जन्म लेते हैं और माया मे ही हम जीवित रहते हैं।

तब क्या कोई उपाय नहीं है, कोई आशा नहीं है ? यह बात कि हम सब अतीव दुर्दशा मे पड़े हैं, यह जगत् वास्तव में एक कारागार है, हमारी पूर्वप्राप्त महिमा की छटा भी एक कारागार है, हमारी बुद्धि और मन भी एक कारागार के समान है, ये सब बातें सैकडो युगो से लोगो को मालूम है। मनुष्य चाहे जो कुछ कहे, ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो किसी न किसी समय इस बात को हृदय से अनुभव न करता हो। बुड्ढे लोग इसको और भी तीव्रता के साथ अनुभव करते हैं, क्योंकि उनकी जीवन भर की सञ्चित अभिज्ञता रहती है, प्रकृति की मिथ्या भाषा उन्हें अधिक ठग नहीं सकती। इस बन्धन को तोड़ने का क्या उपाय है ? क्या इसे तोड़ने का कोई उपाय नहीं है ? हम देखते हैं कि यह भयंकर व्यापार, यह बन्धन हमारे सामने, पीछे, चारों ओर रहने पर भी, इसी दुःख और कष्ट के बीच, इसी जगत् में जहाँ जीवन और मृत्यु का एक ही अर्थ है, यहाँ भी एक महावाणी सभी युगों मे, सभी देशो में, सभी व्यक्तियो के हृदय के भीतर से मानो उठ रही है—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥"

"मेरी यह दैवी त्रिगुणमयी माया बड़ी मुश्किल से पार की जाती है। जो मेरी शरण में आते हैं वे इस माया के पार हो जाते हैं।" "हे

परिश्रान्त, भाराक्रान्त मनुष्यों, आओ, मैं तुम्हें आश्रय दूँगा।" यह वाणी ही हम सब को बराबर अग्रसर कर रही है। मनुष्य इस वाणी को सुनता है, अनन्त युगों से सुनता आ रहा है। जिस समय मनुष्य को लगता है कि उसका सब कुछ चला जा रहा है, जब उसकी आशा टूटने लगती है, जब अपने बल मे उसका विश्वास नष्ट होने लगता है, जब सभी मानो उसकी अँगुलियों मे से खिसककर भागने लगता है और जीवन केवल एक भग्नस्तूप मे परिणत हो जाता है, तब वह यही वाणी सुनता है,—और यही धर्म है।

अतएव एक ओर तो यह अभय वाणी, यह आशाप्रद वाक्य है कि—यह सब कुछ नही; केवल माया है—इसकी उपलब्धि करो किन्तु इसके बाहर जाने का मार्ग है। दूसरी ओर हमारे सांसारिक लोग कहते हैं—" धर्म, दर्शन—ये सब व्यर्थ की वस्तुये ले कर दिमाग खराब मत करो। जगत् मे रहो; यह जगत् बड़ा अशुभपूर्ण है सही, किन्तु जितनी दूर तक हो सके इसका सद्व्यवहार कर लो।" सीधे सादे शब्दो मे इसका अर्थ यही है कि उलटे सीधे दिन रात प्रतारणा-पूर्ण जीवन यापन करो—अपने घाव को जब तक हो सके ढक कर रक्खो। एक के बाद दूसरी जोड़-गाँठ करते जाओ यहाँ तक कि सब कुछ नष्ट हो जाय और तुम केवल जोड़गाँठ का एक समूह मात्र रह जाओ। इसी को सांसारिक जीवन कहते है। जो इस जोड़गाँठ से सन्तुष्ट है वे कभी भी धर्मलाभ नहीं कर सकते। जब जीवन की वर्तमान अवस्था मे भयानक अशान्ति उत्पन्न हो जाती है, जब अपने जीवन में भी ममता नहीं रहती, जब इस जोड़गाँठ पर अपार घृणा उत्पन्न हो जाती है, जब मिथ्या और प्रवञ्चना के ऊपर भारी

वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है तभी धर्म का आरम्भ होता है। वास्तविक धार्मिक होने के योग्य वही है जो, बुद्धदेव ने बोधिवृक्ष के नीचे खड़े होकर दृढ स्वर से जो बात कही थी, उस बात को रोम रोम से बोल सकता हो। ससारी होने की इच्छा उनके हृदय मे भी एक बार उत्पन्न हुई थी। उस समय उन्होंने स्पष्ट रूप से समझा कि उनकी यह अवस्था, यह सांसारिक जीवन एकदम भूल है; किन्तु इसके बाहर जाने का कोई मार्ग उन्हें नहीं मिल रहा था। प्रलोभन एक बार उनके निकट आया और कहने लगा—सत्य की खोज छोड़ो, ससार मे लौटकर वही पुराना प्रतारणापूर्ण जीवन यापन करो, सभी वस्तुओ को उनके गलत नामों से पुकारो, अपने निकट और सब के निकट दिन रात मिथ्या बोलते रहो—यह प्रलोभन उनके पास एक बार आया था, किन्तु उस महावीर ने अतुल पराक्रम से उसी क्षण उसे परास्त कर दिया। उन्होंने कहा—"अज्ञान पूर्वक केवल खापीकर जीने की अपेक्षा मरना ही अच्छा है; पराजित होकर जीने की अपेक्षा युद्धक्षेत्र मे मरना अच्छा है।" यही धर्म की भित्ति है। जब मनुष्य इस भित्ति के ऊपर खड़ा होता है तब वह सत्य की प्राप्ति के पथ पर, ईश्वर के लाभ के पथ पर चल रहा है ऐसा समझना चाहिये। धार्मिक होने के लिये भी पहले यह प्रतिज्ञा आवश्यक है। मै अपना रास्ता स्वय ढूँढ लूँगा। सत्य को जानूँगा अथवा प्राण दे दूँगा। कारण, संसार की ओर से तो और कुछ पाने की आशा है ही नही, वह तो शून्य स्वरूप है, वह दिन रात अन्तर्हित हो रहा है। आज का सुन्दर आशापूर्ण तरुण पुरुष कल का बूढ़ा है। आशा, आनन्द, सुख—ये सब मुकुलो की भाँति कल के शिशिर-पात से नष्ट हो जायेगे। यह हुई इस ओर की बात; दूसरी ओर विजय का प्रलोभन रहता है।

जीवन के सभी अशुभों पर विजय-प्राप्ति की सम्भावना रहती है। और तो क्या, जीवन और जगत् के ऊपर भी विजयप्राप्ति की आशा रहती है। इसी उपाय से मनुष्य अपने पैरो पर खडा हो सकता है। अतएव जो लोग इस विजयप्राप्ति के लिये, सत्य के लिये, धर्म के लिये चेष्टा कर रहे है वे ही सत्य पथ पर है, और सब वेद भी यही प्रचार करते हैं, " निराश मत होओ, मार्ग बडा कठिन है—जैसे छुरे की धार पर चलना; फिर भी निराश मत होओ; उठो, जागो और अपने चरम आदर्श को प्राप्त करो। "

सभी विभिन्न धर्मों की, चाहे वे किसी भी रूप मे मनुष्य के निकट अपनी अभिव्यक्ति करते हो, सब की यही एक मूलभित्ति है। सभी धर्म जगत् के बाहर जाने का अर्थात् मुक्ति का उपदेश देते है। इन सब धर्मों का उद्देश्य—संसार और धर्म के बीच सुलह कराना नही, किन्तु धर्म को अपने आदर्श मे दृढप्रतिष्ठित करना है, संसार के साथ सुलह करके उस आदर्श को नीचे नहीं लाना—प्रत्येक धर्म इसका प्रचार करता है और वेदान्त का कर्तव्य है—विभिन्न धर्मभावों का सामञ्जस्य स्थापित करना, जैसा हमने अभी देखा कि मुक्ति की बात को लेकर जगत् के उच्चतम और निम्नतम धर्मों मे सामञ्जस्य पाया जाता है। हम जिसको अत्यन्त घृणित कुसंस्कार कहते है, और जो सर्वोच्च दर्शन है सभी की यह एक साधारण भित्ति है कि वे सभी इस एक प्रकार के सङ्कट से निस्तार पाने का मार्ग दिखाते है और इन सब धर्मों मे से अधिकांश मे प्रपंचातीत पुरुषविशेष की सहायता से—प्राकृतिक नियमो से आवद्ध नही अर्थात् नित्य मुक्त पुरुषविशेष की सहायता से—इस मुक्ति की प्राप्ति करनी पड़ती है। इस मुक्त पुरुष के स्वरूप के

सम्बन्ध मे नाना प्रकार की कठिनता तथा मतभेदों के होने पर भी—यह ब्रह्म सगुण है या निर्गुण, मनुष्य की भाँति ज्ञानसम्पन्न है या नहीं, वह पुरुष है, स्त्री है अथवा नपुंसक—इस प्रकार के अनन्त विचारों के होने पर भी—विभिन्न मतो के प्रबल विरोध होने पर भी—इन सब के भीतर एकत्व का जो सुवर्णसूत्र उन्हे ग्रथित किये हुये है, वह हम देख पाते है; अतः यह सब विभिन्नता या विरोध हमारे अन्दर भय उत्पन्न नही करता; और इसी वेदान्त-दर्शन मे यह सुवर्ण-सूत्र आविष्कृत हुआ है; हमारी दृष्टि के सामने थोड़ा थोडा करके प्रकाशित हुआ है, और इसमे पहले ही यही तत्व प्राप्त होता है कि हम सभी विभिन्न पथो के द्वारा उसी एक मुक्ति की ओर अग्रसर हो रहे है; सभी धर्मों का यही एक साधारण भाव है।

अपने सुख, दुःख, विपत्ति और कष्ट, सभी अवस्थाओं में हम यही आश्चर्य की बात देखते है कि हम सब धीरे धीरे उसी मुक्ति की ओर अग्रसर हो रहे है। प्रश्न उठा—यह जगत् वास्तव मे क्या है? कहॉ से इसकी उत्पत्ति हुई और कहॉ इसका लय है? और इसका उत्तर था,—मुक्ति से ही इसकी उत्पत्ति है, मुक्ति मे यह विश्राम करता है और अन्त मे मुक्ति मे ही इसका लय हो जाता है। यह जो मुक्ति की भावना है कि वास्तव मे हम मुक्त है, इस आश्चर्य-जनक भावना को छोड कर हम एक क्षण भी नही चल सकते, इस भाव को छोड़ कर तुम्हारे सभी कार्य, यहॉ तक की तुम्हारा जीवन तक व्यर्थ है। प्रतिक्षण प्रकृति हमारा दासत्व सिद्ध कर रही है किन्तु उसके साथ ही साथ यह दूसरा भाव भी हमारे मन में उत्पन्न होता रहता है कि फिर भी हम मुक्त हैं। प्रतिक्षण ही हम माया के द्वारा

आहत होकर बद्ध के समान मालूम होते है किन्तु उसी क्षण, उसी आघात के साथ ही साथ, 'हम बद्ध है' इस भाव के साथ ही साथ और भी एक भाव हमारे अन्दर आता है कि हम मुक्त है। मानों हमारे अन्दर से कोई हमे यह कहने को बाध्य कर रहा है कि हम मुक्त है। किन्तु इस मुक्ति की प्राणो से उपलब्धि करने मे, अपने मुक्त स्वभाव का प्रकाश करने मे सब बाधाये उपस्थित होती है वे भी एक प्रकार से अनतिक्रमणीय है। तथापि अन्दर से हमारे हृदय के अन्तस्तल मे मानो वह आवाज़ सदा ही उठती रहती है— मैं मुक्त हूँ, मै मुक्त हूँ। और यदि तुम ससार के सभी धर्मों की आलोचना करके देखो तो समझोगे—उनेम से सभी मे किसी न किसी रूप मे यह भाव प्रकाशित हुआ है। केवल धर्म में ही नही—धर्म शब्द को आप संकीर्ण अर्थ में मत लीजिये—सभी प्रकार का सामाजिक जीवन केवल इसी एक मुक्त भाव की अभिव्यक्ति मात्र है। सभी प्रकार की सामाजिक गति उसी एक मुक्त भाव का विभिन्न प्रकाश मात्र है। मानो सभी लोग जान बूझकर या अनजाने ही उस स्वर को सुन रहे हैं जो दिन रात कह रहा है, " ओ थके हुये और बोझ से लदे हुये मनुष्यो ! मेरे पास आओ ! " एक ही प्रकार की भाषा अथवा एक ही ढंग से, चाहे वह प्रकाशित न होती हो, किन्तु मुक्ति की ओर हमें आह्वान करने वाली वह वाणी किसी न किसी रूप मे हमारे साथ सदा वर्तमान रहती है। हमारा यहाँ जो जन्म हुआ है वह भी इसी वाणी के कारण; हमारी प्रत्येक गति ही इसी के लिये है। हम जानें या न जाने, किन्तु हम सभी मुक्ति की ओर चल रहे है, जान कर या अनजाने हम उसी वाणी का अनसरण कर रहे है।

उस वाणी का अनुसरण जब हम करते हैं तभी हम नीति-परायण होते हैं। केवल जीवात्मा ही नहीं किन्तु छोटे से छोटे जड़ परमाणु से लेकर ऊँचे से ऊँचे मनुष्यों तक सभी ने वह स्वर सुना है, और सब उसी की दिशा में दौड़े जा रहे है। और इस चेष्टा में या तो हम परस्पर मिल जाते हैं या एक दूसरे को धक्का देते है। और इसी से प्रतिद्वन्द्विता, हर्ष, संघर्ष, जीवन, सुख और मृत्यु आदि उत्पन्न होते हैं और उस वाणी तक पहुँचने के लिये यह जो संघर्ष चल रहा है यह समस्त जगत् उसी का परिणाम मात्र है। यही हम सब करते चल रहे है। यही व्यक्त प्रकृति का परिचय है।

इस वाणी के सुनने से क्या होता है? इससे हमारे सामने का दृश्य परिवर्तित होने लगता है। जैसे ही तुम इस स्वर को सुनते हो और समझते हो कि यह क्या है, वैसे ही तुम्हारे सामने का समस्त दृश्य बदल जाता है। यही जगह जो पहले माया का वीभत्स युद्धक्षेत्र था, अब और कुछ—अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर—हो जाता है। तब फिर हमे प्रकृति को कोसने की कोई आवश्यकता नही रह जाती। जगत् बडा वीभत्स है अथवा यह सब वृथा है यह बात भी कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती; रोने चिल्लाने की भी आवश्यकता नहीं रह जाती। जैसे ही तुम इस स्वर को सुन पाते हो, वैसे ही तुम्हारी समझ में आ जाता है कि यह सब चेष्टा, यह युद्ध, यह प्रतिद्वन्द्विता, यह गडबड, यह निष्ठुरता, यह सब छोटे छोटे सुखों का प्रयोजन क्या है। तब यह स्पष्ट समझ मे आता है कि यह सब प्रकृति क स्वभाव से ही होता है; हम सब जान कर अथवा अनजाने उसी स्वर की ओर अग्रसर हो रहे है, इसीलिये यह सब हो रहा है। अतएव

समस्त मानव जीवन, समस्त प्रकृति उसी एक मुक्तभाव को अभिव्यक्त करने की चेष्टा कर रही है, बस; सूर्य भी उसी ओर चल रहा है, पृथिवी भी उसी के लिये सूर्य के चारों ओर भ्रमण कर रही है, चन्द्र भी इसीलिये पृथिवी के चारों ओर घूम रहा है। उसी स्थान पर पहुँचने के लिये समस्त ग्रह-नक्षत्र भ्रमण कर रहे है और वायु बह रही है। उसी मुक्ति के लिये बिजली तीव्र घोष करती है और उसी के लिये मृत्यु भी चारो ओर घूम फिर रही है। सभी उस दिशा मे. जाने के लिये चेष्टा कर रहे है। साधु लोग भी उसी ओर जा रहे हैं, बिना गये वे रह ही नहीं सकते, उनके लिये यह कोई प्रशंसा की बात नही है। पापी लोगो की भी यही दशा है। खूब दान देने वाला व्यक्ति भी वही सब लक्ष्य बना कर सरल भाव से चल रहा है, बिना चले वह रह ही नहीं सकता; और भयानक कृपण व्यक्ति भी उसी को लक्ष्य बनाकर चल रहा है। जो महासत्कर्मशील हैं उन्होने भी उसी वाणी को सुना है, वे सत्कर्म किये बिना रह ही नहीं सकते, और बड़े आलसी व्यक्ति का भी यही हाल है। एक व्यक्ति का पदस्खलन दूसरे की अपेक्षा अधिक हो सकता है और जिस व्यक्ति का पदस्खलन अधिक होता है उसे हम दुर्बल कहते है और जिसका कम होता है उसे सज्जन या सत् कहते है। अच्छा या बुरा ये दो भिन्न वस्तुये नहीं हैं, बल्कि एक ही है; उनके बीच का भेद प्रकारगत नहीं, परिणामगत है।

अब देखिये, यदि यही मुक्तभाव रूपी शक्ति वास्तव में समस्त जगत् मे कार्य कर रही है तो हमारे विशेष आलोच्य विषय—धर्म में उसका प्रयोग करने पर हम देख पाते हैं—सभी धर्म इसी एक भाव के

द्वारा नियमित हैं। अत्यन्त निम्न कोटि के धर्मों को लीजिये तो शायद किसी मृत पूर्वपुरुष की अथवा किसी निष्ठुर देवता की उपासना हो रही है किन्तु उनके उपास्य इन देवताओ अथवा मृत पूर्वपुरुषों की धारणा क्या है? धारणा यह है कि वे प्रकृति से ऊपर हैं, इस माया के द्वारा वे बद्ध नहीं है। हाँ, प्रकृति के बारे मे उनकी धारणा अवश्य ही सामान्य है। वे केवल आकर्षण और विप्रकर्षण इन दोनो शक्तियो से परिचित है। उपासक, जो कि एक मूर्ख अज्ञानी व्यक्ति है उसकी बिल्कुल स्थूल धारणा है कि वह घर की दीवार को भेद कर नही जा सकता अथवा शून्य मे उड़ नही सकता। अतः इन सब बाधाओ को अतिक्रमण करना या न करना इसके अतिरिक्त शक्ति की उच्चतर धारणा उसे है ही नही; अतएव वह ऐसे देवता की उपासना करता है जो दीवार भेदकर अथवा आकाश मे होकर आ जा सकते है अथवा जो अपना रूप परिवर्तित कर सकते है। दार्शनिक भाव से देखने पर इस प्रकार की देवोपासना मे क्या रहस्य छिपा है? रहस्य यही है कि यहाँ भी वही मुक्ति का भाव मौजूद है, उनकी देवता की धारणा परिज्ञात प्रकृति की धारणा से उन्नत है। और जो उनसे अधिक उन्नत देवों के उपासक है उनकी भी उसी मुक्ति की दूसरे प्रकार की धारणा है। जैसे जैसे प्रकृति के सम्बन्ध में हमारी धारणा उन्नत होती जाती है वैसे ही प्रकृति के प्रभु आत्मा के सम्बन्ध मे भी वह उन्नत होती जाती है; अन्त मे हम एकेश्वरवाद मे पहुँच जाते है। यही माया— यही प्रकृति रह जाती है, और इसी माया के एक प्रभु रह जाते है— यही हमारी आशा का स्थल है।

जहाँ पहले पहल इस एकेश्वरवाद के सूचक भाव का आरम्भ होता है वही वेदान्त का भी आरम्भ हो जाता है। वेदान्त इससे भी अधिक गम्भीर अन्वेषण करना चाहता है। वह कहता है—इस माया प्रपञ्च के पीछे जो एक आत्मा मौजूद है। जो माया का स्वामी है पर जो माया के अधीन नहीं है, वह हमे अपनी ओर आकर्षित कर रहा है और हम सब भी धीरे धीरे उसी की ओर चल रहे है; यह धारणा तो ठीक ही है, किन्तु अभी भी यह धारणा शायद स्पष्ट नही हुई है, अभी तक यह दर्शन अस्पष्ट और अस्फुट है यद्यपि वह स्पष्ट रूप से युक्तिविरोधी नही है। जिस प्रकार आपके यहाँ प्रार्थना मे कहा जाता है—'मेरे ईश्वर, तेरे अति निकट,' (Nearer, my God, to Thee) वेदान्ती भी ऐसे ही प्रार्थना करेगा, केवल एक शब्द बदलकर—'मेरे ईश्वर, मेरे अति निकट (Nearer, my God, to Me)'। हमारा चरम लक्ष्य बहुत दूर है, बहुत दूर; प्रकृति से अतीत प्रदेश मे, और हम उसके निकट धीरे धीरे अग्रसर हो रहे है; इस दूरी के भाव को धीरे धीरे हमें और अपने निकट लाना होगा किन्तु आदर्श की पवित्रता और उच्चता को अक्षुण्ण रखते हुये। मानो यह आदर्श क्रमशः हमारे निकटतर होता जाता है—अन्त मे स्वर्ग का ईश्वर मानो प्रकृतिस्थ ईश्वर बन जाता है, फिर प्रकृति मे और ईश्वर मे कोई भेद नही रहजाता, वही मानो इस देह-मन्दिर के अधिष्ठातृदेवता के रूप में, और अन्त मे इसी देवमन्दिर के रूप मे जाना जाता है और वही मानो अन्त मे जीवात्मा और मनुष्य के रूप मे सामने आता है। और यही वेदान्त की शिक्षा का अन्त है। जिसको ऋषिगण विभिन्न स्थानों मे खोजा करते थे वह तुम्हारे अन्दर ही है। वेदान्त कहता है—तुमने जो वाणी सुनी थी वह ठीक

सुनी थी, किन्तु उसे सुनकर तुम ठीक मार्ग पर नहीं चले। जिस मुक्ति के महान् आदर्श का तुमने अनुभव किया था वह सत्य है, किन्तु उसे बाहर की ओर खोजकर तुमने भूल की। इसी भाव को अपने निकट और निकटतर लाते चलो जब तक कि तुम यह न जान लो कि यह मुक्ति, यह स्वाधीनता तुम्हारे अन्दर ही है, वह तुम्हारी आत्मा की अन्तरात्मा है। यह मुक्ति बराबर तुम्हारा स्वरूप ही था, और माया ने तुम्हे कभी भी आक्रान्त नहीं किया। तुम्हारे ऊपर शक्ति विस्तार करने की माया की कभी सामर्थ्य ही न थी। बालक को भय दिखाने पर जो बात होती है उसी प्रकार तुम भी स्वप्न देख रहे थे कि प्रकृति तुम्हे नचा रही है और इससे मुक्त होना तुम्हारा लक्ष्य है। केवल इसे बुद्धि से जानना ही नहीं, प्रत्यक्ष करना, अपरोक्ष करना, हम इस जगत् को जितने स्पष्ट रूप से देखते है उससे अधिक स्पष्ट रूप से देखना। तभी हम मुक्त होंगे, तभी हमारी गड़बड़ समाप्त होगी; तभी हृदय की समस्त चञ्चलता स्थिर हो जायगी, तभी सारा टेढापन सीधा हो जायगा, तभी यह बहुत्वभ्रान्ति चली जायगी, तभी यह प्रकृति, यह माया अभी के भयानक अवसादकारक स्वप्न न होकर अति सुन्दर रूप मे दीखेगी, और यह जगत् जो इस समय कारागार के समान प्रतीत हो रहा है वह ऐसा न होकर क्रीड़ाक्षेत्र के रूप मे दीख पड़ेगा, तब सब विपत्तियॉ, विशृंखलाये, और तो और, हम जो सब यन्त्रणाये भोग रहे है वे भी ब्रह्मभाव मे परिणत हो जायॅगी—उस समय वे अपने प्रकृत स्वरूप मे दीख पड़ेगी—सभी वस्तुओ के पीछे, सभी का सारसत्ता स्वरूप वह मौजूद है ऐसा मालूम पडेगा और मालूम पड़ेगा कि वही हमारा वास्तविक अन्तरात्मा स्वरूप है।

---

७. ब्रह्म और जगत्

अद्वैत वेदान्त के इस विषय की धारणा करना अत्यन्त कठिन है कि जो ब्रह्म अनन्त है वह सान्त अथवा ससीम किस प्रकार हुआ। यह प्रश्न मनुष्य सर्वदा करता रहेगा किन्तु जीवन भर इस प्रश्न का विचार करते रहने पर भी उसके हृदय से यह प्रश्न कभी दूर नही होगा—जो असीम है वह सीमित कैसे हुआ? मैं अब इसी प्रश्न को लेकर आलोचना करूँगा। इसको ठीक प्रकार से समझाने के लिये मैं नीचे दिये हुये चित्र की सहायता लूँगा।

(क) ब्रह्म
(ग) देश काल निमित्त
(ख) जगत्

इस चित्र मे (क) ब्रह्म है और (ख) है जगत्। ब्रह्म ही जगत् हो गया है। यहाँ पर जगत् शब्द से केवल जड जगत् ही नही किन्तु सूक्ष्म तथा आध्यात्मिक जगत् भी उसके साथ ग्रहण करना होगा—स्वर्ग, नरक—एक शब्द मे, जो कुछ भी है जगत् शब्द से यह समस्त ही लिया जायगा। मन एक प्रकार के परिणाम का नाम है, शरीर एक दूसरे प्रकार के परिणाम का—इत्यादि, इत्यादि। यही सब कुछ लेकर जगत् है। यही ब्रह्म (क) जगत् (ख) बन गया है—देश-काल-निमित्त (ग) मे से होकर आने से, यही अद्वैतवाद की मूल बात है। देश-काल-निमित्त रूपी काँच मे से हम ब्रह्म को देखते है, और इस प्रकार नीचे की ओर से देखने से ब्रह्म हमे जगत् के रूप मे दीखता है। इससे यह स्पष्ट है कि जहाँ ब्रह्म है वहाँ देश-काल-निमित्त नही है। काल वहाँ रह नहीं सकता, कारण

कि वहाँ न मन है, न चिन्ता। देश भी वहाँ नहीं रह सकता, क्योंकि वहाँ कोई परिणाम नहीं है। गति एवं निमित्त अथवा कार्यकारण-भाव भी वहाँ नहीं रह सकता जहाँ एक मात्र सत्ता विराजमान है। यही बात समझना और अच्छी तरह धारणा बनाना हमारे लिये अत्यावश्यक है कि जिसको हम कार्यकारणभाव कहते है वह ब्रह्म के प्रपञ्च रूप में अवनत भाव को प्राप्त होने के बाद (यदि हम इस भाषा का प्रयोग करे तो) ही होता है, उससे पहले नहीं; और हमारी इच्छा वासना आदि जो कुछ है वह सब उसके बाद आरम्भ होता है। मेरी बराबर यही धारणा रही है कि शोपेनहावर (Schopenhauer) वेदान्त के समझने मे यहीं-पर भ्रम में पड़ गये है कि उन्होंने इस 'इच्छा' को ही सर्वस्व मान लिया है। वे ब्रह्म के स्थान मे इस 'इच्छा' को ही बैठाना चाहते है। किन्तु पूर्ण ब्रह्म का कभी भी 'इच्छा' (Will) कह-कर वर्णन नहीं किया जा सकता, कारण, इच्छा जगत्प्रपञ्च के अन्त-गर्त है और इसीलिये परिणामशील है, किन्तु ब्रह्म मे ('ग' के अर्थात् देश-काल-निमित्त के ऊपर) किसी प्रकार की गति नहीं है, किसी प्रकार का परिणाम नही है। इस (ग) के नीचे ही गति है—बाह्य और आभ्यन्तर सभी प्रकार की गति का आरम्भ इसके नीचे ही है और इसी आभ्यन्तरिक गति को ही चिन्ता कहते है। अतः (ग) के ऊपर किसी प्रकार की इच्छा नहीं रह सकती, अतएव 'इच्छा' जगत् का कारण नहीं हो सकती। और भी निकट आकर देखो; हमारे शरीर की सभी गतियाँ इच्छा से प्रेरित नही होतीं। मैं इस कुर्सी को उठाता हूँ। यहाँ पर इच्छा अवश्य ही उठाने का कारण है। यह इच्छा ही पेशियों की शक्ति के रूप में परिणत हो गई है। यह बात ठीक है। किन्तु जो शक्ति कुर्सी उठाने का कारण है वही शक्ति

हृदय मे फेफड़ों को भी चला रही है किंतु 'इच्छा' के रूप में नहीं। इन दोनों शक्तियों को एक मान लेने पर भी जिस समय यह ज्ञान की भूमि मे आती है उसी समय 'इच्छा' कहलाती है, किन्तु इस भूमि मे आरोहण करने के पहले इसको 'इच्छा' नाम से पुकारना भूल होगी। इसी कारण से शोपेनहावर के दर्शन मे बड़ी गडबड़ी हो गई है। इसके वजाय यदि हम 'प्रज्ञा' और 'संवित्' दो शब्दों का प्रयोग करे तो अधिक उपयुक्त होगा। ये दो शब्द मन की सभी प्रकार की अवस्थाओं के सम्बन्ध मे व्यवहृत हो सकते है। प्रज्ञा और संवित् ठीक ठीक ज्ञान की अवस्था अथवा ज्ञान के पूर्व की अवस्था नहीं है, किन्तु इसे मानसिक परिणामसमूह का एक साधारण भाव कहा जा सकता है।

जो हो, इस समय हम यह विचार करेगे कि हम कोई प्रश्न क्यों करते हैं? एक पत्थर गिरा और हमने प्रश्न किया, इसके गिरने का क्या कारण है? इस प्रश्न का औचित्य अथवा सम्भावना इस अनुमान अथवा धारणा के ऊपर निर्भर करता है कि जो कुछ होता है उसके पहले ही और कुछ हुआ है या हो चुका है। मेरा अनुरोध है कि इस धारणा को आप अपने मन मे खूब स्पष्ट रखिये, कारण, जैसे ही हम प्रश्न करते हैं कि यह घटना क्यो हुई, वैसे ही हम मान लेते है कि सभी वस्तुओं का, सभी घटनाओं का एक 'क्यों' रहता ही है। अर्थात् उसके घटने के पहले और कुछ उसका पूर्ववर्ती रहेगा ही। इसी पूर्ववर्तिता और परवर्तिता को ही निमित्त अथवा 'कार्यकारणभाव' कहते हैं। और जो कुछ हम देखते, सुनते और अनुभव करते है, सक्षेप मे जगत् का सभी कुछ, एक वार कारण और एक वार कार्य वनता है। एक वस्तु अपने बाद आने वाली वस्तु का कारण वनती है

और वही वस्तु अपनी पूर्ववर्ती किसी अन्य वस्तु का कार्य भी है। इसी को कार्यकारण कहते है। यही हमारा स्थिर विश्वास है। हमारा विश्वास है कि जगत् के प्रत्येक परमाणु का अन्य सभी वस्तुओं के साथ जैसा भी कुछ क्यों न हो, कोई न कोई सम्बन्ध रहता ही है। हमारी यह धारणा किस प्रकार से बन गई इस बात को लेकर बहुत वाद-विवाद हो चुके है। योरप में अनेक सहज प्राज्ञ (Intuitive) दार्शनिक है जिनका यह विश्वास है कि यह मानव जाति की स्वाभाविक धारणा है और बहुत से लोगों का विचार है कि यह धारणा अनुभवजनित है किन्तु इस प्रश्न की मीमांसा अभी तक हो नही पाई। वेदान्त इसकी क्या मीमांसा करता है यह हम बाद में देखेंगे। अतएव पहले तो हमे यह समझना है कि 'क्यों' का प्रश्न इस धारणा के ऊपर निर्भर रहता है कि इसके पूर्व कुछ हो चुका है और इसके बाद भी कुछ होगा। इसी प्रश्न में एक अन्य विश्वास भी अन्तर्निहित रहता है कि जगत् का कोई भी पदार्थ स्वतंत्र नहीं है, सभी पदार्थों के ऊपर उनके बाहर स्थित अन्य कोई पदार्थ भी कार्य कर सकता है। जगत् के सभी पदार्थ इसी प्रकार परस्पर सापेक्ष है—एक दूसरे के आधीन हैं—कोई भी स्वतंत्र नहीं है। जब हम कहते है कि "ब्रह्म के ऊपर किस शक्ति ने कार्य किया?" तब हम यह भूल करते है कि हम ब्रह्म को जगत् के अन्तर्गत किसी वस्तु के समान मान बैठते है। यह प्रश्न करते ही हमे यह अनुमान करना पड़ेगा कि वह ब्रह्म भी किसी अन्य वस्तु के आधीन है—वह निरपेक्ष ब्रह्मसत्ता भी किसी अन्य वस्तु के द्वारा बद्ध है। अर्थात् ब्रह्म, अथवा 'निरपेक्ष सत्ता' शब्द को हम जगत् के समान समझते है। ऊपर बताई हुई रेखा के ऊपर तो देश-काल-निमित्त है ही नहीं; कारण, वह एकमेवाद्वितीयम्—मन के अतीत वस्तु

है। जो केवल अपने अस्तित्व मे स्वयं ही प्रकाशित है, जो एक मात्र, एकमेवाद्वितीयम् है उसका कोई कारण हो ही नहीं सकता। जो मुक्तस्वभाव है, स्वतंत्र है उसका कोई कारण नही हो सकता, क्योकि, ऐसा होने पर वह मुक्त नहीं रहेगा, बद्ध हो जायगा। जिसके भीतर आपेक्षिकता है वह कभी मुक्तस्वभाव नहीं हो सकता। अतएव अब आपने देख लिया कि अनन्त सान्त कैसे हुआ, यह प्रश्न ही भ्रमात्मक और स्वविरोधी है।

यह सब सूक्ष्म विचार छोड़ कर सीधे सादे भाव से भी हम इस विषय को समझा सकते है। मान लो, हमने समझ लिया कि ब्रह्म किस प्रकार जगत् हो गया, अनन्त किस प्रकार सान्त हो गया, तब क्या ब्रह्म ब्रह्म ही रह गया, और क्या अनन्त अनन्त ही रह गया? ऐसा होने पर अनन्त सान्त ही हो गया। साधारण रूप से हम ज्ञान किसे कहते है? जो कोई विषय हमारे मन के विषयीभूत हो जाता है अर्थात् मन के द्वारा सीमाबद्ध हो जाता है वही हम जान सकते है, और जब वह हमारे मन के बाहर रहता है अर्थात् मन का विषय नहीं रहता तब हम उसे नहीं जान सकते। अब यह स्पष्ट हो गया कि यदि यही अनन्त ब्रह्म मन के द्वारा सीमाबद्ध हो गया तो फिर अब वह अनन्त नही रहा, वह सान्त हो गया। मन के द्वारा जो कुछ भी सीमाबद्ध है वह सभी ससीम है। अतएव, उसी 'ब्रह्म को जानना' यह बात भी स्वविरोधी ही है। इसीलिये इस प्रश्न का उत्तर अब तक नहीं मिला; कारण, यदि उत्तर मिल जाय तो वह असीम नही रहेगा; ईश्वर 'ज्ञात' हो जाय तो उसका ईश्वरत्व नहीं रह सकता—वह हमारे ही समान एक व्यक्ति हो जायगा—इस कुर्सी के समान एक

वस्तु बन जायगा। उसको जाना नहीं जा सकता, वह सर्वदा ही अज्ञेय है। किन्तु तब भी अद्वैतवादी कहते हैं कि वह केवल 'ज्ञेय' ही नहीं, उससे भी विशिष्ट और कुछ है। अब हमें इस बात को समझना होगा। आपको यह नहीं समझना चाहिये कि अज्ञेयवादियों के ईश्वर के समान वह अज्ञेय है। दृष्टान्त स्वरूप देखो—सामने यह कुर्सी है, उसे मै जानता हूँ—वह मेरा ज्ञात पदार्थ है। और आकाश के बाहर क्या है, वहाँ कुछ लोगो की बस्ती है कि नहीं, यह बात शायद विल्कुल ही अज्ञेय है। किन्तु ईश्वर इन दोनों पदार्थों की भाँति ज्ञेय भी नहीं है और अज्ञेय भी नहीं। किन्तु ईश्वर जिसे हम 'ज्ञात' कहते हैं उससे और भी कुछ अधिक ज्ञात है—ईश्वर को अज्ञात वा अज्ञेय कहने से यही समझा जाता है, किन्तु जिस अर्थ में कुछ लोग कुछ प्रश्नों को अज्ञात या अज्ञेय कहते हैं उस अर्थ मे नहीं। ईश्वर ज्ञात से भी अधिक और कुछ है। यह कुर्सी हमारे लिये ज्ञात है, किन्तु हमारे लिये ईश्वर इससे भी अधिक ज्ञात है, कारण, पहले उसे जान कर—उसी के भीतर से—हमें कुर्सी का ज्ञान प्राप्त करना होता है, क्योंकि वह साक्षी स्वरूप है, सभी ज्ञान का वह अनन्त साक्षी स्वरूप है। हम जो कुछ भी जानते है, पहले उसे जान कर—उसी के भीतर से—जानते है। वही हमारी आत्मा का सार सत्ता स्वरूप है। वही वास्तविक 'अहं' है—वही 'अहं' हमारे इस 'अहं' का सार सत्ता स्वरूप है; हम उस 'अहं' के भीतर से जाने विना कुछ भी नही जान सकते, अतएव सभी कुछ हमे ब्रह्म के भीतर से ही जानना पड़ेगा। अतएव इस कुर्सी को जानना होगा तो उसे ब्रह्म के भीतर से ही जानना होगा। अतएव ब्रह्म कुर्सी की अपेक्षा हमारे अधिक निकट हुआ, किन्तु फिर भी वह हमारे निकट

होने से बहुत ऊँचे पर रह गया। ज्ञात भी नहीं, अज्ञात भी नहीं किन्तु दोनों की अपेक्षा अनन्त गुना ऊँचा। वह तुम्हारा आत्म-स्वरूप है। कौन इस जगत में एक क्षण भी जीवन धारण कर सकता, कौन इस जगत में एक क्षण को भी श्वास-प्रश्वास के कार्य का निर्वाह कर पाता यदि वह आनन्दस्वरूप इसके प्रति-परमाणु में विराजमान न रहता? कारण, उसी की शक्ति से हम श्वास-प्रश्वास का कार्य निर्वाहित करते हैं और उसी के अस्तिव से हमारा भी अस्तित्व है। वह कोई एक विशेष स्थान पर बैठकर हमारा रक्त-सञ्चालन कर रहा है ऐसी बात नही है। तात्पर्य यही है कि वही समुदय जगत का सत्तास्वरूप है, वह हमारी आत्मा की भी आत्मा है; आप किसी प्रकार भी यह नहीं कह सकते कि आप उसे जानते हैं—इससे उसको बहुत नीचे गिराना हो जाता है। आप हठात् अपने भीतर से बाहर नहीं आसकते, अतएव आप उसे जान भी नहीं सकते। ज्ञान शब्द से 'विषयीकरण' (Objectification)—वस्तु को बाहर लाकर विषय की भाँति (ज्ञेय वस्तु की भाँति) प्रत्यक्ष करना समझा जाता है। उदाहरण स्वरूप देखिये, स्मरण करने मे आप बहुतसी वस्तुओं को 'विषयीकृत' करते हैं—मानो आप अपने ही स्वरूप को बाहर प्रक्षेप करते हैं! सभी प्रकार की स्मृति—जो कुछ मैंने देखा है और जो कुछ मैं जानता हूँ, सभी मेरे मन मे अवस्थित है। इन सभी वस्तुओं की छाप या चित्र मेरे भीतर मौजूद है। जब मैं उनके विषय में सोचने की इच्छा करता हूँ, उनको जानना चाहता हूँ तो पहले इन सब को मानो बाहर प्रक्षेप करना पड़ता है। ईश्वर के सम्बन्ध मे ऐसा करना असम्भव है, कारण वह हमारी आत्मा का आत्मा स्वरूप है, हम उसे बाहर प्रक्षेप नहीं कर पाते। छान्दोग्य उपनिषद मे कहा

है—'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो,' जिसका अर्थ है, 'वही सूक्ष्म स्वरूप जगत का कारण, सकल वस्तुओं का आत्मा, वही सत्य स्वरूप है, हे श्वेतकेतो, तुम वही हो।' यही 'तत्वमसि' वाक्य वेदान्त में सब से अधिक पवित्र वाक्य—महावाक्य—कहलाता है और इस पूर्वोक्त वाक्यांश के द्वारा 'तत्वमसि' का वास्तविक अर्थ क्या है यह भी स्पष्ट हो गया। 'तुम्ही वह हो' इसके अतिरिक्त ईश्वर की और किसी भाषा द्वारा आप वर्णन नहीं कर सकते। भगवान को पिता, माता, भाई या प्रिय मित्र कहने से उसको 'विषयीकृत' करना पडता है—उसको बाहर लाकर देखना पड़ता है—जो कभी हो ही नहीं सकता। वह तो सभी विषयों का अनन्त विषयी है। जिस प्रकार मै जब इस कुर्सी को देखता हूँ तो मै कुर्सी का द्रष्टा हूँ—मै उसका विषयी हूँ, उसी प्रकार ईश्वर मेरी आत्मा का नित्य द्रष्टा है—नित्य ज्ञाता है—नित्य विषयी है। किस प्रकार आप उसको—अपनी आत्मा के अन्तरात्मा को—सब वस्तुओं की सार सत्ता को 'विषयीकृत' करेंगे, बाहर लाकर देखेगे? इसीलिये मै आप से फिर कहता हूँ कि ईश्वर ज्ञेय भी नहीं है, अज्ञेय भी नहीं है, वह ज्ञेय और अज्ञेय दोनों से अत्यन्त ऊँचा है—वह हमारे साथ अभिन्न है, ओर जो हमारे साथ एक है वह हमारे लिये ज्ञेय अथवा अज्ञेय कुछ नहीं हो सकता, जैसे तुम्हारी आत्मा या मेरी आत्मा ज्ञेय अथवा अज्ञेय कुछ नहीं है। आप अपनी आत्मा को नही जान सकते, आप उसे हिला डुला नहीं सकते, न उसे 'विषय' करके दृष्टिगोचर कर सकते हैं, कारण, आप स्वयं वही हैं, आप अपने को उससे पृथक नहीं कर सकते। आप उसको अज्ञेय भी नहीं कह सकते, क्योंकि अज्ञेय कहते ही प्रथम उसे विषय बनाना पड़ेगा—और यह हो नहीं सकता। आप

अपने निकट स्वयं जितने परिचित या ज्ञात है उससे अधिक कौन सी वस्तु आपको ज्ञात है ? वास्तव मे वह हमारे ज्ञान का केन्द्ररूप है। ठीक इसी प्रकार कहा जा सकता है कि ईश्वर ज्ञात भी नही है, अज्ञात भी नही, वह इन दोनो की अपेक्षा अनन्त गुना ऊँचा है, कारण, वही हमारी आत्मा का अन्तरात्मा स्वरूप है।

अतएव हमने देखा कि पहले तो यह प्रश्न ही स्वविरोधी है कि पूर्णब्रह्मसत्ता से जगत किस प्रकार उत्पन्न हुआ और दूसरे, हम यह भी देखते हैं कि अद्वैतवाद मे ईश्वर की धारणा यही एकत्व है—अत: हम उसको विषयीकृत नहीं कर सकते, कारण, जान बूझकर या अनजाने, हम सदा ही उसी में जीवित और उसी मे रहकर समस्त कार्यकलाप करते है। हम जो कुछ भी करते हैं सब उसके भीतर से ही करते हैं। अब प्रश्न यह है कि देश-काल-निमित्त क्या है ? अद्वैतवाद का मर्म तो यही है कि एक ही वस्तु है, दो नहीं। किन्तु फ़िर हम कहते है कि वही अनन्त ब्रह्म देश-काल-निमित्त के आवरण के द्वारा नाना रूप मे प्रकाशित हो रहा है। अत: अब यह मालूम होता है कि दो वस्तुये है, एक तो वह अनन्त ब्रह्म और दूसरी देश-काल-निमित्त की समष्टि अर्थात् माया। आपातत: दो वस्तुये हैं, यही स्थिर सिद्धान्त मालूम होता है। अद्वैतवादी इसका उत्तर देते है कि वास्तव में इस प्रकार दो नहीं हो सकते। यदि दो वस्तुयें मानेगे तो ब्रह्म की भॉति—जिसके ऊपर कोई निमित्त कार्य नहीं कर सकता—दो स्वतन्त्र सत्ताये माननी पड़ेगी। प्रथम तो काल, देश और निमित्त ये तीनों ही स्वतन्त्र सत्ता नहीं हो सकतीं, काल तो बिलकुल ही स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; हमारे मन के प्रत्येक

परिवर्तन के साथ उसका परिवर्तन होता है। कभी कभी हम स्वप्न में देखते है कि हम कई वर्ष निरन्तर जी रहे है, और कभी कभी ऐसा बोध होता है कि कई मास एक ही क्षण मे गुज़र गये है।

अतएव हमने देखा कि काल आपके मन की अवस्था के ऊपर पूर्ण रूप से निर्भर रहता है। दूसरे, काल का ज्ञान कभी कभी बिलकुल ही नही रहता, और फिर आ जाता है। देश के सम्बन्ध मे भी यही बात है। हम देश का स्वरूप नहीं जान सकते। तथापि, उसका निर्दिष्ट लक्षण करना असम्भव होने पर भी वह है—इस बात को अस्वीकार करने का कोई उपाय नही है—वह अन्य किसी पदार्थ से पृथक हो कर रह नहीं सकता। निमित्त अथवा कार्य-कारण भाव के सम्बन्ध मे भी यही बात है। इन देश, काल और निमित्त मे हम यही एक विशेषता देखते है कि ये अन्यान्य वस्तुओं से पृथक होकर नहीं रह सकते। आप शुद्ध 'देश' की कल्पना कीजिये कि जिसमे न कोई रंग है, न सीमा, चारों ओर रहने वाली किसी भी वस्तु से जिसका कोई संसर्ग नही है। आप इसकी कल्पना कर ही नहीं सकते। आपको देश सम्बन्धी विचार करते ही दो सीमाओ के बीच अथवा तीन वस्तुओं के बीच स्थित देश की चिन्ता करनी होगी। अतः हमने देखा कि देश का अस्तित्व अन्य किसी वस्तु के ऊपर निर्भर रहता है। काल के सम्बन्ध मे भी यही बात है। शुद्ध काल के सम्बन्ध मे आप कोई धारणा नही कर सकते। काल की धारणा करने पर आपको एक पूर्ववर्ती और एक परवर्ती घटना लेनी पड़ेगी और काल की धारणा के द्वारा उन दोनों को मिलाना होगा। जिस प्रकार देश बाहर रहने वाली दो वस्तुओं पर निर्भर रहता है इसी प्रकार

काल भी दो घटनाओं पर निर्भर रहता है। और 'निमित्त' अथवा 'कार्यकारण भाव' की धारणा इन देश और काल के ऊपर निर्भर रहती है। 'देश-काल-निमित्त' इन सब के भीतर विशेषत्व यही है कि इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इस कुर्सी अथवा उस दीवार का जैसा अस्तित्व है उनका वैसा भी नहीं है। वे जैसे सभी वस्तुओं के पीछे लगी हुई छाया के समान है, आप किसी प्रकार भी उन्हे पकड़ नहीं सकते। उनकी तो कोई सत्ता नहीं है—हम देख चुके है कि उनका वास्तविक अस्तित्व ही नहीं है—अधिक से अधिक वे छाया के समान है। और, वे कुछ भी नही है यह भी नहीं कहा जा सकता; कारण, उन्हीं के द्वारा जगत् का प्रकाश हो रहा है—ये तीनो मानो स्वभावत: ही मिल कर नाना रूपों की उत्पत्ति कर रहे है। अतएव पहले हमने देखा कि इन देश-काल-निमित्त की समष्टि का अस्तित्व भी नहीं है और वे बिलकुल असत् (अस्तित्व शून्य) भी नही है। दूसरे, ये कभी कभी बिलकुल ही अन्तर्हित हो जाते है। उदाहरण स्वरूप समुद्र की तरंगों को लीजिये। तरग अवश्य ही समुद्र के साथ अभिन्न है तथापि हम उसको तरंग कहकर समुद्र से पृथक रूप मे जानते हैं। इस विभिन्नता का कारण क्या है—नाम रूप। नाम अर्थात् उस वस्तु के सम्बन्ध मे हमारे मन मे जो एक धारणा रहती है; और रूप अर्थात् आकार। फिर क्या तरंग को समुद्र से बिलकुल पृथक रूप मे हम सोच सकते है? कभी नहीं। वह सदा ही इसी समुद्र की धारणा के ऊपर निर्भर रहती है। यदि यह तरग चली जाय, तो रूप भी अन्तर्हित हो गया, किन्तु यह रूप बिलकुल ही भ्रमात्मक था, यह बात नही। जब तक यह तरंग थी तब तक यह रूप था और आप को बाध्य होकर यह

रूप देखना पड़ता था—यही माया है। अतएव यह समुदय जगत् उसी ब्रह्म का एक विशेष रूप है। ब्रह्म ही वह समुद्र है और तुम और मैं, सूर्य, तारे सभी उस समुद्र मे विभिन्न तरंग मात्र है। तरंगों को समुद्र से पृथक् कौन करता है? वही रूप; और वह रूप है केवल देश-काल-निमित्त। ये देश-काल-निमित्त भी सम्पूर्ण रूप से इन तरंगो के ऊपर निर्भर रहते है। तरंगें जैसे ही चली जाती है वैसे ही ये भी अन्तर्हित हो जाते हैं। जीवात्मा ज्योंही इस माया का परित्याग कर देता है उसी समय उसके लिये वह अन्तर्हित हो जाती है और वह मुक्त हो जाता है। हमारी सभी चेष्टाये इन देश-काल-निमित्त के अतीत होने के लिये होनी चाहिय। वे सदा ही हमारी उन्नति के मार्ग में बाधा डाल रहे हैं और हम सदा ही उनका ग्रास बनने से अपने को बचा रहे हैं। विद्वान लोग क्रमविकासवाद (Theory of Evolution) किसको कहते हैं? इसके भीतर दो बाते है। एक तो यह कि एक प्रबल अन्तर्निहित गूढ़ शक्ति अपने को प्रकाशित करने की चेष्टा कर रही है और बाहर की अनेक घटनाये उसमे बाधा पहुँचाती है—आस पास की परिस्थितियाँ उसको प्रकाशित नहीं होने दे रही हैं। अतः इन परिस्थितियों से युद्ध करने के लिये यह शक्ति नये नये शरीर धारण कर रही है। एक क्षुद्रतम कीटाणु उन्नत होने की चेष्टा मे एक और शरीर धारण करता है एव कितनी ही बाधाओं को पराजित करके रहता है, और इसी प्रकार भिन्न भिन्न शरीर धारण करते हुय अन्त में मनुष्य रूप में परिणत हो जाता है। अब यदि इसी तत्व को उसके स्वाभाविक चरम सिद्धान्त पर ले जाया जाय तो यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि ऐसा समय आयेगा जब

कि जो शक्ति कीटाणु के भीतर क्रीडा कर रही थी और जो अन्त में मनुष्य के रूप में परिणत हो गई वह सभी बाधाओ को अतिक्रमण करेगी, बाहर की घटनाये उसको फिर बाधा नहीं पहुँचा पायेगी। इसी बात को दार्शनिक भाषा मे इस प्रकार कहना होगा— प्रत्येक कार्य के दो अश होते हैं; एक विषयी, दूसरा विषय। एक व्यक्ति ने मेरा तिरस्कार किया, मैंने अपने को दुःखी अनुभव किया— यहाँ भी ये ही दो बाते है, और हमारे सारे जीवन की चेष्टा क्या है? यही न कि अपने मन को इतनी दूर तक सरल कर लेना कि जिससे बाहर की परिस्थितियों पर हम अपना आधिपत्य कर सके, अर्थात् उनके द्वारा हमारा तिरस्कार होने पर भी हम किसी कष्ट का अनुभव न करें। इसी प्रकार हम प्रकृति को पराजित करने की चेष्टा कर रहे है। नीति का अर्थ क्या है? 'अपने' को दृढ करना—उसे क्रमशः सभी प्रकार की परिस्थितियों को सहन कराना, जैसे आपका विज्ञान कहता है कि कुछ समय के बाद मनुष्य-शरीर सभी अवस्थाओ को सहन करने में समर्थ होगा, और यदि विज्ञान की यह बात सत्य हो तो हमारे दर्शन का यही सिद्धान्त (अर्थात् एक ऐसा समय आयेगा जब हम सभी परिस्थितियों के ऊपर विजय प्राप्त कर सकेगे) आकाट्य युक्ति पर स्थापित हो गया, यही कहना पड़ेगा; कारण, प्रकृति सीमित है।

यह बात भी अब समझनी होगी कि प्रकृति ससीम है। 'प्रकृति ससीम है,' कैसे जाना? दर्शन के द्वारा यह जाना जाता है कि प्रकृति उस अनन्त का ही सीमाबद्ध भाव मात्र है। अतएव वह सीमित है। अतएव एक समय ऐसा आयेगा जब हम बाहर की परि-

स्थितियों पर विजय प्राप्त कर सकेंगे। उनको पराजित करने का उपाय क्या है ? वास्तव मे तो हम बाहर के विषयों में परिवर्तन उत्पन्न करके उनके ऊपर विजय प्राप्त कर नहीं पाते। छोटी सी मछली जल मे रहने वाले अपने शत्रुओं से अपनी रक्षा करना चाहती है। किस प्रकार वह इस कार्य को करती है ? आकाश मे उड़ कर, पक्षी बन कर। मछली ने जल अथवा वायु में कोई परिवर्तन नहीं किया—जो कुछ भी परिवर्तन हुआ वह उसके अपने अन्दर ही हुआ। परिवर्तन सदा 'अपने' अन्दर ही होता है। इसी प्रकार हम देखते है कि समस्त क्रमविकास मे परिवर्तन 'अपने' अन्दर ही होते होते, प्रकृति पर विजय प्राप्त हो रही है। इसी तत्व का धर्म और नीति में प्रयोग करो तो देखोगे कि यहाँ भी 'अशुभजय' 'अपने' भीतर परिवर्तन के द्वारा ही साधित हो रही है। सभी कुछ 'अपने' ऊपर निर्भर रहता है। यह 'अपने' के ऊपर ज़ोर डालना ही अद्वैतवाद की वास्तविक दृढ भूमि है। 'अशुभ, दुःख' यह सब बात कहना ही भूल है, कारण, बहिर्जगत् मे इनका कोई अस्तित्व नहीं है। क्रोध के कारणों के बार बार होने पर भी इन सब घटनाओं मे स्थिर भाव से रहने का यदि हमे अभ्यास होजाय, तो हमारे अन्दर क्रोध का उद्रेक कभी नहीं होगा। इसी प्रकार लोग मुझसे चाहे कितनी ही घृणा करे, यदि मै उसका अपने ऊपर प्रभाव नही लेता, तो मेरा भी उनके प्रति घृणाभाव उत्पन्न नहीं होगा। इसी प्रकार 'अशुभजय' करना पड़ता है—'अपनी' उन्नति का साधन करके। अतएव आप देखते है कि अद्वैतवाद ही एकमात्र ऐसा धर्म है जो आधुनिक वैज्ञानिकों के सिद्धान्तों के साथ भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही दिशाओं मे मिल जाता है, इतना ही

नही वरन् इन सभी सिद्धान्तो से भी उच्चतर सिद्धान्तो को स्थापित करता है और इसी कारण से यह आधुनिक वैज्ञानिको को बहुत भाता है। वे देखते है कि प्राचीन द्वैतवादी धर्म उनके लिये पर्याप्त नहीं है, उनसे उनकी ज्ञान की भूख नहीं मिटती। किन्तु इस अद्वैतवाद मे उनके ज्ञान की भूख मिटती है। केवल दृढ़ विश्वास रहने से ही मनुष्य का काम नहीं चलेगा, ऐसा विश्वास होना चाहिये जिससे उसकी ज्ञानवृद्धि चरितार्थ हो। यदि मनुष्य से जो कुछ वह देखे उसी पर विश्वास करने को कहा जाय तो वह शीघ्र ही पागलखाने मे चला जायगा। एक बार एक महिला ने मेरे पास एक पुस्तक भेजी—उसमे लिखा था, सभी बातों पर विश्वास करना उचित है। उसमे यह भी लिखा था कि मनुष्य की आत्मा अथवा इस प्रकार की अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। किन्तु स्वर्ग मे देव-देवियाँ हैं और एक प्रकाश का सूत्र हममे से प्रत्येक के मस्तक के साथ स्वर्ग का संयोग कर रहा है। लेखिका को इन सब बातो का पता कैसे लगा? उन्होने प्रत्यादिष्ट होकर इन सब तत्वो को जाना था और उन्होने मुझसे भी इनपर विश्वास करने को कहा था। जब मैंने उनकी इन सब बातो पर विश्वास करना अस्वीकार कर दिया तब उन्होने कहा—"तुम अवश्य ही बड़े दुराचारी हो—तुम्हारे लिये अब कोई आशा नहीं है।" जो भी हो, इस उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग मे भी हमारे बाप-दादा से आया हुआ धर्म ही एक मात्र सत्य है, अन्य जिस किसी स्थान मे जिस किसी भी धर्म का प्रचार हो रहा है वह अवश्य ही मिथ्या है—इस प्रकार की धारणा अनेक स्थानो मे है। इससे प्रमाणित होता है कि हमारे भीतर अभी भी अनेक दुर्बलताये है—ये दुर्बलताये दूर करनी होंगी।

मैं यह नहीं कहता कि यह दुर्बलता केवल इसी देश में (इंग्लैण्ड में) है – यह सभी देशों मे है और जैसी मेरे देश में है वैसी तो कहीं भी नहीं है—और यह बहुत ही भयानक रूप मे है। इसीलिये अद्वैतवाद का प्रचार साधारण लोगों में कभी होने नहीं दिया गया। संन्यासी लोग अरण्य (वन) मे इसकी साधना करते थे, इसी कारण वेदान्त का एक नाम ' आरण्यक ' भी था। अन्त मे भगवान की कृपा से बुद्ध देव ने आकर सर्व साधारण लोगों के बीच इसका प्रचार किया, उस समय समस्त जाति बौद्ध धर्म से जाग उठी। बहुत समय के बाद जब नास्तिकों ने समस्त जाति को ध्वंस करने की फिर चेष्टा की तब ज्ञानियों ने समझा कि भारत की नास्तिकता के अन्धकार को दूर करने के लिये एक मात्र उपाय यही धर्म है। दो बार इसने नास्तिकता से भारत की रक्षा की है। पहले, बुद्धदेव के आने से पूर्व नास्तिकता अति प्रबल हो उठी थी—योरोप अमेरिका के विद्वानो मे आजकल जैसी नास्तिकता है वैसी नहीं; वह इससे भी भयङ्कर नास्तिकता थी। मैं एक प्रकार का नास्तिक हूँ, कारण मेरा विश्वास है कि केवल पदार्थ का ही अस्तित्व है। आधुनिक वैज्ञानिक नास्तिक भी यही कहते हैं, किन्तु वे उसे ' जड़ ' नाम से पुकारते हैं और मैं उसे ' ब्रह्म ' कहता हूँ। ये ' जड़वादी ' नास्तिक कहते हैं, इसी 'जड़' से ही मनुष्य की आशा, भरोसा, धर्म सभी कुछ हैं। मै कहता हूँ, 'ब्रह्म' से ही सब कुछ हुआ है। मैं इस प्रकार की नास्तिकता की बात नहीं कह रहा हूँ, मै चार्वाको के मत की बात कह रहा हूँ—खाओ, पिओ, मौज उड़ाओ; ईश्वर, आत्मा या स्वर्ग कुछ भी नही है, धर्म कुछ धूर्त दुष्ट पुरोहितो की कल्पना मात्र है—यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋण कृत्वा घृतं पिबेत्।' इस प्रकार की नास्तिकता बुद्धदेव

के आविर्भाव के पूर्व इतनी बढ़ गई थी कि उसका एक नाम हो गया 'लोकायत दर्शन'। इस प्रकार की अवस्था में बुद्धदेव ने आकर साधारण लोगों में वेदान्त का प्रचार करके भारतवर्ष की रक्षा की। बुद्धदेव के तिरोधान के ठीक एक हजार वर्ष पश्चात् फिर इसी प्रकार की बात हुई। चण्डाल भी बौद्ध होने लगे। नानाविध विभिन्न जातियाँ बौद्ध होने लगीं। अनेक लोग अति नीच जाति के होते हुये भी बौद्ध धर्म ग्रहण करके बड़े सदाचारी बन गये। किन्तु इनमे नाना प्रकार के कुसंस्कार थे—नाना प्रकार के टोने टोटके, मंत्र तंत्र और भूत-देवताओं मे विश्वास था। बौद्ध धर्म के प्रभाव से ये बातें कुछ दिनो तक अवश्य दबी रही। किन्तु वे फिर प्रकट हो पडी। अन्त में भारतवर्ष के बौद्ध धर्म में नाना प्रकार के विषयों की खिचड़ी हो गई। उस समय फिर से नास्तिकता के बादलों से भारत का आकाश ढक गया—अच्छे परिवार के लोग स्वेच्छाचारी और साधारण लोग कुसंस्कारी हो गये। ऐसे समय मे शंकराचार्य ने उठ कर फिर से वेदान्त की ज्योति को जगाया। उन्होने उसका एक युक्ति-संगत विचारपूर्ण दर्शन के रूप मे प्रचार किया। उपनिषदों मे विचार-भाग बड़ा ही अस्फुट है। बुद्धदेव ने उपनिषदों के नीति-भाग के ऊपर खूब ज़ोर दिया था, शंकराचार्य ने उनके ज्ञान-भाग के ऊपर अधिक ज़ोर दिया। उनके द्वारा उपनिषदों के सिद्धान्त युक्ति और विचार के द्वारा प्रमाणित और प्रणालीबद्ध रूप मे लोगों के समक्ष स्थापित हुए है। योरोप मे भी आजकल ठीक वही अवस्था उपस्थित है। इन नास्तिकों की मुक्ति के लिये—वे जिस-से विश्वास करे इसके लिये—आप सारे संसार को इकट्ठा करके प्रार्थना करे किन्तु वे विश्वास नहीं करेगे; वे युक्ति चाहते

हैं। अतः योरोप की मुक्ति इस समय इसी विचार द्वारा पवित्र हुये धर्म अद्वैतवाद के ऊपर निर्भर है; और एक मात्र यही अद्वैतवाद, यह निर्गुण ब्रह्म का भाव ही विद्वानों के ऊपर प्रभाव डाल सकता है। जब कभी धर्म लुप्त होने का उपक्रम होता है और अधर्म का अभ्युत्थान होता है तभी इसका आविर्भाव होता है। इसीलिये योरोप और अमेरिका में प्रवेश प्राप्त कर यह दृढ़मूल होता जा रहा है।

इसमे केवल एक बात और जोड़ देनी होगी। प्राचीन उपनिपद् बडे उच्च कवित्व से पूर्ण हैं। उपनिषदों के वक्ता ऋषि लोग महाकवि थे। आपको अवश्य ही याद होगा कि प्लेटो ने कहा है—कवित्व के द्वारा भी जगत् मे अलौकिक सत्य का प्रकाश होता है। मानों कवित्व द्वारा उच्चतम सत्यों को जगत् को देने के लिये विधाता ने साधारण मनुष्यो से बहुत ऊँची पदवी पर आरूढ़ कवियों के रूप मे उपनिपदों के ऋपियों की सृष्टि की थी। वे प्रचार भी नही करते थें अथवा दार्शनिक विचार भी नहीं करते थे और लिखते भी नही थे। उनके हृदय के झरने से संगीत का फुहारा बहता था। उसके वाद बुद्धदेव में हम देखते है—हृदय अनन्त सहनशक्ति वाला—उन्होंने धर्म को सर्व साधारणोपयोगी बना कर प्रचार किया। असाधारण धीशक्तिसम्पन्न शंकराचार्य ने उसको ज्ञान के प्रखर आलोक मे प्रकाशित किया। हमको अव चाहिये कि इस प्रखर ज्ञान-सूर्य के साथ बुद्धदेव के इस अद्भुत हृदय—इस अद्भुत प्रेम और दया को, सम्मिलित करें। अत्यन्त ऊँचे दार्शनिक भाव भी इसमे रहें, यह विचारपूत हो और साथ ही साथ इसमे उच्च हृदय, प्रबल प्रेम और

दया का योग रहे । तभी मणि और काञ्चन का योग होगा, तभी विज्ञान और धर्म एक दूसरे को सहयोग देगे। यही भविष्य में धर्म होगा और यदि हम इसको ठीक ठीक ले सकें तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह सभी काल और अवस्थाओं के लिये उपयोगी होगा। यदि आप घर जाकर स्थिर भाव स विचार करें तो देखेगे कि सभी विज्ञानों मे कुछ न कुछ त्रुटि है। किन्तु ऐसा होने पर भी यह निश्चय जानिये कि आधुनिक विज्ञान को इसी एक मार्ग पर आना पडेगा—पड़ेगा क्यों—वह तो अभी भी इस ओर आ रहा है। जब कोई बड़ा वैज्ञानिक कहता है कि सभी कुछ उस एक शक्ति का विकास है तब क्या आपके मन मे नहीं आता कि उस समय वे उपनिपदो मे वर्णित उसी ब्रह्म की महिमा का कीर्तन करते हैं ?

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च ॥

कठोपनिपद, २।२।९

" जिस प्रकार एक ही अग्नि जगत मे प्रविष्ट हो कर नाना रूपों में प्रकट होती है उसी प्रकार वह सब जीवों का अन्तरात्मा एक ब्रह्म नाना रूपो मे प्रकाशित हो रहा है और वह जगत के वाहर भी है। " विज्ञान किस ओर जा रहा है, क्या आप नही समझ रहे है ? हिन्दू जाति मनस्तत्व की आलोचना करते करते दर्शन के द्वारा आगे वढी थी। योरोपीय जातियॉ वाह्य प्रकृति की आलोचना करते करते अग्रसर हुईं। अब दोनों एक स्थान पर पहुॅच रहे हैं। मनस्तत्व के भीतर होकर हम उसी एक अनन्त सार्वभौमिक सत्ता में पहुॅच रहे है—

जो सब वस्तुओं की अन्तरात्मा स्वरूप है, जो सब का सार और सभी वस्तुओं का सत्यस्वरूप है, जो नित्यमुक्त, नित्यानंद और नित्यसत्तास्वरूप है। बाह्य विज्ञान के द्वारा भी हम उसी एक तत्त्व पर पहुँचते है। यह समस्त जगत्प्रपञ्च उसी एक का विकास है—वह जगत् में जो कुछ भी है उस सब का समष्टि स्वरूप है। और समग्र मानवजाति मुक्ति की ओर अग्रसर हो रही है, बन्धन की ओर वह कभी जा ही नहीं सकती। मनुष्य नीतिपरायण क्यों हो? क्योंकि नीति ही मुक्ति का और दुर्नीति बन्धन का मार्ग है।

अद्वैतवाद का एक और विशेषत्व यह है कि अद्वैत सिद्धान्त अपने आरम्भ काल से ही अन्य धर्मों या मतों को तोड़ फोड़ कर फेंक देने की चेष्टा नहीं करता। अद्वैतवाद का एक और महत्व यह है कि यह प्रचार करना महान् साहस का कार्य है कि—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥

गीता, ३। २६

"ज्ञानी लोगों को अज्ञ अतएव कर्म में आसक्त व्यक्तियों में बुद्धिभेद उत्पन्न नही करना चाहिये, विद्वान व्यक्ति को स्वयं युक्त रह कर उन लोगों को सब प्रकार के कर्मों में नियुक्त करना चाहिये।"

अद्वैतवाद यही कहता है—किसी की बुद्धि को विचलित मत करो, किन्तु सभी को उच्च से उच्चतर मार्ग पर जाने में सहायता करो। अद्वैतवाद जिस ईश्वर का प्रचार करता है वह समस्त जगत

का समष्टि स्वरूप है; यदि यह मत सत्य है तो यह अवश्य ही सब मतों को अपने विशाल उदर मे ग्रहण कर लेगा। यदि ऐसा कोई सार्वजनीन धर्म है जिसका लक्ष्य सबको ग्रहण करना हो, तो उसका केवल कुछ लोगों के ग्रहण करने योग्य ईश्वर का एक विशेष भाव से प्रचार करने से काम नहीं चलेगा, उसमें सब भावों की समष्टि होना आवश्यक है। अन्य किसी मत मे यह समष्टि का भाव उतना परिस्फुटित नही है, फिर भी वे सभी उसी समष्टि की प्राप्ति की चेष्टा कर रहे है। विशेष विशेष भावो का अस्तित्व केवल इसीलिये है कि वे सर्वदा ही समष्टि बनने की चेष्टा करते रहते है। इसीलिये अद्वैतवाद के साथ भारतवर्ष के किसी भी सम्प्रदाय का पहले से ही कोई विरोध नही था। भारत मे आजकल भी अनेक द्वैतवादी है, जिनकी संख्या भी अत्यधिक है। इसका कारण है, अशिक्षित लोगों के मन मे स्वभावतः द्वैतवाद का उदय होता है। द्वैतवादी कहते है कि यही जगत् की एक बिलकुल स्वाभाविक व्याख्या है, किन्तु इन द्वैतवादियो के साथ अद्वैत-वादियो का कोई विवाद नही है। द्वैतवादी कहते है, " ईश्वर जगत् के बाहर है, वह स्वर्ग के बीच एक विशेष स्थान मे रहता है।" अद्वैतवादी कहते है, " जगत् का ईश्वर उसका अपना ही अन्तरात्मा-स्वरूप है, उसको दूरवर्ती कहना ही नास्तिकता है। उसको स्वर्ग में अथवा अन्य किसी दूरवर्ती प्रदेश में अवस्थित किस प्रकार कहते हो ? उससे पृथक होने का भाव मन मे लाना भी भयानक है! वह तो अन्यान्य सब वस्तुओं से हमारे अधिक निकट है। 'तुम्ही वह हो'—इस एकत्व सूचक वाक्य को छोड़ किसी भी भाषा मे ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसके द्वारा उसकी निकटता प्रकट की जा सके। जिस प्रकार द्वैतवादी अद्वैतवादियों की बातो से डरते है और उसे

नास्तिकता कहते है, अद्वैतवादी भी उसी प्रकार द्वैतवादियों की बातों से डरते और कहते है कि मनुष्य किस प्रकार उसको (ईश्वर को) अपनी ज्ञेय वस्तु समझने का साहस करता है ? ऐसा होने पर भी वे जानते है कि धर्मजगत् मे द्वैतवाद का स्थान कहाँ पर है—वे जानत है कि द्वैतवादी अपने दृष्टिकोण से ठीक ही बात कहते हैं, अत: उनसे उनका कोई विवाद नहीं। जब तक वे समष्टिभाव से न देख कर व्यष्टि भाव से देखते है तब तक उन्हे अवश्य ही 'अनेक' देखना पड़ेगा। व्यष्टि भाव की ओर से देखने पर उन्हे अवश्य ही भगवान को बाहर देखना पड़ेगा—ऐसा न हो, यह हो ही नही सकता। वे कहेत हैं—'हमे अपने मत मे ही रहने दो।' फिर भी अद्वैतवादी जानेत है कि द्वैतवादियों के मत मे चाहे कितनी ही असम्पूर्णता क्यों न हो, वे सभी उसी एक लक्ष्य की ओर जा रहे है। इसी स्थान पर उनका द्वैतवादियों के साथ पूरा मतभेद है। संसार के सभी द्वैतवादी स्वभावत: ही एक ऐसे सगुण ईश्वर मे विश्वास करते है जो एक उच्च शक्तिसम्पन्न मनुष्यमात्र है, और जिस प्रकार मनुष्य के कुछ प्रिय पात्र होते हैं, तथा कुछ अप्रिय पात्र, उसी प्रकार द्वैतवादियो के ईश्वर के भी होते है। वह बिना किसी कारण के ही किसी से तो सन्तुष्ट है, किसी से विरक्त। आप देखेगे कि सभी जातियों में ऐसे लोग कितने ही है जो कहते हैं—'हम ईश्वर के अन्तरंग प्रिय पात्र है और कोई नहीं; यदि अनुतप्त हृदय से हमारी शरण मे आओ तभी हमारा ईश्वर तुम पर कृपा करेगा।' और कितने ही द्वैतवादी ऐसे हैं, जिनका मत और भी भयानक है। वे कहते है—"ईश्वर जिनके प्रति दयालु है, जो उसके अन्तरंग हैं, वे पहले से ही ईश्वर द्वारा 'निर्दिष्ट' है—और कोई यदि माथा फोड़ कर भी मर जाय तो भी इस अन्तरग

दल के बीच प्रवेश नहीं पा सकता।" आप मुझे ऐसा कोई भी द्वैत-वादात्मक धर्म बता दीजिये जिसके भीतर यह संकीर्णता नहीं है। इसी कारण से ये सब धर्म सदा ही परस्पर युद्ध करते रहेंगे और करते रहे है। और ये द्वैतवादी धर्म सदा ही लोकप्रिय होते हैं, क्योकि अशिक्षितों के भाव सदा ही लोकप्रिय होते है। द्वैतवादी समझते है कि एक दण्डधारी ईश्वर के बिना किसी प्रकार की नीति ठहर ही नही सकती। मानलो एक छकड़ा गाड़ी का घोड़ा व्याख्यान देना प्रारम्भ करता है। वह कहेगा—" लन्दन के लोग बड़े खराब हैं; कारण वे हमें नित्यप्रति कोडे नहीं मारते।" वह स्वयं चाबुक खाने मे अभ्यस्त हो गया है। इससे अधिक वह और क्या समझ सकता है? किन्तु वास्तव मे चाबुक की मार से लोग और भी खराब हो जाते है। गहरी चिन्ता करने मे असमर्थ लोग सभी देशो में द्वैतवादी हो जाते है। वेचारे गरीबों पर सदा ही अत्याचार होता रहा है। अतः उनकी मुक्ति की धारणा केवल इस दण्ड से मुक्ति पाना है। दूसरी ओर हम यह भी जानते है कि सभी देशो के चिन्ताशील महापुरुषों ने इसी निर्गुण ब्रह्मभाव को लेकर ही कार्य किया है। इसी भाव से भरकर ईसामसीह ने कहा है—'मै और मेरा पिता एक है।' इसी प्रकार का व्यक्ति लाखो व्यक्तियो मे शक्तिसञ्चार करने मे समर्थ होता है। यही शक्ति सहस्रों वर्ष तक मनुष्यो के प्राणों मे शुभ परित्राण देने वाली शक्ति का संचार करती है। और हम यह भी जानते हैं कि ये महा-पुरुष अद्वैतवादी थे, इसीलिये दूसरों के प्रति दयाशील थे। उन्होने साधारण लोगो को 'हमारा स्वर्गस्थ पिता' की शिक्षा दी थी। साधा-रण लोग, जो सगुण ईश्वर से उच्चतर अन्य किसी भाव को धारण नहीं कर सकते थे उन्होंने उनको अपने स्वर्ग मे रहने वाले पिता से

प्रार्थना करना सिखाया। किन्तु यह भी कहा कि 'जब समय आयेगा तो तुम देखोगे कि मैं तुम्हीं मे हूँ, और तुम मुझमें हो, जिससे तुम सभी उस पिता के साथ एक हो सकोगे जिस प्रकार मैं और मेरे पिता अभिन्न है।' बुद्धदेव देवता, ईश्वर आदि को विशेष नहीं मानते थे। साधारण लोग उनको नास्तिक कहते थे किन्तु वे एक साधारण बकरी के लिये प्राण तक देने को प्रस्तुत थे। उन्ही बुद्धदेव ने, जो नीति मनुष्य-जाति के लिये सर्वोच्च ग्रहणीय हो सकती है, उसका प्रचार किया था। जहाँ कहीं भी आप किसी प्रकार का नीति-विधान पायेंगे, वहीं देखेंगे कि उनका प्रभाव, उनका प्रकाश जगमगा रहा है। जगत् के इन सब उच्च-हृदय व्यक्तियों को आप किसी सङ्कीर्ण दायरे में बाँध कर नहीं रख सकते, विशेषतः आज, जब कि मनुष्य जाति के इतिहास मे एक ऐसा समय आ गया है और सब प्रकार के ज्ञान की ऐसी उन्नति हुई है जिसकी सौ वर्ष पूर्व स्वप्न मे भी कल्पना न थी, यहाँ तक कि पचास वर्ष पूर्व जो किसीने स्वप्न मे भी नहीं सोचा था, ऐसे सभी प्रकार के वैज्ञानिक ज्ञान का स्रोत बह चला है। ऐसे समय में क्या लोगो को अब भी इस प्रकार के सङ्कीर्ण भावो में आबद्ध करके रखा जा सकता है? हाँ, लोग यदि बिलकुल ही पशुतुल्य चिन्ताहीन जड़ पदार्थ के समान हो जायँ तो यह सम्भव है। इस समय आवश्यकता है उच्चतम ज्ञान के साथ उच्चतम हृदय, अनन्त ज्ञान के साथ अनन्त प्रेम का योग करने की। अतएव वेदान्ती कहते है, उस अनन्त सत्ता के साथ एकीभूत होना ही एक मात्र धर्म है, और वे भगवान को केवल इतना ही बतलाते है—अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द: और वे कहते है कि ये तीनों एक है। ज्ञान और आनन्द के बिना सत्ता कभी रह ही नहीं सकती। हमे यही सम्मेलन

चाहिये—इस अनन्त सत्ता, ज्ञान और आनन्द की चरम उन्नति—एकदेशीय उन्नति नहीं। हमे चाहिये सभी बातो की समान उन्नति। बुद्धदेव के समान महान् हृदय के साथ महान् ज्ञान का योग होना सम्भव है। मै आशा करता हूँ, हम सभी उस एक लक्ष्य पर पहुँचने की प्राणपण से चेष्टा करेगे।

---

८. जगत्

(बहिर्जगत्)

सुन्दर पुष्पराशि चारों ओर सुगन्ध फैला रही है, प्रभात का सूर्य अत्यन्त सुन्दर रक्तवर्ण होकर उदित हो रहा है। प्रकृति नाना प्रकार के विचित्र रंगो से सजकर शोभायमान हो रही है, समस्त जगत्ब्रह्माण्ड सुन्दर है, और मनुष्य जब से पृथ्वी पर आया है तभी से इसका भोग कर रहा है। पर्वतमालाये गम्भीर भावव्यंजक एवं भय उत्पन्न करनेवाली हैं, प्रबल वेग से समुद्र की ओर बहने वाली नदियॉ, पदचिन्हों से रहित मरु देश, अनन्त असीम सागर, तारो से भरा आकाश, ये सभी गम्भीर भावों से पूर्ण और भयोद्दीपक है—फिर भी मनोहर हैं। प्रकृति शब्द से कही जानेवाली सभी सत्ताये अति-प्राचीन, स्मृति–पथ के अतीत काल से मनुष्य के मन के ऊपर कार्य कर रही है, वे मनुष्य की विचारधारा के ऊपर क्रमशः प्रभाव बढ़ा रही है और इस प्रभाव की प्रतिक्रिया रूप मे क्रमशः मनुष्य के हृदय मे यह प्रश्न उठ रहा है कि यह सब क्या है और इसकी उत्पत्ति कहॉ से हुई ? अति प्राचीन मानव-रचना वेद के प्राचीन भाग मे भी इसी प्रश्न की जिज्ञासा हम देखते है। यह सब कहॉं से आया ? जिस समय अस्ति, नास्ति कुछ भी नहीं था, जब अन्धकार अन्धकार से ढॅका हुआ था तब किसने इस जगत का सृजन किया ? कैसे किया ? कौन इस रहस्य को जानता है ? आज तक यही प्रश्न चला आ रहा है। लाखो बार इसका उत्तर देने की चेष्टा की गई है, किन्तु

फिर भी लाखों बार उसका उत्तर पुनः देना पड़ेगा। ये सभी उत्तर भ्रमपूर्ण हो, ऐसी बात नही है। प्रत्येक उत्तर मे कुछ न कुछ सत्य अवश्य है—कालचक्र के साथ साथ इस सत्य का भी क्रमशः बल बढ़ेगा। मैने भारत के प्राचीन दार्शनिको के निकट इस प्रश्न का जो उत्तर संग्रह किया है, उसको आजकल के मानवीय ज्ञान के साथ मिला कर आपके सामने रखने की चेष्टा करूँगा।

हम देखते है कि इस प्राचीनतम प्रश्न के कई विषय पहले से ही विदित थे। प्रथम तो—" जब अस्ति नास्ति कुछ भी नहीं था"—इस प्राचीन वैदिक वाक्य से प्रमाणित होता है कि एक समय जगत् नही था—ये ग्रह नक्षत्र, हमारी धरती माता, सागर, महासागर, नदी, शैलमाला, नगर, ग्राम, मानवजाति, अन्य प्राणी, उद्भिद, पक्षी, यह अनन्त प्रकार की सृष्टि, एक समय था जब यह नहीं थी—यह बात पहले से ही मालूम थी। क्या हम इस विषय मे निःसन्देह है? यह सिद्धान्त किस प्रकार प्राप्त हो गया यह समझने की हम चेष्टा करेगे। मनुष्य अपने चारो ओर क्या देखता है? एक छोटे से उद्भिद को ही लीजिये। मनुष्य देखता है कि उद्भिद धीरे धीरे मिट्टी को हटा कर उठता है, अन्त मे बढ़ते बढ़ते एक विशाल वृक्ष हो जाता है, फिर वह मर जाता है—केवल बीज छोड़ जाता है, मानो वह घूम फिर कर एक वृत्त को पूरा करता है। बीज से ही वह निकलता है, फिर वृक्ष हो जाता है और उसके बाद फिर बीज मे ही परिणत हो जाता है। पक्षी को देखिये, किस प्रकार वह अण्डे में से निकलता है, सुन्दर पक्षी का रूप धारण करता है, कुछ दिन जीवित रहता है, अन्त में मर जाता है, और छोड़ जाता है अन्य कई अण्डे अर्थात्

भविष्य के पक्षियों के बीज। तिर्यग्जातियों के सम्बन्ध मे भी इसी प्रकार होता है और मनुष्य के सम्बन्ध में भी। प्रत्येक पदार्थ के ही जैसे कुछ बीज होते है, कुछ मूल उपादान होते है, कुछ सूक्ष्म आकार से लेकर स्थूल से स्थूलतर होते जाते है। कुछ समय तक ऐसे ही चलता है, फिर उसी सूक्ष्म रूप में जा कर उनका लय हो जाता है। वृष्टि की एक बूँद जिसके भीतर इस समय सुन्दर सूर्यकिरणे खेल रही है, वायु के सहारे बहुत दूर जाकर पर्वत पर पहुँचता है, वहाँ बर्फ में परिणत हो जाता है, फिर जल बन जाता है और सैकड़ों मील की यात्रा करके अपने उत्पत्तिस्थान समुद्र में पहुँच जाता है। हमारे चारो ओर स्थित समस्त प्रकृति का यही नियम है; और हम जानते है कि आजकल बर्फ की चट्टाने और नदियाँ बड़े बड़े पर्वतों क ऊपर क्रिया कर रही है, वे धीरे धीरे और निश्चित रूप से उन्हें (पर्वतों को) घिस रही है, घिस कर उन्हे बालू कर रही है, वही बालू समुद्र मे जाकर गिर रही है—समुद्र के अन्दर स्तर पर स्तर जम रही है, अन्त मे वह पहाड़ की भाँति सख्त हो जाती है और भविष्य में वही पर्वत बन जायगी। फिर वह पिस कर बालू बन जायगी—बस यही क्रम है।' बालुका से इन पर्वतमालाओं की उत्पत्ति है और बालुका मे ही इनकी परिणति है। बड़े बडे नक्षत्रों के सम्बन्ध में भी यही बात है; हमारी यह पृथ्वी भी नीहारिकामय एक विशेप पदार्थ (Nebulae) से प्रारम्भ होकर क्रमशः शीतल होती गई, अन्त मे हमारे निवास करने की भूमि के रूप मे एक विशेष आकृति की धरणी बन गई। भविष्य मे यह और भी शीतल होते होते नष्ट हो जायगी, खण्ड खण्ड हो जायगी, धूल हो जायगी, और फिर उसी मूल नीहारिकामय सूक्ष्म

रूप में परिणत हो जायगी। प्रतिदिन हमारी आँखों के सामने यही हो रहा है, स्मृति के अतीत काल से ही यह हो रहा है। यही मनुष्य का समस्त इतिहास है, प्रकृति का इतिहास है, जीवन का इतिहास है।

यदि यह सत्य हो कि प्रकृति अपने सभी कार्यों में सम-प्रणालीबद्ध (Uniform) है और आज तक किसी ने भी इसका खण्डन नहीं किया कि एक छोटा सा बालू का कण जिस प्रणाली और नियम से सृष्ट होता है, प्रकाण्ड सूर्य, तारे, यहाँ तक कि सम्पूर्ण जगत्ब्रह्माण्ड की सृष्टि में भी वही प्रणाली, वही एक नियम है; यदि यह सत्य हो कि एक परमाणु जिस कौशल से बनता है, समस्त जगत् भी उसी कौशल से बनता है; यदि यह सत्य हो कि एक ही नियम समस्त जगत् में प्रतिष्ठित है तो प्राचीन वैदिक भाषा में हम कह सकते हैं, "एक ढेला मिट्टी को जान कर हम जगत्ब्रह्माण्ड में जितनी मिट्टी है उस सबको जान सकते हैं।" एक छोटे से उद्भिद को लेकर उसके जीवनचरित की आलोचना करके हम जगत्ब्रह्माण्ड का स्वरूप जान सकते हैं। बालू के एक कण की गति का पर्यवेक्षण करके हम समस्त जगत् का रहस्य जान सकेंगे। अतएव ऊपर की हुई आलोचना के परिणाम को जगत्-ब्रह्माण्ड के ऊपर प्रयोग करके हम यही देखते है कि सभी वस्तुओं का आदि और अन्त प्रायः एक सा होता है। पर्वत की उत्पत्ति वालुका से, और वालुका मे ही उसका अन्त है; वाष्प से नदी बनती है और फिर वाष्प हो जाती है; बीज से उद्भिद होता है और फिर बीज बन जाता है; मानव जीवन मनुष्य के जीवाणु रूपी

बीज से आता है और फिर जीवाणु में ही चला जाता है। नक्षत्र-पुञ्ज, नदी, ग्रह, उपग्रह सब नीहारिका-अवस्था से बनते है और फिर उसी अवस्था में लौट जाते है। इससे हम क्या सीखते है? सीखते यही हैं कि व्यक्त अर्थात् स्थूल अवस्था कार्य है; सूक्ष्म भाव उसका कारण है। सभी दर्शनों के जनक स्वरूप महर्षि कपिल बहुत दिन पहले प्रमाणित कर चुके है, "नाश: कारणलय:।"

यदि इस मेज़ का नाश हो जाय तो यह केवल अपने कारण रूप मे लौट जायगी—वह सूक्ष्म रूप भी उन परमाणुओं मे बदल जायगा जिनके मिश्रण से यह मेज़ नामक पदार्थ बना था। मनुष्य जब मर जाता है तो जिन पञ्च भूतों से उसके शरीर का निर्माण हुआ था उन्ही मे उसका लय हो जाता है। इस पृथ्वी का जब ध्वंस हो जायगा तब जिन भूतों को मिलाकर इसका निर्माण हुआ था उन्ही मे वह फिर परिणत हो जायगी। इसी को नाश अर्थात् कारणलय कहते है। अतएव हमने सीखा कि कार्य और कारण अभिन्न है—भिन्न नहीं; कारण ही विशेष रूप धारण करने पर कार्य कहलाता है। जिन उपादानो से इस मेज़ की उत्पत्ति हुई वे ही कारण हैं और मेज़ कार्य; और वे ही कारण मेज़ के रूप मे वर्तमान ह। यह गिलास भी कार्य है—इसके कई कारण थे, वे ही कारण इस कार्य मे हम अब भी वर्तमान देख रहे है। 'गिलास' (कॉच) नामक कुछ पदार्थ और उसके साथ साथ बनानेवाले के हाथों की शक्ति ये दोनों कारण—निमित्त और उपादान ये दोनों कारण—मिलकर गिलास नामक यह आकार वना है। ये दोनों ही कारण वर्तमान हैं। जो शक्ति किसी यंत्र के चक्र मे थी वह संयोजक

(Adhesive) शक्ति के रूप मे वर्तमान है—उसके न रहने पर गिलास के छोटे छोटे खण्ड पृथक् होकर गिर जाते—और यह 'गिलास' काँच रूप उपादान भी वर्तमान है। गिलास केवल इन सूक्ष्म कारणो की एक भिन्न रूप मे परिणति मात्र है एवं यही गिलास यदि तोड़कर फेक दिया जाय तो जो शक्ति संहति (Adhesive Power) के रूप मे इसमे वर्तमान थी, वह फिर लौट कर अपने उपादान मे मिल जायेगी, और गिलास के छोटे छोटे टुकड़े फिर अपना पूर्व रूप धारण कर लेगे और तब तक उसी रूप मे रहेगे जब तक फिर एक नया रूप धारण न कर लेगे।

अतएव हमने देखा कि कार्य सभी कारण से भिन्न नहीं होता। वह तो उसी कारण का पुनः आविर्भाव मात्र है। उसके वाद हमने सीखा कि ये सब छोटे छोटे रूप, जिन्हे हम उद्भिद अथवा तिर्यग्जाति अथवा मानव जाति कहते है वे सव अनन्त काल से उठते गिरते, घूमते फिरते आ रहे है। वीज से वृक्ष हुआ, वृक्ष फिर वीज होता है, फिर वह एक वृक्ष बनता है, वह फिर बीज होता है, फिर उससे वृक्ष वनता है—इसी प्रकार चल रहा है, इसका कहीं अन्त नही है। जल की बूँदे पहाड़ पर गिर कर समुद्र मे जानी है, फिर वाष्प हो कर उठती हैं—फिर पहाड़ पर पहुँचती हैं और नदी मे लौट आती हैं। उठता है, गिरता है, गिरता है, उठता है—इसी प्रकार युगो का चक्र चल रहा है। समस्त जीवन का यही नियम है—समस्त अस्तित्व जो हम देखते, सोचने, सुनते और कल्पना करते हैं, जो कुछ भी हमारे ज्ञान की सीमा के भीतर है, वह सब इसी प्रकार चल रहा है, ठीक जैसे मनुष्य के शरीर में श्वास-प्रश्वास। अतएव समस्त सृष्टि इसी प्रकार चल

रही है। एक तरंग उठती है, एक गिरती है, फिर उठती है, फिर गिरती है। प्रत्येक तरंग के साथ एक अवनति है, प्रत्येक अवनति के साथ एक तरंग है। समस्त ब्रह्माण्ड में समप्रणाली होने के कारण एक ही नियम चलेगा। अतएव हम देखते हैं कि समस्त ब्रह्माण्ड एक समय अपने कारण में लय होने को वाध्य है; सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारे, पृथ्वी, मन, शरीर, जो कुछ भी इस ब्रह्माण्ड मे हैं, सभी पदार्थ अपने सूक्ष्म कारण मे लीन अथवा तिरोभूत होंगे, अपाततः विनष्ट होंगे। वास्तव मे वे सब अपने कारण मे सूक्ष्म रूप मे रहेंगे। वे फिर उससे वाहर निकलेंगे और पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, यहाँ तक कि समस्त जगत् की सृष्टि होगी।

इस उत्थान और पतन के सम्बन्ध में और भी एक विषय जानने का है। वृक्ष से वीज होता है। किन्तु वह उसी समय फिर वृक्ष नहीं हो जाता। उसको कुछ विश्राम अथवा अति सूक्ष्म अव्यक्त कार्य के समय की आवश्यकता होती है। वीज को कुछ दिन तक मिट्टी के नीचे रह कर कार्य करना पड़ता है। उसे अपने आप को खण्ड खण्ड कर देना होता है तथा एक प्रकार से अपनी अवनति करनी होती है और इसी अवनति से उसकी फिर उन्नति होती है। अतएव इस समस्त ब्रह्माण्ड को ही कुछ समय अदृश्य अव्यक्त भाव से सूक्ष्म रूप में कार्य करना होता है, जिसे प्रलय अथवा सृष्टि के पूर्व की अवस्था कहते हैं, उसके वाद फिर सृष्टि होती है। जगत के इस प्रवाह के एक वार प्रकाशित होने को—अर्थात् सूक्ष्म रूप मे परिणति, कुछ दिन तक उसी अवस्था में स्थिति, फिर आविर्भाव—इसी को कल्प कहते हैं। समस्त ब्रह्माण्ड इसी प्रकार

कल्पो से चला आ रहा है। प्रकाण्ड ब्रह्माण्ड से लेकर उसके अन्तर्गत प्रत्येक परमाणु तक सभी वस्तुये, इसी प्रकार तरंगाकर मे चलती है।

अब एक जटिल प्रश्न उपस्थित होता है—विशेपतः आजकल की दृष्टि से। हम देखते हैं कि सूक्ष्म रूप धीरे धीरे व्यक्त हो रहे है, क्रमशः स्थूल से स्थूलतर होते जा रहे है। हम देख चुके है कि कारण और कार्य अभिन्न है— कार्य केवल कारण का रूपान्तर मात्र है। अतएव यह ब्रह्माण्ड शून्य मे से उत्पन्न नहीं हो सकता। किसी कारण के बिना वह नहीं आ सकता, इतना ही नहीं, कारण ही कार्य के भीतर सूक्ष्म रूप मे वर्तमान है। तब यह ब्रह्माण्ड किस वस्तु से उत्पन्न हुआ है? पूर्ववर्ती सूक्ष्म ब्रह्माण्ड से। मनुष्य किस वस्तु से उत्पन्न होता है? पूर्ववर्ती सूक्ष्म रूप से। वृक्ष कहॉ से आया? बीज से। समस्त वृक्ष बीज मे वर्तमान था—वह केवल व्यक्त हो गया है। अतएव यह जगत्ब्रह्माण्ड अपनी ही सूक्ष्मावस्था से उत्पन्न हुआ है। अब वह केवल व्यक्त हो गया है। वह फिर अपने सूक्ष्म रूप मे जायगा, फिर व्यक्त होगा। इस प्रकार हम देखते है कि सूक्ष्म रूप व्यक्त होकर स्थूल होता जाता है जब तक कि वह स्थूलता की चरम सीमा पर नहीं पहुँचता; चरम सीमा पर पहुँच कर वह फिर उलट कर सूक्ष्म होने लगता है। यह सूक्ष्म से आविर्भाव होना, क्रमशः स्थूल मे परिणत होते जाना—मानो यह केवल उसके अंशो की अवस्थाओं मे परिवर्तन होना है—इसी को आजकल 'क्रमविकासवाद' कहते है। यह बिल्कुल सत्य है, सम्पूर्ण रूप से सत्य है; हम अपने जीवन में ही इसको देखते है; किसी भी विचारशील व्यक्ति के इन क्रमविकासवादियों के साथ विवाद की कोई सम्भावना नही है। किन्तु हमे एक और भी

विषय जानना पड़ेगा—वह यह है कि प्रत्येक क्रमविकास के पूर्व एक क्रमसङ्कोच की प्रक्रिया वर्तमान रहती है। बीज वृक्ष का जनक अवश्य है, परन्तु एक और वृक्ष उसी बीज का जनक है। बीज ही वह सूक्ष्म रूप है जिसमे से बृहत् वृक्ष निकला है, और एक दूसरा प्रकाण्ड वृक्ष इस बीज मे क्रमसङ्कुचित रूप में वर्तमान है। सम्पूर्ण वृक्ष इसी बीज मे विद्यमान है। शून्य मे से कोई वृक्ष उत्पन्न नही हो सकता, किन्तु हम देखते है कि वृक्ष बीज से उत्पन्न होता है और विशेष प्रकार के बीज से विशेष प्रकार का ही वृक्ष उत्पन्न होता है, दूसरा वृक्ष नही होता। इससे सिद्ध होता है कि उस वृक्ष का कारण यही बीज है—केवल यही बीज है; और इसी बीज में सम्पूर्ण वृक्ष रहता है। पूरा मनुष्य इसी जीवाणु के भीतर है, और यही जीवाणु धीरे धीरे अभिव्यक्त होकर मानवाकार मे परिणत हो जाता है। समस्त ब्रह्माण्ड सूक्ष्म ब्रह्माण्ड में रहता है। सभी कुछ कारण मे अपने सूक्ष्म रूप मे रहता है। अतएव 'क्रमविकास' वाद स्थूल से और स्थूल रूप मे क्रम-प्रकाश है—यह बात सत्य है। यह बिलकुल सत्य है; किन्तु इसके साथ ही यह भी समझना होगा कि प्रत्येक क्रम-विकास के पूर्व क्रमसङ्कोच की एक प्रक्रिया रहती है; अतएव जो क्षुद्र अणु बाद मे महापुरुष हुआ, वह वास्तव मे उसी महापुरुष के क्रम-सकोच की एक अवस्था है. यही बाद मे महापुरुष-रूप में क्रमविकास को प्राप्त हो जाता है। यदि यही बात सत्य है तो फिर क्रमविकास-वादियों (Followers of Darwin's Evolution) के साथ हमारा कोई विवाद नही है, कारण, हम क्रमशः देखेंगे कि यदि वे लोग इस क्रमसकोच की प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं तब वे धर्म के नाशक न हो कर उसके प्रबल सहायक हैं।

अब तक हमने देखा कि शून्य से किसी वस्तु की उत्पत्ति हुई इस हिसाब से सृष्टि नही हो सकती। सभी वस्तुये अनन्त काल से हैं और अनन्त काल तक रहेगी। केवल तरंगो की भाँति एक बार उठती है, फिर एक बार गिरती है। एक बार सूक्ष्म अव्यक्त रूप में जाना, फिर स्थूल व्यक्त रूप मे आना, समस्त प्रकृति में यह क्रमविकास और क्रमसंकोच की क्रिया चल रही है। अतएव समस्त ब्रह्माण्ड प्रकाशित होने के पूर्व अवश्य ही क्रमसङ्कुचित अथवा अव्यक्त अवस्था मे था, अब वह विभिन्न रूपो मे व्यक्त हुआ है—फिर क्रमसङ्कुचित होकर अव्यक्त रूप धारण करेगा। उदाहरण स्वरूप एक क्षुद्र उद्भिद् का जीवन लीजिये। हम देखते है कि दो वस्तुये मिलकर इसको एक अखण्ड वस्तु के रूप मे प्रतीत कराती है—उसकी उत्पत्ति और विकास तथा उसका क्षय और विनाश। ये दोनों मिल कर ही उद्भिद्-जीवन नामक इस एकत्व का निर्माण करते हैं। इस उद्भिद्-जीवन को प्राणशृंखला की एक कड़ी मानकर हम सभी वस्तुओं को एक प्राणप्रवाह कह कर कल्पना कर सकते हैं जिसका आरम्भ जीवाणु के रूप मे और अन्त पूर्ण मानव के रूप मे है। मनुष्य इसी शृखला की एक कड़ी है; और—जिस प्रकार क्रमविकासवादी लोग कहते हैं—नाना प्रकार के वानर और अन्य छोटे छोटे प्राणी एवं उद्भिद् इस प्राणशृंखला की अन्यान्य कड़ियॉ हैं। अब जिस छोटे से टुकड़े से हमने आरम्भ किया था उससे लेकर इस समस्त को एक प्राणप्रवाह कह कर कल्पना करो और प्रत्येक क्रमविकास के पूर्व जो क्रमसङ्कोच की क्रिया विद्यमान है—इस नियम को यहॉ लगाने से हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि अति क्षुद्र जन्तु से लेकर सर्वोच्च पूर्णतम मनुष्य पर्यन्त सम्पूर्ण श्रेणी अवश्य ही किसी अन्य वस्तु का क्रमसङ्कोच होगी। किसका क्रमसकोच होगी? यही प्रश्न है। कौन-

सा पदार्थ क्रमसङ्कुचित हुआ था? क्रमविकासवादी लोग कहेंगे कि तुम्हारी ईश्वर सम्बन्धी धारणा भूल है। कारण, तुम लोग कहते हो कि चैतन्य ही जगत् का स्रष्टा है किन्तु हम प्रतिदिन देखते हैं कि चैतन्य बहुत बाद मे आता है। मनुष्य अथवा उच्चतर जन्तुओं में ही हम चैतन्य को देखते है किन्तु इस चैतन्य का जन्म होने से पूर्व इस जगत् मे लाखो वर्ष बीत चुके है। जो भी हो, आप इन क्रमविकासवादियों की बातों से डरिए मत, आपने अभी जो नियम आविष्कृत किया है उसका प्रयोग करके देखिये—क्या सिद्धान्त बनता है? आपने तो देखा ही है कि बीज से ही वृक्ष का उद्भव है और बीज मे ही परिणति। इसलिये आरम्भ और परिणाम समान हुये। पृथ्वी की उत्पत्ति उसके कारण से है और कारण मे ही उसका विलय है। सभी वस्तुओं के सम्बन्ध मे यही बात है—हम देखते हैं कि आदि और अन्त दोनो समान हैं। इस शृंखला का अन्त कहाँ है? हम जानते हैं कि आरम्भ जान लेने पर हम अन्त भी जान सकते हैं। इसी प्रकार अन्त जान लेने पर आदि भी जाना जा सकता है। इस समस्त 'क्रमविकासशील' जीवप्रवाह को—जिसका एक छोर जीवाणु है, दूसरा पूर्ण मानव—इस समष्टि को, एक ही वस्तु है ऐसा समझ लो। इस श्रेणी के अन्त में भी हम पूर्ण मानव को देखते हैं, अतएव आदि में भी वह होगा ही—यह निश्चित है। अतएव यह जीवाणु अवश्य ही उच्चतम चैतन्य की क्रमसंकुचित अवस्था है। आप इसको स्पष्ट रूप से भले ही न देख सके किन्तु वास्तव में वही क्रमसंकुचित चैतन्य ही अपने को अभिव्यक्त कर रहा है और इसी प्रकार अपने को अभिव्यक्त करता रहेगा जब तक वह पूर्णतम मानव के रूप मे अभिव्यक्त न हो जायगा।

यह तत्व गणित के द्वारा निश्चित रूप से प्रमाणित किया जा सकता है। यदि शक्तिसातत्य का नियम (Law of conservation of energy) सत्य प्रमाणित होगया तो यह बात जरूर माननी पड़ेगी कि यदि तुम किसी यंत्र में पहले से किसी शक्ति का प्रयोग न करो तो उससे तुम कोई काम प्राप्त नहीं कर सकोगे। एंजिन में पानी व कोयले के रूप में जितनी शक्ति का प्रयोग होगा ठीक उसी हद तक तुम्हें उसमें से काम मिल सकता है, उससे जरा भी कम या अधिक नहीं। मैंने अपनी देह में वायु, खाद्य और अन्यान्य पदार्थों के रूप में जितनी शक्ति का प्रयोग किया है उतनी ही हद तक कार्य करने में मैं समर्थ होऊँगा। केवल उन शक्तियों ने अपना रूप बदल डाला है। इस विश्वब्रह्माण्ड में जड़ का एक परमाणु या शक्ति का एक क्षुद्र अंश भी हम घटा या बढ़ा नहीं सकते। यदि ऐसा ही हो तो यह चैतन्य क्या चीज़ है? यदि वह जीवाणु में वर्तमान न होगा तो यह मानना पड़ेगा कि उसकी उत्पत्ति जरूर आकस्मिक होगी—किन्तु फिर साथ ही साथ हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि असत् (कुछ नहीं) से सत् (कुछ) बना है, लेकिन यह है बिल्कुल असम्भव। इसलिए यह बात निस्सन्देह प्रमाणित होती है कि जैसा हम दूसरे विषयों में देखते हैं कि जहाँ आरम्भ होता है वहीं अन्त भी होता है। केवल कभी वह अव्यक्त रह जाता है, कभी व्यक्त होता है। इसी प्रकार वे पूर्ण मानव मुक्त पुरुष, देव मानव जो प्रकृति के नियमों से बाहर हैं, जिन्होंने सब कुछ पार कर लिया है, जिन्हें इस जन्ममृत्यु के मार्ग से आना जाना नहीं पड़ता, जिन्हें ईसाई ख्रिस्ट-मानव, बौद्ध बुद्ध-मानव और योगी मुक्त पुरुष कहते हैं वे पूर्ण मानव ही इस शृंखला का एक

छोर है और वे ही क्रमसकुचित होकर उसके दूसरे छोर मे जीवाणु के रूप मे प्रकट होते है।

अब यह आलोचना की जाय कि इस ब्रह्माण्ड के कारण के सम्बन्ध मे क्या सिद्धान्त है। इस जगत का अन्तिम परिणाम क्या है? क्या चैतन्य ही वह नही है? ससार की सब से आखिरी वस्तु है चैतन्य। फिर जब क्रमविकासवादियों के मतानुसार यह चैतन्य सृष्टि की शेप वस्तु बनी तो फिर चैतन्य ही सृष्टि का नियन्ता, सृष्टि-सृजन का कारण होगा। जगत के विषय मे मानव की सर्वश्रेष्ट *धारणा क्या हो सकती है? मानव यही धारणा कर सकता है कि* जगत का एक भाग दूसरे भाग से सम्बन्धित है और जागतिक प्रत्येक वस्तु मे ज्ञान की क्रिया का विकास है। प्राचीन उद्देश्यवाद (Design Theory) इसी धारणा का अस्फुट आभास है। हम जड़वादियों के साथ यह मानने को तैयार है कि चैतन्य ही जगत की शेप वस्तु है—सृष्टिक्रम मे यही है शेष विकास, परन्तु साथ ही साथ हम यह भी कहते है कि यह शेप विकास हो तो आरम्भ मे भी यही वर्तमान था। जडवादी कह सकते है, अच्छा, यह तो ठीक है किन्तु मनुष्य जाति के जन्म के पहले जो लाखो वर्प व्यतीत हुए थे उस समय तो ज्ञान का कोई अस्तित्व नही था। इस बात का उत्तर हम यों देंगे कि हॉ, व्यक्त रूप मे चैतन्य नहीं था, लेकिन अव्यक्त रूप मे इसकी उपस्थिति जरूर थी और यह तो एक मानी हुई बात है कि पूर्ण मानव रूप मे प्रकाशित चैतन्य ही है सृष्टि का अन्त। फिर आदि क्या है? आदि भी चैतन्य है। पहले वही चैतन्य क्रमसकुचित होता है, अन्त मे वही फिर क्रमविकसित होता है।

अतएव इस जगतब्रह्माण्ड मे जो ज्ञानराशियाँ अब अभिव्यक्त हो रही है वे अवश्य ही केवल उसी क्रमसंकुचित सर्वव्यापी चैतन्य की अभिव्यक्ति है। इसी सर्व-व्यापी विश्वजनीन चैतन्य का नाम है ईश्वर। उसको किसी भी नाम से पुकारो यह निश्चित है कि आदि में वही अनन्त विश्वव्यापी चैतन्य था। वही विश्वजनीन चैतन्य क्रम-संकुचित हुआ था। फिर वही अपने को क्रमशः अभिव्यक्त कर रहा है जब तक कि वह पूर्ण-मानव या खिस्ट-मानव या बुद्ध-मानव मे परिणत न हो। तब वह फिर निजी उत्पत्ति के स्थान पर लौट आता है। इसलिए सभी शास्त्र कहते है, "हम उनमे जीवित है, उनमे ही रहकर चलते है, उनमे हमारी सत्ता है।" इसीलिए फिर शास्त्र कहते है, "हम ईश्वर से आये है, फिर उनमे ही लौट जायेगे।" विभिन्न परिभाषाओ से मत डरो, परिभाषा से अगर डर जाओ तो तुम लोग दार्शनिक नही बन सकोगे। ब्रह्मवादी इस विश्वव्यापी चैतन्य को ही ईश्वर कहते है।

कई लोगो ने कई बार मुझसे पूछा है, "आप क्यो इस पुराने 'ईश्वर' (God) शब्द का व्यवहार करते है? इसका उत्तर यह है कि पूर्वोक्त विश्वव्यापी चैतन्य समझाने के लिए जितने शब्दो का व्यवहार किया जा सका है उनमे यही सर्वोत्तम है। उससे अच्छा और कोई शब्द नही मिल सकता है, क्योंकि मानवो की सारी आशाये और सुख उसी एक शब्द मे केन्द्रीभूत हैं। अब इस शब्द को बदल डालना असंभव है। जब बडे बडे साधु महात्माओ ने ऐसे शब्दो को चुन लिया था तो वे ज़रूर इनका तात्पर्य अच्छी तरह समझते थे। धीरे धीरे जब समाज मे भी उन शब्दों का प्रचार होना

गया तो अज्ञ लोग उन शब्दो का व्यवहार करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि शब्दों का महत्व घटने लगा। युगो से ईश्वर शब्द प्रयुक्त होता आया है। सर्वव्यापी एक चैतन्य का भाव एव जो क्या कुछ महान तथा पवित्र है इसी शब्द मे निहित है। यदि कोई निर्बोध इस शब्द का व्यवहार करने कि लिये राजी न हुआ तो हमे भी उसकी बात मान लेनी पडेगी? दूसरा कोई आकर कहेगा, "मेरे द्वारा नियोजित यह शब्द अच्छा है इसे स्वीकार करो," फिर तीसरा आयेगा, अपना एक शब्द लेकर। यदि यही क्रम चलता रहा तो ऐसे बेकार शब्दो का कोई अन्त न होगा। इसीलिए मै कह रहा हूँ कि उस पुराने शब्द का ही व्यवहार करो, लेकिन मन से कुसंस्कारों को दूर कर इस प्राचीन महान शब्द के अर्थ को ठीक तरह से समझ कर उसका और भी उत्तम रूप से व्यवहार करो। यदि तुम लोग भाव-साहचर्य-विधान (Law of Association of ideas) का तात्पर्य समझ जाओ तो तुम्हे पता चलेगा कि इस शब्द से कितने ही महान एव ओजस्वी भावो का संयोग है, लाखो मनुष्यो ने इस शब्द का व्यवहार किया है, करोडो आदमियों ने इस शब्द की पूजा की है और जो कुछ सर्वोच्च व सुन्दरतम है, जो कुछ युक्तियुक्त, प्रेमास्पद या मानवी भावो मे महान और सुन्दर है, वही इस शब्द से सम्बन्धित है। अतएव यह सब भावनाओ का उद्दीपक है, इसलिए उसका त्याग करना नितान्त असभव है। जो भी हो, यदि मै आप लोगों को केवल यह कहकर समझाने की चेष्टा करता कि ईश्वर ने जगत की सृष्टि की है तो आप लोगो को उसका कोई अर्थ नही सूझता। फिर भी इन सब विचारो के बाद हम उसी प्राचीन पुरुष के पास ही पहुँचे।

तो हमने अब क्या देखा? हमे यह अनुभव हुआ कि जड, शक्ति, मन, चैतन्य या दूसरे नामो से परिचित विभिन्न जागतिक शक्तियाँ उसी विश्वव्यापी चैतन्य के ही प्रकाश है। जो कुछ तुम देखते हो, सुनते हो या अनुभव करते हो सब उन्हीं की रचनाये हैं, उन्ही के परिणाम है। इस कथन से और भी ठीक होगा यदि हम कहे, ये सब प्रभु स्वय ही है। सूर्य और ताराओ के रूप मे वे ही उज्ज्वल भाव से विराजते है, वे ही जननी है, धरणी है और समुद्र भी है। वे ही बादलो के रूप मे बरसते है, वे ही फिर वह पवन है जिससे हम साँस ले सकते है, वे ही शक्ति बनकर हमारे शरीर मे कार्य कर रहे है। वे ही भाषण है, भाषणदाता है, फिर सुनने वाले भी है। वे ही यह मच है जिस पर मै खड़ा हूँ, फिर वे ही वह आलोक है जिससे मै तुम्हे देख पाता हूँ; ये सब वे ही है। वे जगत के उपादान व निमित्त कारण हैं, क्रम-सकुचित होकर वे ही अणु का रूप लेते हैं, फिर वे ही क्रमविकसित होकर ईश्वर बन जाते है। वे ही धीरे धीरे अवनत होते है और पर-माणु का आकार प्राप्त करते है, फिर समय होते ही अपने रूप मे अपने को प्रकाशित करते है और यही जगत का रहस्य है। "तुम्हीं पुरुष हो, तुम्हीं स्त्री हो, यौवन की चपलता से भरे हुए भ्रमणशील नवयुवक भी भी तुम हो, फिर तुम बुढ़ापे मे लाठी के सहारे कदम बढाते हो, तुम ही सब वस्तुओ मे हो, हे प्रभु तुम ही सब हो।" जगत-प्रपच की केवल इसी व्याख्या से मानवयुक्ति, मानवबुद्धि परितृप्त होती है। साराश यह कि हम उनसे जन्म लेते है, उन्हीं मे जीवित रहते है और उन्ही मे लौट जाते है।

---

१. जगत्

(अन्तर्जगत्)

स्वभावतः ही मनुष्य का मन बाहर जाना चाहता है, मानो वह इन्द्रिय-प्रणालियो के द्वारा जैसे शरीर के बाहर झांकना चाहता हो। ऑखे जरूर देखेगी, कान जरूर सुनेगे, इन्द्रियाँ जरूर बाहरी जगत को देखती रहेगी। इसीलिये स्वभावतः प्रकृति का सौन्दर्य तथा महिमा मनुष्य की दृष्टि को प्रथम ही आकृष्ट कर लेते है। प्रथमतः बहिर्जगत के बारे मे मनुष्य ने प्रश्न उठाया था; आकाश, नक्षत्रपुञ्ज, नभोमंडल के अन्यान्य पदार्थसमूह, पृथ्वी, नदी, पर्वत, समुद्र आदि वस्तुओं के विषय मे प्रश्न किये गये थे, एवं प्रत्येक प्राचीन धर्म मे हमे इसका कुछ न कुछ परिचय मिलता ही है। पहले पहल मानव का मन अंधकार मे टटोलता हुआ बाहर मे जो कुछ देख पाता था उसे ही पकड़ने की चेष्टा करता था। इसी तरह उसने नदी का एक देवता, आकाश का और कोई देव, मेघ तथा वर्षा का दूसरा अधिष्ठाता देवता मान लिया जिनको हम प्रकृति की शक्ति के नाम से जानते है उन्हे ही सचेतन पदार्थ कहना शुरू हुआ। किन्तु इस प्रश्न की जितनी अधिक खोज होने लगी उतनी ही इन बाह्य देवताओं से मानव के मन को कम तुष्टि मिलने लगी। तब मानव की सारी शक्ति उसके अपने

ओर ही मुड़कर प्रवाहित होने लगी। अपनी आत्मा के सम्बन्ध मे प्रश्न होने लगा। वहिर्जगत से यह प्रश्न अन्तर्जगत मे आ पहुँचा। वहिर्जगत का विश्लेषण हो जाने पर मनुष्य ने अन्तर्जगत का विश्लेषण करना शुरू किया। किन्तु यह भीतरी मनुष्य के सम्बन्ध मे प्रश्न कब उठ खड़ा होता है जानते हो?—या तो उच्चतर सभ्यता से इसकी उत्पत्ति होती है, या प्रकृति के विषय मे गंभीरतम अन्तर्दृष्टि से या उन्नति के उच्चतम सोपान पर आरूढ़ होने से।

यह अन्तर्मानव ही आज हमारी आलोचना का विषय है। अन्तर्मानव सम्बन्धी यह प्रश्न मनुष्यो के लिये जितना प्रिय है तथा उसके हृदय को जितना द्रवीभूत कर देता है उतना और कुछ नहीं। कितने वार कितने देशो मे यह प्रश्न पूछा गया है। चाहे वह अरण्यवासी सन्यासी हो, चाहे राजा, प्रजा, अमीर, गरीव, साधु या पापी सभी नर-नारियो के मन मे यह प्रश्न एक वार जरूर उठ खड़ा हुआ है कि इस क्षणस्थायी मानव जीवन मे क्या शाश्वत नाम का कुछ भी नहीं है? इस शरीर का अन्त होने पर भी क्या ऐसा कुछ नहीं है जो कभी नहीं मरता है? जब यह देह धूल मे मिल जाती है तब क्या ऐसा कुछ नहीं रहता जो जीवित रहता हो? अग्नि से शरीर भस्मसात होने पर क्या कुछ भी शेष नहीं रहता? अगर रहता है तो उसका परिणाम क्या है? वह जाता कहाँ है? कहाँ से वह आया था? ये प्रश्न वार वार पूछे गये हैं और जब तक यह सृष्टि रहेगी, जब तक मानव-मस्तिष्क की चिन्तनक्रिया वन्द नहीं होगी तब तक यह प्रश्न पूछा ही जायगा। इससे आप लोग यह न समझे कि इसका उत्तर कभी भी नहीं मिला है—ज्योंही यह

प्रश्न पूछा गया है त्योंही उत्तर भी मिला है, एवं जितना ही समय बीतता जायगा वह उतना ही महत्वपूर्ण बनता जायगा। वास्तव मे हजारों वर्ष पहले ही उस प्रश्न का निश्चित उत्तर दिया गया था और परवर्ती काल मे वही उत्तर फिर से दुहराया गया व हमारी बुद्धि मे उसका पूर्ण विकास होता गया। अतएव हमे केवल उस उत्तर को फिर से एक वार दुहरा देना है। इन समस्याओं को हम एक नये रूप से जांच करने की कोशिश नही करेंगे; हम चाहते है कि वर्तमान युग की भाषा मे हम उस सनातन महान सत्य को प्रकाशित करे, प्राचीन की चिन्ता हम नवीनों की भाषा मे व्यक्त करे। दार्शनिको की चिन्ता हम लौकिक भाषा मे कहेगे—देवताओं की चिन्ता को हम मनुष्यो की भाषा मे प्रकट करेगे, ईश्वर संबंधी चिन्ताएँ मानव की दुर्बल भाषा मे कहते जायेगे ताकि सब उसे समझ सके। क्योंकि हम बाद मे देखेंगे कि जिस ईश्वरीय सत्ता से ये सब भाव प्रसूत हुए है वह मानवों मे भी वर्तमान है – जिस सत्ता ने इन चिन्ताओं की सृष्टि की है, मानव मे स्वय वह प्रकट होकर स्वय ही इन्हे समझ सकेगी।

मैं तुम लोगों को देख पा रहा हूँ। इस दर्शनक्रिया के लिये कितनी चीजो की ज़रूरत होती है? पहले तो ऑखों की आवश्यकता हम अनुभव करते है—ऑखे अवश्य ही रहनी चाहिये। मेरी अन्यान्य इन्द्रियॉ स्वस्थ होते हुए भी यदि मेरी ऑखे न हों तो मै तुम लोगो को नही देख सकूँगा। अतएव पहले ऑखे अवश्य ही रहनी चाहिये। दूसरी वात यह है, ऑखों के पीछे और कुछ रहने की आवश्यकता होती है जिसे हम प्रकृत रूप से दर्शनेन्द्रिय कह सकते है। यदि हममें यह न हो तो दर्शनक्रिया असम्भव है। वस्तुतः ऑखे कोई

इन्द्रिय नहीं है, वे दर्शन करने के यंत्र मात्र ही है। यथार्थ इंद्रिय जो चक्षु के पीछे है, मस्तिष्क के स्नायुकेन्द्र में अवस्थित है। यदि वह केन्द्र किसी प्रकार नष्ट हो जाय तो स्वच्छ चक्षुद्वय रहते हुए भी मनुष्य कुछ नहीं देख सकेगा। अतएव दर्शनक्रिया के लिये उस प्रकृत इन्द्रिय का अस्तित्व नितान्त आवश्यक है। हमारी अन्यान्य इन्द्रियों के बारे मे यही एक बात कही जा सकती है। बाहर के कान केवल आवाज को भीतर लेजाने के यत्र है। वह आवाज़ मस्तिष्क मे अवस्थित केन्द्र मे जा पहुँचती है, किन्तु इससे श्रवणक्रिया पूर्ण नही होती। कभी कभी ऐसा भी होता है कि पुस्तकालय में बैठकर तुम ध्यान से कोई पुस्तक पढ़ रहे हो, घड़ी मे बारह बजने की आवाज होती है, किन्तु तुम्हे कुछ सुनाई नही देता। क्यो तुम कुछ नहीं सुन पाए ? यहाँ किस चीज़ की कमी थी ? उस इन्द्रिय के साथ मन का कोई योग नही था। अतएव हम देख रहे है कि मन का रहना भी नितान्त आवश्यक है। प्रथमतः बहिर्यन्त्र, उसके बाद यह बहिर्यन्त्र मानो किसी विषय को वहन कर इन्द्रिय के निकट ले जाता है, फिर उस इन्द्रिय के साथ मन युक्त रहना चाहिये। जब मस्तिष्क मे अवस्थित उस इन्द्रिय का मन से कोई योग नहीं रहता है तब कर्ण-यन्त्र तथा मस्तिष्क के केन्द्र पर किसी भी विषय का प्रभाव पड़ सकता है किन्तु हमे कोई अनुभव नहीं होगा। मन भी केवल वाहक है, उसे इस विषय का प्रभाव और भी भीतर वहन कर बुद्धि को प्रदान करना पड़ता है। अब बुद्धि को उसका निश्चय करना पडता है परन्तु इससे भी पर्याप्त फल नहीं होता। बुद्धि को उसे फिर और भी भीतर ले जाकर शरीर के राजा आत्मा के पास पहुँचाना पड़ता है। उनके पास पहुँचने पर वे आदेश देते हैं कि "हाँ यह

करो " या " यह न करो " । तब जिस क्रम के अनुसार वह भीतर गया था ठीक उसी क्रम से वह बहिर्यन्त्र मे आता है—पहले बुद्धि मे, उसके वाद मन मे, फिर मस्तिष्क-केन्द्र में, अन्त मे बहिर्यन्त्र मे; तभी विषय का ज्ञान सम्पन्न होता है।

इन सब यन्त्रों का अवस्थान मनुष्य की स्थूल देह मे है, लेकिन मन तथा बुद्धि का कोई दूसरा निवास है। हिन्दू शास्त्र मे उसका नाम है सूक्ष्म शरीर, ईसाई शास्त्र मे वह आध्यात्मिक शरीर है। इस शरीर से वह वहुत ही सूक्ष्म है, परन्तु फिर भी उसे आत्मा नही कहा जा सकता। आत्मा इन सबों के अतीत है। कुछ दिनो मे स्थूल शरीर का अन्त हो जाता है, किसी मामूली कारण से ही उसके भीतर गड़बडी पैदा हो जाती है और वह नष्ट हो जा सकता है। इतनी आसानी से सूक्ष्म शरीर नष्ट नहीं होता, किन्तु उसे भी कभी कभी कमज़ोरी आ जाती है। हम देखते है कि बूढ़े लोगों मे मन का उतना ज़ोर नही रहता है, फिर शरीर मे वल रहने से मन की शक्ति भी कायम रहती है—विविध औपधियॉ मन पर अपना प्रभाव डालती है। बाहर की सब वस्तुऍ उस पर अपना प्रभाव डालती है, और वह भी बाह्य जगत पर अपना प्रभाव डालता है। जैसे शरीर में उन्नति और अवनति होती है वैसे ही मन भी कभी कभी सवल और निर्वल हो जाता है, अतएव मन कभी आत्मा नही हो सकता, क्योंकि आत्मा अविमिश्रित तथा क्षयरहित होता है। हम कैसे यह जान सकते हैं? क्योकर हम जान सकते है कि मन के पीछे और भी कुछ है? स्वप्रकाश (Self luminous) ज्ञान कभी जड का धर्म नहीं हो सकता है। ऐसी कोई जड वस्तु नही दिखाई देती जिसका निजी रूप ही ज्ञान है। जड भूत कभी स्वय

ही स्वयं को प्रकाशित नहीं कर सकता। ज्ञान ही सब जड़ों को प्रकाशित करता है। यह जो सामने हॉल दिखाई दे रहा है ज्ञान को ही इसका मूल कहना पड़ेगा, क्योंकि बिना किसी न किसी ज्ञान के सहारे उसका अस्तित्व हम कभी अनुभव ही नहीं कर सकते थे। यह शरीर स्वप्रकाश नहीं है—यदि वैसा ही होता तो मृत-शरीर भी स्वप्रकाशित होता। मन अथवा आध्यात्मिक शरीर भी कभी स्वप्रकाश नहीं हो सकता। वह ज्ञानस्वरूप नहीं है। जो स्वप्रकाश है उसका कभी ध्वंस नहीं होता। जो दूसरे के आलोक से आलोकित है उसका आलोक कभी रहता है, कभी नहीं। किन्तु जो स्वयं आलोकस्वरूप है उसके आलोक का क्या आविर्भाव--तिरोभाव, ह्रास अथवा वृद्धि कभी हो सकती है? हम देख पाते हैं कि चन्द्रमा का क्षय होता है, फिर वह बढ़ता जाता है—क्योंकि वह सूर्य के आलोक से ही आलोकित है। यदि लोहे का गोला आग मे फेंक दिया जाय और उसे लाल सा बनाया जाय तो उससे आलोक निकलता रहेगा, किन्तु वह दूसरे का आलोक है, इसलिये वह शीघ्र ही लुप्त हो जायगा। अतएव उसी आलोक का क्षय होता है जो दूसरे से प्राप्त किया गया हो, जो स्वप्रकाश आलोक नहीं है।

अब हमने देखा है कि यह स्थूल देह स्वप्रकाश नही है, वह स्वयं अपने को नहीं जान सकती। मन भी स्वय को नहीं जान सकता। क्यो? क्योकि मन की शक्ति मे ह्रास-वृद्धि होती है, कभी उसमे बहुत जोर रहता है तो कभी वह कमज़ोर बन जाता है। कारण, बाह्य सभी वस्तुएँ उस पर अपना अपना प्रभाव डालकर उसे

या तो शक्तिशाली बना सकती है, या शक्तिहीन भी। अतएव मन के भीतर से जो आलोक आ रहा है वह उसका निजी आलोक नहीं है। फिर वह किसका है? वह ऐसे किसी का आलोक अवश्य होगा जिसके लिये वह आलोक कोई उधार लिया हुआ नहीं है, या जो दूसरे किसी आलोक का प्रतिबिम्ब भी नहीं है, किन्तु जो स्वयं ही आलोकस्वरूप है। इसीलिये वह आलोक या ज्ञान उसी पुरुष का स्वरूप होने के कारण कभी नष्ट नहीं हो सकता, कभी उसका क्षय नहीं होता, वह न तो कभी बलवान हो सकता है, न कमजोर। वह स्वप्रकाश है, वह आलोकस्वरूप है। हम यों न समझें कि 'आत्मा जानता है,' वह तो ज्ञानस्वरूप है। यह नहीं कि आत्मा का अस्तित्व है, लेकिन वह अस्तित्व स्वरूप है। आत्मा सुखी है ऐसी कोई बात नहीं, परन्तु आत्मा सुखस्वरूप है। जो सुखी होता है वह उस सुख को किसी दूसरे से प्राप्त करता है – वह और किसी का प्रतिबिम्ब है। जिसका ज्ञान है उसने अवश्य ही उस ज्ञान को किसी दूसरे से प्राप्त किया है, वह प्रतिबिम्ब स्वरूप है। जिसका अस्तित्व है उसका वह अस्तित्व दूसरे किसी के अस्तित्व पर निर्भर करता है। जहाँ गुण व गुणी का भेद है वहाँ ऐसा समझना चाहिये कि वे गुण गुणी के ऊपर प्रतिबिम्बित हुए हैं। किन्तु ज्ञान, अस्तित्व या आनन्द—ये आत्मा के धर्म नहीं हैं, वे आत्मा के स्वरूप हैं।

फिर प्रश्न पूछा जा सकता है कि हम इस बात को क्यों स्वीकार कर लें? क्यों हम यह स्वीकार करलें कि आनन्द, अस्तित्व तथा स्वप्रकाशत्व आत्मा का स्वरूप है, आत्मा का धर्म नहीं? इसका

उत्तर यह है कि हम पहले ही देख चुके है कि मन के प्रकाश मे शरीर का प्रकाश होता है। जब तक मन रहता है तब तक उसका प्रकाश होता रहता है, जब मन लुप्त हो जाता है तब इस देह का प्रकाश भी बद हो जाता है। ऑखो से यदि मन चला जाय तो तुम लोगो की ओर ऑखे डालने पर भी हम तुम्हे नही देख पायेगे; अथवा श्रवणेन्द्रिय से वह यदि अनुपस्थित रहे तो हम जरा सी आवाज भी नहीं सुन सकते। यही हाल सभी इन्द्रियो के बारे मे है। अतएव हम देख रहे है कि मन के प्रकाश मे ही शरीर का प्रकाश है। फिर मन के विषय मे वही एक सी बात। बाहरी सभी वस्तुऍ उसके ऊपर अपना अपना प्रभाव डाल रही है, अति तुच्छ कारण से ही उसका परिवर्तन हो सकता है, मस्तिष्क के भीतर कोई मामूली गडबडी होने से ही उसमे परिवर्तन हो जाता है। अतएव मन भी स्वप्रकाश नहीं हो सकता, क्योकि यह तो प्राकृतिक नियम है कि जो किसी वस्तु का स्वरूप होता है उसका कभी कोई परिवर्तन नही हो सकता। केवल जो अन्य वस्तु का धर्म है, जो दूसरो का प्रतिबिम्ब स्वरूप है उसी का परिवर्तन हुआ करता है। किन्तु अब एक प्रश्न हमारे सामने आता है कि हम यह क्यो नहीं मान लेते कि आत्मा का प्रकाश, उसका ज्ञान व आनन्द भी उसी तरह दूसरे से लिये हुए है? इस तरह मान लेने से हमारी ग़लती यह होगी कि ऐसी स्वीकृति का कोई अन्त नहीं मिलेगा—फिर प्रश्न आयेगा उसे कहॉ से आलोक मिला है? यदि हम कहे कि वह दूसरी किसी आत्मा से मिला है तो फिर प्रश्न होगा कि उसने कहाँ से वह आलोक प्राप्त किया? अतएव अन्त मे हमे ऐसे एक स्थान पर पहुँचना होगा जिसका आलोक दूसरे से नही आया है। इसलिये इस विषय मे न्यायसंगत सिद्धान्त यही है कि जहॉ पहले ही स्वप्रकाशत्व दिखाई देगा

वहीं ठहरना होगा, और अधिक आगे जाने की जरूरत नहीं।

अतएव हमने देखा कि पहले मनुष्य की यह स्थूल देह है, उसके पीछे एक सूक्ष्म शरीर है, उसके पश्चात् मनुष्य का प्रकृत रूप छिपा हुआ है जिसे हम आत्मा कहते है। हमने देखा है कि स्थूल देह की सारी शक्तियाँ मन से प्राप्त होती है—मन फिर आत्मा के आलोक से आलोकित है।

आत्मा के स्वरूप के बारे मे फिर विविध प्रश्न पूछे जा सकते है। आत्मा स्वप्रकाश है, सच्चिदानद ही आत्मा का स्वरूप है। इस युक्ति से यदि आत्मा का अस्तित्व मान लिया जाय तो स्वभावतः यह प्रमाणित होता है कि वह शून्य से पैदा नही हो सकता। जो स्वय स्वप्रकाश है, जो अन्यवस्तुनिरपेक्ष है वह कभी शून्य से उत्पन्न नही हो सकता। हमने देखा है कि यह जड़ जगत भी शून्य से नही आया है—तो फिर आत्मा कैसे आ सकता है? अतएव सर्वदा ही उसका अस्तित्व था। ऐसा समय कभी नही था जब उसका कोई अस्तित्व न था, क्योकि यदि तुम कहो कि कभी आत्मा का अस्तित्व नहीं था तो प्रश्न यह है कि समय का कहाँ अवस्थान था? काल तो आत्मा के भीतर ही अवस्थित है। जब मन के ऊपर आत्मा की शक्ति प्रतिबिम्बित होती है और मन चिन्तनकार्य मे लग जाता है तभी काल की उत्पत्ति होती है। जब आत्मा नही था तो चिन्ता भी नहीं थी। फिर चिन्ता न रहने से समय भी नहीं रह सकता है। अतएव जब समय आत्मा मे अवस्थित है तब आत्मा समय मे अवस्थित है यह हम कैसे कह सकते हैं? उसका न तो जन्म है, न मृत्यु, वह केवल विभिन्न स्तरो मे से आगे बढ़ती जाती है। धीरे धीरे वह निम्नावस्था से उच्च भाव मे स्वयं को प्रकाशित करती है। मन के

भीतर से शरीर के ऊपर कार्य करके वह अपनी महिमा का विकास कर रही है, फिर शरीर से बहिर्जगत का ग्रहण तथा अनुभव कर रही है। वह एक शरीर ग्रहण कर उसका उपयोग करती है; जब उस शरीर के द्वारा और कोई कार्य करने की सम्भावना नही रहती है तब वह दूसरे शरीर को ग्रहण कर लेती है।

अब आत्मा के पुनर्जन्म के बारे मे प्रश्न आता है। पुनर्जन्म के नाम से आदमी डर जाते है और लोगो के कुसस्कार ने इस तरह अपनी जडे जमा रखी है कि चिन्ताशील आदमी भी विश्वास कर लेगे कि हम शून्य से पैदा हुए है, फिर महायुक्ति के साथ सिद्धान्त स्थापित कर यह निश्चय करने की कोशिश करेगे की यद्यपि हम शून्य से आये है तथापि हम चिरकाल तक रहेगे। जो शून्य से आया है वह जरूर शून्य मे ही मिल जायगा। हममे कोई भी शून्य से नही आया है इसलिये हम कभी शून्य मे नहीं मिट जायेगे। अनादिकाल से हमारी उपस्थिति है व चिरकाल तक हम रहेगे और जगतब्रह्माण्ड मे ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो हम लोगो का अस्तित्व मिटा दे। इस पुनर्जन्मवाद से हमे किसी तरह डरना नहीं चाहिये, क्योकि वही मानवो की नैतिक उन्नति का प्रधान सहायक है। चिन्ताशील व्यक्तियो के मतानुसार यही न्यायसगत सिद्धान्त है। यदि भविष्य मे चिरकाल के लिये तुम्हारा अस्तित्व रहना सम्भव हो तो यह भी सच है कि अनादिकाल से तुम्हारा अस्तित्व था। इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता है। इस मत के विरुद्ध कई आपत्तियाँ उठाई गई है, इनका निराकरण करने की चेष्टा करूँगा। यद्यपि ये आपत्तियाँ कुछ साधारण सी ही है तथापि हमे इनका उत्तर देना

ही पडेगा; क्योकि हम जानते है कि वड़े वडे चिन्ताशील व्यक्ति भी कभी कभी वालकोचित वाते किया करते है। लोग जो कहते है कि 'ऐसा कोई असगत मत नहीं है जिसका समर्थन करने के लिये कोई दार्शनिक आगे नही वढता है' यह विलकुल सच है। पहली शका यह है कि हमे अपने जन्म-जन्मान्तर की वाते क्यो याद नही रहती है? इस पर यह पूछा जा सकता है कि क्या इसी जन्म की सब वीती घटनाओ को हम याद कर सकते है? तुम लोगों मे से कितने वचपन की घटनाओं को स्मरण कर सकते है? वचपन की कोई वात तुम नही याद कर सकते, फिर यदि स्मृति-शक्तियो के ऊपर अस्तित्व निर्भर रहे तो यह कहना पड़ेगा कि वचपन मे तुम्हारा अस्तित्व ही नहीं था, क्योकि उस समय की कोई वात तुम याद नही कर सकते हो। यह कहना वेकार है कि यदि हम स्मरण कर सके तभी हम पूर्वजन्म का अस्तित्व स्वीकार करने को तैयार है। क्या इसका कोई कारण है कि पूर्वजन्म की बाते हमारे स्मरण मे रहेगी ही? उस समय का मस्तिष्क भी बिलकुल नष्ट हो गया है एव एक नये मस्तिष्क की रचना हुई है। अतीतकाल के सस्कारों का जो समष्टिभूत फल है वही हमारे मस्तिष्क मे आया है—उसी को लेकर मन हमारे इस शरीर मे अवस्थित है।

मै अव जिस दशा मे हूँ वह मेरे अनत अतीतकाल के कर्म के परिणाम का फल है; किन्तु मुझे उस अतीत का स्मरण करने से क्या प्रयोजन? कुसंस्कारो का ऐसा प्रभाव है कि जो लोग पुनर्जन्मवाद नही मानते वे ही फिर कहते है कि एक समय हम वन्दर थे; किन्तु फिर उन्हे उस मर्कट-जन्म का स्मरण क्यो नही है? इसके कारणो की

खोज करने का उन्हे साहस नहीं होता है। जब हम सुनते हैं कि प्राचीन काल के किसी साधु या ऋषि ने सत्य को प्रत्यक्ष किया है तो हम कह देते हैं कि वह सब भूल है; परन्तु यदि कोई कहे कि हक्सले का मत है या टिण्डाल ने बताया है तो हम तुरन्त सारी बाते मान लेते है। प्राचीन कुसस्कारों की जगह हम आधुनिक कुसंस्कार लाये है, धर्म के प्राचीन पोप के बदले हमने विज्ञान के आधुनिक पोप का स्वागत किया है। अतएव हमे मालूम हो गया कि स्मृति-सम्बन्धी शंका खोखली है। और पुनर्जन्म के बारे मे जिन आपत्तियो की अवतारणा की गयी है उनमे यही एक है जिसे विज्ञ लोग सामने ला सकते है।

हमने यह देखा है कि पुनर्जन्मवाद सिद्ध करने के लिये साथ ही साथ स्मृति भी रहे—यह प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। फिर भी हम दावे के साथ यह कह सकते है कि अनेको मे ऐसी स्मृति आयी है और जिस जन्म मे तुम लोगो को मुक्तिलाभ होगा उस जन्म मे तुम लोग भी ऐसी स्मृति के अधिकारी बनोगे। तभी तुम्हे मालूम होगा कि जगत् स्वप्न-सा है. तभी तुम अन्तस्तल से अनुभव कर सकोगे कि तुम इस जगत् मे नट मात्र हो और यह जगत् रंग-भूमि है, तभी प्रचण्ड अनासक्ति का भाव तुम्हारे भीतर उदित होगा —तभी सब भोगवासनाएँ, जीवन से इतना प्रेम—यह संसार आदि, सब चिरकाल के लिये लुप्त हो जायेगे। तब तुम्हे स्पष्ट मालूम हो जायगा कि जगत् मे तुम कितने बार आये हो. कितने लाखो बार तुमने पिता. माता, पुत्र, कन्या, स्वामी. स्त्री, बन्धु, ऐश्वर्य, शक्ति लेकर इसी जगत् मे जीवन बिताया है। यह सब कितने बार हुआ था, फिर कितने बार चला गया था। कितने बार संसार-तरंग के सर्वोच्च शिखर पर तुम चढ़े थे और कितने ही बार नैराश्य के अतल गर्त मे

तुम गिर गये। जब स्मृति यह सब तुम्हारे मन मे ला देगी केवल तभी तुम वीर-से खड़े हो सकोगे तथा ससार के कटाक्ष तुम हँसकर उड़ा दे सकोगे। तभी वीर की तरह खड़े होकर तुम कह सकोगे, "मृत्यो, तुझसे मै जरा भी नहीं डरता, तुम व्यर्थ क्यों मुझे डराने की चेष्टा कर रहे हो?" जब तुम जान जाओगे कि तुम पर मृत्यु का कोई प्रभाव नहीं है, तभी तुम मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकोगे एवं धीरे धीरे हम सभी इस मृत्युजयी अवस्था मे पहुचेगे।

आत्मा का पुनर्जन्म होता है इसका कौन सा युक्तियुक्त प्रमाण है? अब तक हम शका का समाधान कर रहे थे। हमने देखा कि पुनर्जन्मवाद अप्रमाणित करने के लिये जो युक्तियाँ उठाई जाती है वे खोखली है। अब पुनर्जन्मवाद के पक्ष मे जितनी युक्तियाँ हैं उनकी हम आलोचना करेगे। पुनर्जन्मवाद के बिना ज्ञान असंभव है। मानो मैने रास्ते पर एक कुत्ता देखा। मै कैसे जान पाया कि वह कुत्ता ही है? जैसे ही मेरे मन पर उसकी छाप पडी वैसे ही उसे मै अपने मन के पूर्वसंस्कारो के साथ मिलाने लगा। मैने देखा कि वहाँ मेरे समस्त पूर्व-सस्कार स्तर स्तर मे अवस्थित हैं। ज्योही कोई नया विषय आया त्योही मैने प्राचीन सस्कारो से उसकी तुलना की। जैसे ही मैने अनुभव किया कि उसी की भाँति और भी कई संस्कार वहाँ विद्यमान है, वैसे ही उसकी तुलना करने लगा—तभी मै तृप्त हुआ। मैने तब उसे कुत्ते के नाम से जान पाया, क्योकि पहले के कई सस्कारो के साथ वह मिल गया। जब हम उस जैसे संस्कार को अपने भीतर नहीं देख पाते है तभी हममे असतोष पैदा होता है। इसीको अज्ञान कहते है। और सन्तोष मिल जाने से ही ज्ञान कहलाता है। जब एक सेव

गिरा तो मनुष्य को असतोष हुआ। इसके बाद मनुष्य ने क्रमश इसी प्रकार की कई घटनाएँ देखी। शृंखला की तरह ये घटनाएँ एक दूसरे से बंधी हुई थी। यह शृखला क्या थी ? वह शृखला यह थी कि सभी सेव गिरते है। और इसीको उसने 'माध्यॉकर्षण' का नाम दिया। अतएव हमने देखा कि पहले की अनुभूतियॉ न रहने से कोई नई अनुभूति प्राप्त करना असभव है, क्योंकि उस नयी अनुभूति से तुलना करने के लिये कुछ भी नही मिल सकेगा। इसलिये कई यूरोपीयन दार्शनिको का जो मत है कि 'पैदा होते समय बच्चा ससारशून्य मन लेकर आता है' यदि सच हो तो संसार से उसे संस्कारशून्य मन लेकर जाना पड़ेगा क्योंकि नयी अनुभूति के साथ मिलने के लिये उसने कोई सस्कार ही नही हैं। अतएव हमने देखा कि इस पूर्वसंचित ज्ञान-भांडार के बिना कोई नया ज्ञान प्राप्त करना असंभव है। वस्तुत. हम सभी को पूर्वसचित ज्ञान-भांडार अपने साथ लेकर आना पडा है। ऐसे ज्ञान के बिना जानने का और कोई दूसरा उपाय नही है। यदि हम यहॉ पर वह ज्ञान नहीं मिला हो तो अवश्य ही हमने अन्य कही से उसे प्राप्त किया होगा। मृत्यु से हम सर्वदा डर जाते है, लेकिन क्यों ? मुर्गी का एक बच्चा जो अभी पैदा हुआ है, एक चील को आते देखकर भाग गया। उसने कहॉ से तथा कैसे सीखा कि चील मुर्गी के बच्चों को खा जाती है। इसका एक पुराना विश्लेपण है, किन्तु उसे हम सिर्फ विश्लेपण ही नही कह सकते। वह स्वाभाविक सस्कार (Instinct) कहा जाता है। मुर्गी के उस छोटे बच्चे मे कहां से मरने का डर आया ? अंडे से अभी अभी निकली बतक पानी के निकट आते ही क्यो कूद पडती है तथा तैरने लगती है ? वह तो पहले कभी तैरना नहीं जानती थी, न तो पहले उसने किसीको तैरते

देखा है। लोग कहते है कि वह "स्वाभाविक ज्ञान" है। "स्वाभाविक ज्ञान" कहने से हमने एक लम्बे चौड़े शब्द का प्रयोग किया है इतना ही, किन्तु उसने हमे नयी कोई वस्तु नही सिखाई। अब आलोचना की जाय कि यह स्वाभाविक ज्ञान है क्या। हमारे भीतर ही अनेक प्रकार के स्वाभाविक ज्ञान वर्तमान है। मानो एक व्यक्ति ने पियानो पर गाना बजाना सीखना शुरू किया। पहले 'सरगम' की ओर गहरा ध्यान देकर उंगलियों को चलाना पड़ता है, किन्तु कई महीनो तथा सालो अभ्यास हो जाने पर उंगलियाँ आप ही आप ठीक ठीक स्थानो पर चलती फिरती है और वह स्वाभाविक हो जाता है। किसी समय जिसमे ज्ञानपूर्वक इच्छा का प्रयोजन होता था, उसमे और उसकी कोई जरूरत न रह गई, एवं ज्ञानपूर्वक इच्छा के बिना ही वह अब सम्पन्न हो सकता है और उसी को स्वाभाविक ज्ञान कहते है। पहले वह इच्छा के साथ था, अन्त मे उसमे इच्छा का कोई प्रयोजन न रहा। किन्तु स्वाभाविक ज्ञान का तत्व अभी पूरा नहीं कहा गया है, अब भी आधा रह गया है। वह यह है कि जो सब कार्य अब हमारे लिये स्वाभाविक हैं, प्राय: उन सभी को हम अपनी इच्छा के वश मे ला सकते है। शरीर की प्रति पेशी को ही हम अपने वश मे ला सकते है। आजकल यह विषय हम सभी को अच्छी तरह से ज्ञात है। अतएव अन्वयी व व्यतिरेकी इन दोनो उपायो से ही प्रमाणित किया गया है कि जिसे हम स्वाभाविक ज्ञान कहते है वह इच्छाकृत कार्य के अवनत भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतएव जब सारी प्रकृति मे एक ही नियम का राज्य है तो समग्र सृष्टि मे 'उपमान-प्रमाण' का प्रयोग करके इस सिद्धान्त पर हम पहुंच

सकते है कि तिर्यग् जाति व मनुष्य मे जो स्वाभाविक ज्ञान के रूप मे प्रकट होता है वह केवल इच्छा का अवनत भाव है।

वहिर्जगत् मे हमें जो नियम मिला था, अर्थात् "प्रत्येक क्रम-विकास-प्रक्रिया के पहले एक क्रम-संकोच-प्रक्रिया रहती है और क्रमसकोच के साथ साथ क्रमविकास भी रहता है" इस नियम से हम स्वाभाविक ज्ञान का कौनसा तात्पर्य निकाल सकते है? यही कि स्वाभाविक ज्ञान विचारपूर्वक कार्य का क्रम-सकुचित भाव है। अतएव मनुष्य अथवा पशु मे जिसे हम स्वाभाविक ज्ञान कहते है वह अवश्य ही पूर्ववर्ती इच्छाकृत कार्य का क्रम-संकोच भाव होगा। और 'इच्छाकृत कार्य' कहने से पहले यह अपने आप ही स्वीकृत हो जाता है कि हमने अभिज्ञता या अनुभव का लाभ किया था। पूर्वकृतकार्य से वह संस्कार आया था और वह संस्कार अब भी विद्यमान है। मरने का भय, जन्म से ही तैरने लगना तथा मनुष्य मे जितने अनिच्छाकृत स्वाभाविक कार्य पाये जाते है वे सभी पूर्व-कार्य व पूर्व-अनुभूति के फल है —वे ही अव स्वाभाविक ज्ञान के रूप मे परिणत हुये हैं। अव तक इस विचार मे हम आसानी से आगे वढ़ सके है और यहॉ तक आधुनिक विज्ञान भी हमारा सहायक रहा। आधुनिक वैज्ञानिक धीरे धीरे प्राचीन ऋषियो से सहमत हो रहें है एवं प्राचीन ऋषियो के मत को वैज्ञानिक जहॉ तक मान लेते है वहॉ तक कोई गड़वड नही है। वैज्ञानिक मानते है कि प्रत्येक मनुष्य एवं प्रत्येक पशु कई अनुभूतियो की समष्टि लेकर जन्म लेते है, वे यह भी मानते है कि मन के ये सव कार्य पूर्व अनुभूति के फल है। किन्तु यहॉ पर वे लोग और एक प्रश्न पूछते है: उन लोगो का कहना है कि यह वात कहने की क्या आवश्यकता है कि ये अनु-

भूमियाँ आत्मा की है ? ऐसा कहना ही ठीक है कि वे सब शरीर के धर्म है। इसे आनुवंशिक सचार (Hereditary Transmission) ही कह सकते है। यही शेष प्रश्न है। जिन सब संस्कारों को लेकर मैंने जन्म लिया है वे हमारे पूर्वजो के संचित सस्कार हैं, ऐसा हम क्यो न कहे ? छोटे जीवाणु से लेकर सर्वश्रेष्ठ मनुष्य तक सभी के कर्मसस्कार मुझमे मिले हुए हैं, किन्तु आनुवंशिक संचार के कारण ही मुझमें वे आकर मिल गये हैं। यदि हम ऐसा कहते तो कौनसी बाधा होती ? यह प्रश्न बहुत ही सूक्ष्म है। हाँ, इस आनुवंशिक संचार को कुछ अंश तक हम मानते है। लेकिन हम इतना ही मानते है कि इससे आत्मा को रहने के लिये एक स्थान मिल जाता है। हम अपने पूर्व कर्मों के द्वारा शरीरविशेष का आश्रय लेते हैं। और जिन्होंने उस आत्मा को सतान के रूप मे प्राप्त करने को स्वयं को उपयुक्त किया है, उनसे ही वह आत्मा उपयुक्त उपादान ग्रहण करती है। आनुवंशिक संचारवाद (Doctrine of Heredity) किसी प्रमाण के विना ही एक अदभुत बात मानता है कि मन के सस्कारों की छाप जड मे रह सकती है। जब मै तुम्हारी ओर देखता हूँ तब मेरे चित्त-ह्रद मे तरग उठती है। वह तरंग थोड़े ही समय मे लुप्त हो जाती है; किन्तु सूक्ष्म रूप मे वह तरंग के रूप मे ही वर्तमान रहती है। हम यह समझ सकते हैं। हम यह भी समझ सकते है कि भौतिक सस्कार शरीर मे रह सकते है। किन्तु इसका क्या प्रमाण है कि शरीर के भग होने पर मानसिक सस्कार शरीर मे रहते है ? किसके द्वारा ये सस्कार सचारित होते हैं ? मानो, मन का प्रत्येक सस्कार शरीर मे रहना सम्भव है; मानो आनुवंशिकता के अनुसार आदिम मनुष्य से लेकर सब पूर्वजों के संस्कार मेरे पिता के शरीर मे वर्तमान है एवं पिता के शरीर से मै उन्हें प्राप्त कर रहा हूँ। कैसे ?

तुम शायद कहोगे जीवाणुकोप (Bio plasmic Cell) के द्वारा। किन्तु यह कैसे सम्भव हो सकता है? क्योंकि पिता का शरीर तो संतान मे सम्पूर्ण रूप से नही आता है। एक ही पिता-माता की कई सतान हो सकती है। इसलिये यदि हम यह आनुवशिक संचारवाद मान ले तो यह भी हमे अवश्य स्वीकार करना पडेगा कि प्रत्येक संतान के जन्म के साथ-ही-साथ पिता-माता को भी अपनी निजी मनोवृत्ति का कुछ अंश खोना पडेगा, (चूँकि उन लोगो के मत से सचारक व सचार्य एक अर्थात् भौतिक है) एवं यदि तुम कहोगे कि उनकी सारी मनोवृत्तियॉ ही सचारित होती है तो यह वात माननी पड़ेगी कि प्रथम सन्तान के जन्म के वाद ही उन लोगो का मन पूर्ण रूप से शून्य हो जायगा। फिर यदि जीवाणुकोप में चिरकाल के अनत सस्कार रह जायॅ तो पूछा जायगा कि ये कहॉ रहते हैं और किस रूप से? यह पक्ष बिलकुल असम्भव है। जव तक ये जड़वादी प्रमाणित न कर सके कि कैसे वे संस्कार उस कोप मे रह सकते है तथा कहॉ रह सकते है एव "भौतिक कोप मे ये मनोवृत्तियाँ निद्रित रहती है" इसका तात्पर्य वे जव तक समझा नही सकते तव तक उनका सिद्धान्त मान लेना असम्भव है। इतना तो हम अच्छी तरह समझ जाते है कि ये संस्कार मन के भीतर ही निवास करते है। मन ही वार वार जन्म ग्रहण करता आता है, मन ही अपने उपयोगी उपादान ग्रहण करता है और इस मन ने जिस शरीरविशेप के धारण करने के उपयुक्त कर्म किये है, तन्निर्माणोपयोगी उपादान जव तक वह नही पाता, तव तक उसे राह देखनी पड़ती है। यह हम अनुभव करते हैं। अतएव आत्मा के लिए देहगठनोपयोगी उपादान प्रस्तुत करने तक ही आनुवंशिक संचारवाद स्वीकृत किया जा सकता है। परन्तु

आत्मा देह के बाद देह ग्रहण करती है, शरीर के बाद शरीर प्रस्तुत करती है; और हम जो कुछ चिन्ता करते है, हम जो कुछ कार्य करते है वही सूक्ष्म भाव मे रह जाता है और समय आने पर वे ही स्थूल रूप मे व्यक्त भाव धारण करके आत्मप्रकाश के लिये उन्मुख होते हैं। मैं अपना अभिप्राय तुम्हे और भी अधिक स्पष्ट रूप से कह दूँ। जब कभी मैं तुम लोगों की ओर देखता हूँ तो मेरे मन मे एक तरग उठती है। वह मानो मेरे चिन्ताह्रद के भीतर डूब जाती है, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती है, परन्तु वह बिलकुल ही नष्ट नहीं हो जाती। मन मे वह किसी भी मुहूर्त मे स्मृति-तरंग के रूप मे प्रकट होने को प्रस्तुत रहती है। इसी तरह मेरे मन के भीतर ही यह समस्त संस्कारसमष्टि विद्यमान है जो मृत्यु के समय पर साथ ही बाहर हो जायगी। मानो, इस कमरे मे कहीं एक गेद पड़ी है और हम सब एक एक छड़ी से सब ओर से उसे मारने लगे। गेद कमरे के एक कोने से दूसरे कोने मे दौड़ने लगी, दरवाज़े के नजदीक जाते ही वह बाहर चली गई। वह किस शक्ति से बाहर चली जाती है?—जितनी छड़ियाँ उसे मारी गई थी उनकी सम्मिलित शक्ति से। किस ओर उसकी गति होगी, यह भी इन सभी के समवेत फल से निर्णित होगा। इसी प्रकार, शरीर का पतन होने पर आत्मा की गति का निर्णायक क्या होगा? उसने जैसे कर्म किये है, जैसी चिन्ताएँ की है, वे ही उसे किसी विशेष दिशा मे परिचालित करेगी। अपने भीतर उन सबो की छाप लेकर वह आत्मा अपने गन्तव्य की ओर अग्रसर होगी। यदि समवेत कर्मफल इस प्रकार हो कि भोग के लिये उसे पुनः एक नया शरीर गढ़ना होगा तो वह ऐसे पिता-माता के पास जायगी जिनसे वैसे शरीर गठन करने के उपयुक्त उपादान प्राप्त कर सके और उन्ही उपादानो के द्वारा वह एक नया

शरीर धारण कर लेगी। इसी तरह वह आत्मा एक देह से दूसरी देह मे जाती रहेगी, कभी स्वर्ग मे जायगी तो कभी पृथ्वी पर आकर मानव देह धारण करेगी अथवा अन्य कोई उच्चतर या निम्नतर जीव-शरीर धारण करेगी। और इस प्रकार वह तब तक आगे बढ़ती जायगी जब तक उसका भोग समाप्त होकर वह अपने निजी स्थान पर लौट न आयेगी। तभी वह अपना स्वरूप जान सकती है, जान सकती है कि वह यथार्थतः क्या है। तब समस्त अज्ञान दूर हो जाता है और उसकी सारी शक्तियॉ प्रकाशित होजाती है। वह तब सिद्ध हो जाती है, पूर्णता प्राप्त कर लेती है, तब उसके लिये स्थूल शरीर की सहायता से कार्य करने की कोई आवश्यकता नही रह जाती। सूक्ष्म शरीर के द्वारा कार्य करने की भी आवश्यकता नही रहती। वह तब स्वयंज्योति व मुक्त हो जाती है, उसका फिर जन्म या मृत्यु कुछ भी नही होता।

अब इस विषय पर हम और अधिक कुछ आलोचना नही करेगे। पुनर्जन्म के बारे मे केवल एक और बात की ओर आप लोगो का ध्यान आकर्षित कर हम यह आलोचना समाप्त करेगे। यही मत केवल जीवात्मा की स्वाधीनता की घोषणा करता है। केवल यही एक मत है जो हमारी सारी दुर्बलताओ का दोष दूसरे के मत्थे नही मढता। अपने निज के दोष दूसरे के मत्थे मढना मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता है। हम अपने दोष नहीं देखते है। क्या ऑखे कभी अपने को देख पाती है? किन्तु वे दूसरे सभो की ऑखे देख सकती है। हम मनुष्य है, अपनी दुर्बलताये, अपनी गलतियॉ मानने को हम तब तक राजी नही होते जब तक हम दूसरो पर ये सब लाद सकते है। साधारणतः मनुष्य अपने दोषों तथा अपनी भूलो

को पडोसियो पर लादना चाहता है। और यदि यह न बन सके तो ईश्वर को इसके लिये उत्तरदायी बनाने की चेष्टा करता है— और यदि इसमे भी सफल न हुआ तो भाग्य नामक एक भूत की कल्पना करता है और उसी को इसके लिये उत्तरदायी करके निश्चिन्त रहता है। परन्तु प्रश्न यह है कि 'भाग्य' नाम की यह वस्तु है क्या और रहती कहाँ है? हम तो जो कुछ बोते है उसीको पाते है।

हमने स्वय ही अपने अपने भाग्यो की सृष्टि की है। यद्यपि हमारा भाग खोटा हो तब भी हम किसी को उत्तरदायी नहीं बना सकते और यदि हमारे भाग्य अच्छे हो तो भी किसी की प्रशंसा करने की आवश्यकता नहीं है। वायु सर्वदा बह रही है। जिन सब जहाजों के पाल उठे रहते है उन्हीं का वायु साथ देती है और वे ही उसके सहारे आगे बढ़ते है। किन्तु जिनके पाल लगाये नहीं गये उन पर वायु का कोई असर नहीं होता। किन्तु यह क्या वायु का दोष है? हममे कोई सुखी है तो कोई दुःखी। क्या यह भी उन करुणामय पिता के कारण है जिनकी कृपा-रूपी वायु दिनरात बहती रहती है, जिनकी दया का अन्त नहीं है? हम स्वयं ही अपने भाग्यों के निर्माता है। उनका सूर्य सभों के लिये उगता है चाहे वे दुर्बल हो या बलवान। साधु, पापी सभी के लिये उनकी वायु बह रही है। वे सभो के प्रभु है, पिता है, वे दयामय तथा समदर्शी है। क्या तुम लोगो की यह धारणा है कि हम छोटी छोटी चीजों को जिस दृष्टि से देखते है, वे भी उसी दृष्टि से देखते है? भगवान के सबध मे हमारी यह कितनी क्षुद्र धारणा है। कुत्ते के पिल्लो की

तरह हम नाना विपयो के लिये प्राणपण से चेष्टा कर रहे है और मूर्ख की तरह हम समझ रहे है कि भगवान भी उन विपयों को ठीक उसी तरह सत्य समझकर ही ग्रहण करेगे। इन पिल्लो के इस खेल का क्या अर्थ है, वे अच्छी तरह जानते है। उन पर सब दोप लाद देना या यह कहना कि वे ही दण्ड-पुरस्कार देने के मालिक है, मूर्खता की बाते है। वे किसी को दण्ड नहीं देते, पुरस्कार भी किसी को नही देते। प्रत्येक देश मे, प्रत्येक काल मे और प्रत्येक दशा मे प्रत्येक जीव उनकी अनंत दया प्राप्त करने का अधिकारी है। किस तरह उसका व्यवहार किया जायगा यह हम पर निर्भर रहता है। मनुष्य, ईश्वर या और किसी पर दोप लादने की चेष्टा न करो। जब तुम स्वय कष्ट पाते हो तो अपने को ही उसके लिये दोषी समझो एवं जिससे अपना कल्याण हो सके उसी की चेष्टा करो।

पूर्वोक्त समस्या का यही समाधान है। जो लोग अपने दुःखो या कष्टो के लिये दूसरों को दोपी बनाते है (दुःख इस बात का है कि ऐसे लोगो की सख्या दिनो दिन बढ़ती जा रही है) साधारणतया वे लोग दुर्बल-मस्तिष्क है; अपने कर्म-दोष से वे ऐसी परिस्थिति में आ पडे है, किन्तु अब वे इसलिये दूसरों को उत्तरदायी बना रहे हैं— इससे उनकी दशा मे तनिक भी परिवर्तन नहीं होता वरन् दूसरो पर दोप लादने की चेष्टा करने के कारण वे और भी दुर्बल बन जाते हैं। अतएव अपने दोप के लिये तुम किसी को उत्तरदायी न समझो. अपने ही पैरो पर खडे होने की चेष्टा करो, सब कामों के लिये अपने को ही उत्तरदायी समझो। कहो कि जिन कष्टो को हम

अभी झेल रहे है वे हमारे ही कृत कर्मों के फल है। यदि यह मान लिया जाय तो यह भी प्रमाणित हो जायगा कि वे फिर हमारे ही द्वारा नष्ट भी किये जा सकेंगे। हमने जो कुछ सृष्ट किया है उस सभी का ध्वंस भी हमीं कर सकते है, जो कुछ दूसरों ने बनाया है उसका नाश हमसे कभी नहीं हो सकता। अतएव उठो, साहसी बनो, वीर्यवान होओ। सब उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लो—यह याद रखो कि तुम स्वय ही अपने भाग्य के निर्माता हो। तुम जो कुछ बल या सहायता मागते हो वह तुम्हारे भीतर ही विद्यमान है। इसलिये इसी ज्ञानरूपी शक्ति के सहारे तुम बल प्राप्त करो और अपना भविष्य अपने हाथों बनाओ। 'गतस्य शोचना नास्ति'—अब समस्त भविष्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। सर्वदा तुम इस बात का स्मरण रखो कि तुम्हारी प्रत्येक चिन्ता, प्रत्येक कार्य सचित रहेगा, और यह भी याद रखो कि जैसे तुम्हारी प्रत्येक असत् चिन्ता या असत् कार्य शेरों की तरह तुम पर कूद पड़ने की चेष्टा करेगा वैसे ही सत् चिन्ताएँ एवं सत् कार्य भी हजारों देवताओं की शक्ति लेकर सर्वदा तुम्हारी रक्षा के लिये उद्यत रहेगे।

---

१०. बहुत्व में एकत्व

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् परान् पश्यति
नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीर . . प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥
—कठोपनिषद्, द्वितीय अध्याय, प्रथम वल्ली ।

" स्वयंभू ने इन्द्रियो को वहिर्मुख होने का विधान बनाया है, इसीलिये मनुष्य सामने की ओर (विषयो की ओर) देखता है, अन्तरात्मा को नहीं देखता । कोई कोई ज्ञानी व्यक्ति जो विषयो की ओर से निवृत्तदृष्टि है और अमृतत्व प्राप्ति की इच्छा रखता है, अन्तरस्थ आत्मा को देखा करता है । " हम देख चुके है कि वेदो के संहिता भाग मे तथा अन्य ग्रन्थो मे भी जगत् के तत्व का जो अनुसन्धान हो रहा था उससे बाहरी प्रकृति की तत्वालोचना द्वारा ही जगत् के कारण का अनुसन्धान करने की चेष्टा की गई थी, उसके बाद इन सभी सत्य की खोज करने वालो के हृदय मे एक नवीन प्रकाश आलोकित हुआ; उन्होंने समझ लिया कि वहिर्जगत् के अनुसन्धान द्वारा वस्तु का वास्तविक स्वरूप जानना असम्भव है । फिर किस प्रकार उसको जानना होगा ? बाहर की ओर से दृष्टि को फिरा कर अर्थात् भीतर की ओर दृष्टि करके जानना होगा । और यहॉ पर आत्मा का विशेषण स्वरूप जो ' प्रत्यक् ' शब्द प्रयुक्त हुआ है वह भी एक विशेष भाव का द्योतक है । प्रत्यक् अर्थात् जो भीतर की ओर गया है —हमारी अन्तरतम वस्तु

हृदय-केन्द्र, वही परम वस्तु जिससे मानो सब बाहर आया है, वही मध्यवर्ती सूर्य जिसकी किरणे है मन, शरीर, इन्द्रियाँ और जो कुछ हमारा है वह सब।

'पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीराः अमृतत्व विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥

(कठ—पूर्वोक्त)

"बालबुद्धि मनुष्य बाहरी काम्य वस्तुओं के पीछे दौड़ते फिरते है। इसीलिये सब ओर व्याप्त मृत्यु के पाश मे बध जाते है, किन्तु ज्ञानी पुरुष अमृतत्व को जान कर अनित्य वस्तुओं मे नित्य वस्तु की खोज नही करते।" यहाँ पर भी यही भाव प्रकट होता है कि सीमित वस्तुओ से पूर्ण बाह्य जगत् मे असीम और अनन्त वस्तु की खोज व्यर्थ है—अनन्त की खोज अनन्त मे ही करनी होगी और हमारी अन्तर्वर्ती आत्मा ही एक मात्र अनन्त वस्तु है। शरीर, मन आदि जितना भी जगत्प्रपञ्च हम देखते हैं अथवा जो हमारी चिन्ताये अथवा विचार है कुछ भी अनन्त नही हो सकता। इन सभी की उत्पत्ति काल मे है और लय भी काल मे है। जो द्रष्टा साक्षी पुरुष इन सब को देख रहा है, अर्थात् मनुष्य की आत्मा, जो सदा जाग्रत है वही एक मात्र अनन्त है, वही जगत् का कारणस्वरूप है; अनन्त की खोज करने के लिये हमे अनन्त मे ही जाना पडेगा—उस अनन्त आत्मा मे ही हम जगत् के कारण को देख पायेगे। 'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (कठ—पूर्वोक्त)। 'जो यहाँ है वही वहाँ भी है; जो वहाँ है वही

यहाँ भी है। जो यहाँ नाना रूप देखते है वे बारबार मृत्यु को प्राप्त होते है।' सहिता भाग मे हम देखते है कि आर्यों मे स्वर्ग जाने की विशेष रूप से इच्छा रहती थी। जब वे जगत्प्रपञ्च से विरक्त हो उठे तो स्वभावत ही उनके मन मे एक ऐसे स्थान मे जाने की इच्छा हुई जहाँ दु ख से बिलकुल रहित केवल सुख ही सुख हो। ऐसे स्थानो का ही नाम स्वर्ग है—जहाँ केवल आनन्द ही होगा, जहाँ शरीर अजर अमर हो जायगा, मन भी वैसा ही हो जायगा और वे वहाँ पितृगणो के साथ सदा वास करेगे। किन्तु दार्शनिक विचारो की उत्पत्ति होने के बाद इस प्रकार के स्वर्ग की धारणा असगत और असम्भव मालूम पड़ने लगी। 'अनन्त- किसी एक देश मे है.' यह वाक्य ही स्वविरोधी है। किसी भी स्थानविशेष की उत्पत्ति और नाश दोनो ही काल मे होते हैं। अतः उन्हे स्वर्गविषयक धारणा का त्याग कर देना पडा। वे धीरे धीरे समझ गये कि ये सब स्वर्ग मे रहने वाले देवता लोग एक समय इसी जगत् के मनुष्य थे, बाद मे किसी सत्कर्म के फलस्वरूप वे देवता बन गये हैः अतः यह देवत्व केवल विभिन्न पदो का नाम मात्र है। वेद का कोई भी देवता किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं है।

इन्द्र या वरुण किसी व्यक्ति के नाम नही है। ये सब विभिन्न पदो के नाम है। उनके मत के अनुसार जो पहले इन्द्र थे वे अब इन्द्र नही है. उनका इन्द्रत्व अब नही है. एक अन्य व्यक्ति यहाँ से जाकर उस पद पर आरूढ़ हो गया है। सभी देवताओ के सम्बन्ध मे इसी प्रकार समझना चाहिये। जो सब मनुष्य कर्म के बल से देवत्व प्राप्ति के योग्य अवस्था को प्राप्त कर चुके है

वे ही सब इन पदो पर समय समय पर प्रतिष्ठित होते है। किन्तु इनका भी विनाश होता है। प्राचीन ऋग्वेद मे देवताओ के सम्बन्ध मे हम इस अमरत्व शब्द का व्यवहार देखते है अवश्य, किन्तु बाद के काल मे इसका एकदम परित्याग कर दिया गया है; कारण, उन्होने देखा कि यह अमरत्व देश-काल से अतीत होने के कारण किसी भौतिक वस्तु के सम्बन्ध मे प्रयुक्त नही हो सकता, चाहे वह वस्तु कितनी ही सूक्ष्म क्यो न हो। वह कितनी ही सूक्ष्म क्यो न हो, उसकी उत्पत्ति देश-काल में ही है, कारण, आकार की उत्पत्ति का प्रधान उपादान देश है। देश को छोड़ कर आकार के विषय की कल्पना करके देखो, यह असम्भव है। देश ही आकार के निर्माण का एक विशिष्ट उपादान है—इस आकृति का निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। देश और काल माया के भीतर है। और स्वर्ग भी इसी पृथ्वी के समान देश-काल की सीमा से बद्ध है यह भाव उपनिषदो के निम्नलिखित श्लोकांश मे व्यक्त किया गया है—'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह'—'जो कुछ यहाँ है वह वहाँ है, जो कुछ वहाँ है वही यहाँ भी है।' यदि ये ही देवता हैं तो जो नियम यहाँ है वही वहाँ भी लागू होते है, और सभी नियमों का चरम उद्देश्य है—विनाश, और बाद मे फिर नये नये रूप धारण करना। इसी नियम के द्वारा सभी जड पदार्थ विभिन्न रूपो मे परिवर्तित हो रहे है, और टूट कर, चूरचूर होकर फिर उन्ही जड कणों मे परिणत हो रहे हैं। जिस किसी वस्तु की उत्पत्ति है, उसका विनाश होता ही है। अतएव यदि स्वर्ग है तो वह भी इसी नियम के अधीन होगा।

हम देखते है कि इस जगत् मे सभी प्रकार के सुखो की छाया के रूप मे कोई न कोई दु ख रहता है। जीवन के पीछे उसकी छाया के रूप मे मृत्यु रहती है। वे दोनो सदा एक साथ ही रहते है । कारण. वे परस्पर विरोधी नही है: वे दोनो पूर्ण पृथक् सत्ताये नहीं हैं, वे एक ही वस्तु के दो विभिन्न रूप है. वह एक ही वस्तु जीवन-मृत्यु. सुख-दु ख, अच्छे-बुरे आदि रूप में प्रकाशित हो रही है। अच्छी और बुरी ये दोनो सम्पूर्ण रूप से पृथक् वस्तुये हैं और वे अनन्त काल से चली आ रही है. यह धारणा नितान्त असगत है। वे वास्तव मे एक ही वस्तु के विभिन्न रूप है—जो कभी अच्छे रूप मे और कभी बुरे रूप मे प्रतिभात हो रही है, बस। यह विभिन्नता प्रकारगत नहीं. परिमाणगत है। उनका भेद वास्तव में मात्रा के तारतम्य मे है। हम देखते हैं कि एक ही स्नायुप्रणाली अच्छे बुरे दोनो प्रकार के प्रवाह को ले जाती है। किन्तु यदि स्नायुमण्डली किसी प्रकार से बिगड़ जाय तो किसी प्रकार की अनुभूति ही न होगी। मान लो, एक स्नायु में पक्षाघात हो गया. उस समय उसमे से होकर जो सुखकर अनुभूति आती थी वह नहीं आयेगी, और दु खकर अनुभूति भी नहीं आयेगी। वे सुख दु ख कभी भी पृथक् नहीं होते, वे मानो सर्वदा एकत्र ही रहते है और एक ही वस्तु जीवन मे कभी सुख. कभी दु:ख का उत्पादन करती है । एक ही वस्तु किसी को सुख और किसी को दु.ख देती है। मांसाहार से खाने वाले को सुख अवश्य मिलता है. किन्तु जिसका मास खाया जाता है उसे तो भयानक कष्ट है। ऐसा कोई विषय ही नहीं जो सब को समान रूप से सुख देता हो। कुछ लोग सुखी हो रहे है और कुछ दुखी। इसी प्रकार चलेगा।

अत: अब यह स्पष्ट होगया कि यह द्वैतभाव वास्तव मे मिथ्या है। इससे क्या प्राप्त हुआ? मै पहले व्याख्यान मे ही यह कह चुका हूँ कि जगत् मे ऐसी अवस्था कभी आ ही नही सकती जब सभी कुछ अच्छा हो जायगा और बुरा कुछ भी नहीं रहेगा। इससे अनेक व्यक्तियों की चिर घोषित आशा अवश्य चूर्ण हो जायगी, अनेक इससे भयभीत भी होंगे किन्तु इसे स्वीकार करने के अतिरिक्त मै अन्य उपाय नही देखता। यदि मुझे कोई समझा दे कि वह सत्य है तो मै समझने को तैयार हूँ, परन्तु जब तक मेरी समझ मे नही आता तब तक कैसे मान सकता हूँ?

मेरे इस कथन के विरुद्ध कुछ युक्तियुक्त मालूम पड़ने वाला एक तर्क है कि क्रमविकास की गति के क्रम से समयानुसार जो कुछ अशुभ हम देखते है सभी चला जायगा—इसका फल यह होगा कि इसी प्रकार कम होते होते लाखों वर्ष के बाद एक ऐसा समय आयेगा जब सभी अशुभ नष्ट हो कर केवल शुभ ही शुभ शेष रह जायगा। ऊपर से देखने पर यह युक्ति एकदम अखण्डनीय मालूम पड सकती है। ईश्वरेच्छा से यदि यह सत्य होती तो बड़ा ही आनद होता, किन्तु इस युक्ति मे एक दोष है। वह यह कि यह शुभ और अशुभ दोनों को निर्दिष्ट परिमाण मे लेती है। यह स्वीकार करती है कि एक निर्दिष्ट परिमाण मे अशुभ है, मान लो कि वह १०० है, और इसी प्रकार निश्चित परिमाण मे शुभ भी है और यह अशुभ कम होता जा रहा है और केवल शुभ बचता जा रहा है। किन्तु क्या वास्तव मे ऐसा ही है? जगत् का इतिहास साक्षी है कि शुभ के समान अशुभ भी क्रमश: बढ़ ही रहा है।

समाज के अत्यन्त निम्न स्तर के व्यक्ति को लीजिये। वह जंगल मे रहता है, उसके भोगसुखों की संख्या कम है, इसलिये उसके दुःख भी कम है। उसके दुःख केवल इन्द्रियविषयो तक ही सीमित हैं। यदि उसे पर्याप्त मात्रा मे भोजन न मिले तो वह दुःखी हो जाता है। उसे खूब भोजन दो, उसे स्वच्छन्द हो कर घूमने फिरने और शिकार करने दो, वह पूरी तरह सुखी हो जायगा। उसका सुख-दुःख सभी केवल इन्द्रियो मे ही आबद्ध है। मानलो कि उसका ज्ञान बढ़ने लगा। उसका सुख बढ़ रहा है, उसकी बुद्धि खुल रही है, वह जो सुख पहले इन्द्रियो मे पाता था अब वही सुख उसे बुद्धि की वृत्तियो को चलाने मे मिलता है। वह एक सुन्दर कविता पाठ करके अपूर्व सुख का स्वाद लेता है। गणित की किसी समस्या की मीमांसा करने मे ही उसका सम्पूर्ण जीवन कट जाय, इसी मे उसको परम सुख प्राप्त है। किन्तु इसके साथ साथ असभ्य अवस्था मे जिस तीव्र यंत्रणा का उसने अनुभव नहीं किया, अब उसके स्नायु उसी तीव्र यंत्रणा का अनुभव करने के भी क्रमशः अभ्यासी हो जाते है, अत. उसे तीव्र मानसिक कष्ट होता है। एक बहुत ही साधारण उदाहरण लीजिये। तिब्बत देश मे विवाह नहीं होता, अतः वहाँ प्रेम की ईर्ष्या भी नहीं पाई जाती, फिर भी हम जानते ही है कि विवाह अपेक्षाकृत उन्नत समाज का परिचायक है। तिब्बती लोग निष्कलक स्वामी और निष्कलक स्त्री के विशुद्ध दाम्पत्य-प्रेम का सुख नहीं जानते। किन्तु साथ ही किसी पुरुष या स्त्री के पतन हो जाने से दूसरे के मन मे कितनी भयानक ईर्ष्या, कितना अन्तर्दाह उपस्थित हो जाता है वे यह भी नहीं जानते। एक ओर उच्च धारणा से सुख मे वृद्धि हुई अवश्य, किन्तु दूसरी ओर इससे दुःख की भी वृद्धि हुई।

आप अपने देश की ही बात लीजिये— पृथ्वी पर इसके समान धनिको का देश दूसरा नही है—और दुःख कष्ट यहाँ किस प्रबल रूप में विराजमान है वह भी देखिये। अन्यान्य देशों की अपेक्षा यहाँ पागलों की सख्या कितनी अधिक है! इसका कारण है, यहाँ के लोगो की वासनायें अति तीव्र, अत्यन्त प्रबल हैं। यहाँ के लोगों को जीवन का स्तर सर्वदा ऊँचा ही रखना होता है। आप लोग एक वर्ष मे जितना खर्च कर देते हैं, वह एक भारतीय के लिये जीवन भर की सम्पत्ति के बराबर है। और आप लोग दूसरों को उपदेश भी नहीं दे सकते कि खर्च कम करो, कारण, यहाँ चारों ओर की अवस्था ही ऐसी है कि किसी विशेष स्थान मे इतने से कम मे खर्च ही नही चलेगा— नहीं तो सामाजिक चक्र मे आपको पिस जाना पड़ेगा। यह सामाजिक चक्र दिन रात घूम रहा है—वह विधवा के आँसुओं पर और अनाथ बालक-बालिकाओं के चीत्कार पर तनिक भी कान नहीं देता। आपको भी इसी समाज मे आगे बढ़कर चलना होगा, नही तो इसी चक्र के नीचे पिस जाना होगा। यहाँ सभी जगह यही अवस्था है। आप लोगो की भोगसम्बन्धी धारणा भी अत्यधिक परिमाण मे विकासप्राप्त हो गई है, आप का समाज भी अन्यान्य समाजो की अपेक्षा लोगों को अधिक आकर्षित करता है। आपके भोगों के भी नाना प्रकार के उपाय हैं। किन्तु जिनके पास आपके समान भोगो की सामग्री नहीं है या कम है उनके लिये आपकी अपेक्षा दुःख भी कम हैं। इसी प्रकार आप सभी जगह देखेगे। आपके मन मे जितनी दूर तक उच्च अभिलाषायें रहेगी आपको सुख भी उतना ही अधिक मिलेगा और उसी परिमाण मे दुःख भी। एक मानो दूसरे की छाया स्वरूप है। अशुभ कम होता जा रहा है यह बात सत्य हो सकती है, किन्तु उसके साथ ही शुभ भी कम

हो रहा है यह भी कहना पडेगा। किन्तु वास्तव मे एक ओर जैसा दु:ख कम हो रहा है दूसरी ओर वैसा ही क्या करोडो गुना बढ नहीं रहा है? बात यही है कि सुख यदि समयुक्तान्तर श्रेणी (Arithmetical progression) के नियम से बढ रहा है तो दु:ख समगुणितान्तर श्रेणी अर्थात् (Geometrical progression) के नियम से बढ रहा है ऐसा कहना पडेगा। इसीका नाम माया है। यह न केवल सुखवाद है, न केवल दु:खवाद। वेदान्त यह नही कहता कि जगत् केवल दुख मय है। ऐसा कहना ही भूल है। और जगत् सुख से परिपूर्ण है, यह कहना भी ठीक नही है। बालको के लिये यह जगत् केवल मधुमय है—यहॉ केवल सुख है, केवल फूल है, केवल सौन्दर्य हैं, केवल मधु है—इस प्रकार की शिक्षा देना भूल है। हम सारे जीवन इन्हीं फूलो का स्वप्न देखते है। और कोई एक व्यक्ति अन्य की अपेक्षा अधिक दु:ख भोगता है, इसीलिये सब दु:खमय है यह कहना भी भूल है। जगत् इसी द्वैत भाव से पूर्ण अच्छे बुरे का खेल है। वेदान्त इसके अतिरिक्त एक और बात कहता है। यह मत सोचो कि अच्छा और बुरा दो सम्पूर्ण पृथक वस्तुयें हैं। वास्तव में वह एक ही वस्तु है। एक ही वस्तु भिन्न भिन्न रूप से भिन्न भिन्न आकार मे आविर्भूत हो कर एक ही व्यक्ति के मन मे भिन्न भिन्न भाव उत्पन्न करती है। अतएव वेदान्त का प्रथम कार्य है इस ऊपर से भिन्न प्रतीत होने वाले बाह्य जगत् मे एकत्व का आविष्कार करना। पारसीयो का मत है कि दो देवताओ ने मिलकर जगत् की सृष्टि की है। यह मत अवश्य ही बहुत कम उन्नत मन का परिचायक है। उनके मत से जो अच्छा देवता है वह सभी सुखो का विधान कर रहा है; और बुरा देवता सभी बुरे विषयो का विधान कर रहा है। यह स्पष्ट है कि ऐसा

होना असम्भव है; कारण, वास्तव में यदि इसी नियम से सभी कार्य हो तो प्रत्येक प्राकृतिक नियम के दो अंश हो जायेंगे—कभी तो एक देवता उसे चलाता है, वह चला गया, उसकी जगह और एक आया। किन्तु वास्तव मे हम देखते है कि जो शक्ति हमे खाना पीना देती है वही दैवदुर्विपाक द्वारा अनेकों का संहार भी करती है। यह मत स्वीकार करने मे एक और गड़बड यह है कि एक ही समय दो देवता कार्य कर रहे है। एक स्थान पर एक किसी का उपकार कर रहा है, दूसरे स्थान पर दूसरा किसी का अपकार कर रहा है। फिर भी दोनों के बीच सामञ्जस्य बना रहता है—यह किस प्रकार सम्भव है ? अवश्य ही यह मत जगत् के द्वैत तत्व को प्रकाश करने की एक बहुत ही स्थूल प्रणाली मात्र है—इसमे कोई सन्देह नहीं।

अब हम उच्चतर दर्शनों मे इस विषय में क्या सिद्धान्त माना गया है इस पर विचार करेगे। इनमें स्थूल तत्व की बात छोड़कर सूक्ष्म भाव की दृष्टि से कहा जाता है कि जगत् कुछ तो अच्छा है, कुछ बुरा। पहले जो युक्तिपरम्परा हमने ग्रहण की, उसके अनुसार यह भी असम्भव है।

अतएव हम देखते है कि केवल सुखवाद अथवा केवल दुःखवाद—किसी भी मत के द्वारा जगत् की यथार्थ व्याख्या या वर्णन नहीं होता। कुछ घटनाएँ सुखवाद की पोषक है, कुछ दुःखवाद की समर्थक। किन्तु क्रमशः हम देखेंगे कि वेदान्त मे सभी दोष प्रकृति के कन्धो से हटाकर हमारे अपने ऊपर दिया गया है। और इसी मे हमे विशेष आशा भी दी गई है। वेदान्त वास्तव मे अमंगल अस्वीकार नहीं करता। वह जगत् की सभी घटनाओ के सभी अंशों

का विश्लेषण करता है—किसी भी विषय को छिपाकर रखना नहीं चाहता। वह मनुष्य को एकदम निराशा के सागर मे नही बहा देता। वह अज्ञेयवादी भी नही है। उसने इस सुख-दुःख के प्रतीकार के उपाय का आविष्कार किया है, और यह प्रतीकार का उपाय वज्र के समान दृढ भित्ति पर प्रतिष्ठित है। वह ऐसा उपाय नही बताता जिससे कि केवल बच्चे का मुँह बन्द कर दिया जाय एवं जिसे वह सहज मे ही समझ ले, ऐसे स्पष्ट असत्य के द्वारा उसकी दृष्टि को अन्धा कर दिया जाय। मुझे याद है, जब मै बालक था उस समय किसी युवक के पिता मर गये जिससे वह बड़ा गरीब हो गया, एक बड़े परिवार का भार उसके गले पड गया। उसने देखा कि उसके पिता के मित्र लोग ही उसके प्रधान शत्रु है। एक दिन एक धर्माचार्य के साथ साक्षात् होने पर वह अपने दुःख की कहानी कहने लगा और वे उसको सान्त्वना देने के लिये कहने लगे, "जो होता है अच्छा ही होता है, जो कुछ होता है अच्छे के लिये ही होता है।" पुराने घाव को जिस प्रकार मखमल के कपड़े से ढक रखना होता है, धर्माचार्य की उपर्युक्त बात भी ठीक वैसी ही थी। यह हमारी अपनी दुर्बलता और अज्ञान का परिचय मात्र है। छः मास के बाद उसी धर्माचार्य के घर एक सन्तान हुई, उसके उपलक्ष्य मे जो उत्सव हुआ उसमे वह युवक भी निमन्त्रित था। धर्माचार्य महोदय भगवान् की पूजा आरम्भ करके बोले—'ईश्वर की कृपा के लिये उसे धन्यवाद है।' तब युवक उठकर बोला—'यह क्या कह रहे है ? उसकी कृपा कहाँ है ? यह तो घोर अभिशाप है।' धर्माचार्य ने पूछा—'वह कैसे ?' युवक ने उत्तर दिया—'जब मेरे पिता की मृत्यु हुई तब ऊपर ऊपर अमंगल होने पर भी उसे आपने मंगल कहा था। इस

समय आपकी सन्तान का जन्म भी यद्यपि ऊपर ऊपर आपको मगल सा लग रहा है किन्तु वास्तव मे मेरी दृष्टि से यह महा अमंगलकारी मालूम होता है। इसी प्रकार जगत् के दुःख-अमगल को ढक रखना ही क्या जगत् का दुःख दूर करने का उपाय हो सकता है? स्वयं अच्छे बनो और जो कष्ट पा रहे है उनके ऊपर दया करो। जोड जाड करके रखने की चेष्टा मत करो, उससे भवरोग दूर नही होगा। वास्तव मे हमे जगत् के बाहर जाना पडेगा।

यह जगत् सदा ही भले और बुरे का मिश्रण है। जहाँ भलाई देखो, समझ लो कि उसके पीछे बुराई भी छिपी है। किन्तु इन सभी व्यक्त भावों के पीछे—इन सब विरोधी भावो के पीछे वेदान्त उसी एकत्व को देखता है। वेदान्त कहता है, बुराई छोडो, और भलाई भी छोडो। ऐसा होने पर शेष क्या रहा? वेदान्त कहता है कि केवल अच्छे बुरे का ही अस्तित्व है यह बात नही। इनके पीछे एक ऐसी वस्तु रहती है जो वास्तव मे तुम्हारी है, जो वास्तव मे तुम्हीं हो, जो सब प्रकार के शुभ और सब प्रकार के अशुभ के बाहर है। वही वस्तु शुभ और अशुभ रूप मे प्रकाशित हो रही है। पहले इसको जान लो-तभी, और केवल तभी तुम पूर्ण सुखवादी हो सकते हो। इसके पूर्व नही। ऐसा होने पर ही तुम सभी पर विजय प्राप्त कर सकते हो। इन्ही आपातप्रतीयमान व्यक्त भावो को अपने आधीन करो, तब तुम उस सत्य वस्तु को इच्छानुसार जैसा चाहो प्रकाशित कर सकोगे। तभी तुम उन्हे चाहे शुभ रूप मे, चाहे अशुभ रूप मे जैसी इच्छा हो प्रकाशित कर सकोगे। किन्तु पहले तुम्हे स्वय अपना ही प्रभु बनना पड़ेगा। उठो, अपने को मुक्त करो, इस समस्त

नियमो के राज्य के बाहर जाओ, कारण ये नियम प्रकृति के सभी अशो मे व्यापक नहीं है, वे तुम्हारे वास्तविक स्वरूप को बहुत कम प्रकाशित करते है। पहले अपने को समझो कि तुम प्रकृति के दास नहीं हो, न कभी थे, न कभी होओगे–प्रकृति यो तो अनन्त मालूम पडती है अवश्य, किन्तु वास्तव मे वह ससीम है। वह समुद्र का एक बिन्दु मात्र है, और तुम्ही वास्तव मे समुद्र रूप हो, तुम चन्द्र, सूर्य, तारे सभी के अतीत हो। तुम्हारे अनन्त स्वरूप की तुलना मे वे केवल बुदबुदो के समान है। यह जान लेने पर तुम अच्छे और बुरे दोनो पर विजय पा जाओगे। तभी तुम्हारी दृष्टि एकदम परिवर्तित हो जायगी, तब तुम खडे हो कर कह सकोगे, 'मंगल कितना सुन्दर है और अमगल कितना अद्भुत है!'

वेदान्त यही करने को कहता है। वेदान्त 'यह नहीं कहता कि स्वर्णपत्र से घाव के स्थान को ढॉक कर रक्खो, और घाव जितना ही पकता जाय उसे और भी स्वर्णपत्रो से मढ दो। जीवन एक कठिन समस्या है इसमे सन्देह नहीं। यद्यपि वह वज्र के समान दुर्भेद्य प्रतीत होता है, तथापि यदि हो सके तो इसके बाहर जाने की चेष्टा करो —आत्मा इस देह की अपेक्षा अनन्त गुना शक्तिमान है। वेदान्त तुम्हारे कर्म-फल के लिये दूसरे देवता पर दायित्व नहीं डालता, वह कहता है, तुम स्वय ही अपने अदृष्ट के निर्माता हो। तुम अपने कर्म-फल से अच्छे और बुरे दोनो ही फल भोग करते हो, तुम अपने ही हाथो से अपनी ऑखे मूँद कर कहते हो–अन्धकार है। हाथ हटाओ —तुम्हे प्रकाश दिखेगा। तुम ज्योतिस्वरूप हो—तुम पहले से ही सिद्ध हो। अब हम–'मृत्यो. स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इस श्रुति का अर्थ समझ पा रहे हैं।

किस प्रकार हम इस तत्व को जान सकते है ? यह मन जो इतना भ्रान्त और दुर्बल है, जो इतने सहज मे विभिन्न दिशाओं मे दौड़ जाता है, इस मनको भी सबल किया जा सकता है—जिससे वह उस ज्ञान का—उसी एकत्व का आभास पा सके। उस समय वही ज्ञान पुनः पुनः मृत्यु के हाथो से हमारी रक्षा करता है। "यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेपु विधावति। एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति।" (कठ० अ० २, वल्ली १, श्लोक १४) "जल उच्च दुर्गम भूमि में वरस कर जिस प्रकार पर्वतों में से होकर विकीर्ण हो दौडता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति गुणों को पृथक् करके देखता है वह उन्हीं का अनुवर्तन करता है।" वास्तविक शक्ति एक है, केवल माया मे पड़ कर अनेक होगई है। अनेक के पीछे मत दौड़ो, वस उसी एक की ओर अग्रसर होओ। "हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिपदतिथि-र्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं वृहत्।" (कठ० अ० २, वल्ली २, श्लोक २) "वह (वही आत्मा) आकाशवासी सूर्य, अन्तरिक्षवासी वायु, वेदिवासी अग्नि और कलशवासी सोमरस है। वही मनुष्य, देवता, यज्ञ और आकाश मे है, वही जल मे, पृथिवी पर, यज्ञ मे और पर्वत पर उत्पन्न होता है; वह सत्य है, वह महान् है।" "अग्निर्यथैको भुवन प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूप रूप प्रतिरूपो बहिश्च।" "वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव। एकस्तथा सर्व-भूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च।" (कठ० अ० २, वल्ली २, श्लोक ९–१०) "जिस प्रकार एक ही अग्नि जगत् मे प्रविष्ट होकर दाह्य वस्तु के रूपभेद से भिन्न भिन्न रूप धारण करती है उसी प्रकार सब भूतों का एक अन्तरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उस उस वस्तु

का रूप धारण कर लेता है, और सब के बाहर भी रहता है। जिस प्रकार एक ही वायु जगत् मे प्रविष्ट होकर नाना वस्तुओ के भेद से तत्तद्रूप हो गयी है उसी प्रकार वही एक सब भूतो का अन्तरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उस उस रूप का हो गया है और उनके बाहर भी है।" जब तुम इस एकत्व की उपलब्धि करोगे तभी यह अवस्था होगी, उससे पूर्व नही। यही वास्तविक सुखवाद है—सभी जगह उसका दर्शन करना। अब प्रश्न यही है कि यदि यह सत्य है, यदि वह शुद्ध स्वरूप अनन्त आत्मा इन सब के भीतर प्रवेश करके रहता है तब यह क्यो सुख दुःख भोग करता है? क्यों वह अपवित्र होकर दुःख भोग करता है। उपनिषद कहते हैं कि वह दुःखानुभव नही करता। "सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैः वाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन वाह्यः।" (कठ० अ० २, वल्ली २, श्लोक ११) "सभी लोको का चक्षुरूप सूर्य जिस प्रकार चक्षुग्राह्य वाह्य अपवित्र वस्तु के साथ लिप्त नही होता उसी प्रकार एक मात्र सव प्राणियो का अन्तरात्मा जगत् सम्बन्धी दुःख के साथ लिप्त नहीं होता, कारण वह फिर भी जगत् के अतीत है।" हमे एक रोग ऐसा हो सकता है जिसके कारण हमे सभी कुछ पीले रग का दिखाई दे, किन्तु इससे सूर्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। "एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूप वहुधा यः करोति। तमात्मस्थ येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।" (कठ० अ० २, वल्ली २, श्लोक १२) "जो एक है, सब का नियन्ता एवं सब प्राणियो का अन्तरात्मा, जो अपने एक रूप को अनेक प्रकार का कर लेता है, उसका दर्शन जो ज्ञानी पुरुष अपने मे करते है, वे ही नित्य सुखी है, अन्य नही।" "नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको

बहूनां यो विदधाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् । " (कठ० अ० २, वल्ली २, श्लोक १३) " जो अनित्य वस्तुओ मे नित्य है, जो चेतना वालो मे चेतन है, जो एकाकी अनेकों की सभी काम्य वस्तुओ का विधान करता है. उसका जो ज्ञानी लोग अपने अन्दर दर्शन करते है, उन्ही को नित्य शान्ति मिलती है, औरों को नहीं । " बाह्य जगत् मे वह कहॉ मिल सकता है ? सूर्य चन्द्र अथवा तारे उसको कैसे पा सकते है ? " न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः, तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । " (कठ० अ० २, वल्ली २, श्लोक १५) " वहॉ सूर्य प्रकाश नहीं देता, चन्द्र तारे आदि नहीं चमकते, ये बिजलियॉ भी नही चमकतीं, फिर अग्नि की क्या बात ? सभी वस्तुये उस प्रकाशमान से ही प्रकाशित होती है, उसी की दीप्ति से सब दीप्त होते है । " " ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः एषोऽश्वत्थः सनातनः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वैतत् । " (कठ० अ० २, वल्ली ३, श्लोक १) " ऊपर की ओर जिसका मूल और नीचे की ओर जिसकी शाखाये है ऐसा यह चिरतन अश्वत्थ वृक्ष (ससार वृक्ष) है । वही उज्ज्वल है, वही ब्रह्म है, उसी को अमृत कहते है । समस्त संसार उसी मे आश्रित है । कोई उसको अति-क्रमण नही कर सकता । यही वह आत्मा है । "

वेद के ब्राह्मण भाग मे नाना प्रकार के स्वर्गों की कथाये है । उपनिषद का यही कहना है कि स्वग जाने की इस वासना का त्याग करना होगा । इन्द्रलोक या वरुणलोक जाने से ही ब्रह्मदर्शन होगा यह बात नहीं है, वरञ्च इस आत्मा के अन्दर ही ब्रह्म का दर्शन

स्पष्ट रूप से होता है। "यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके।(कठ० अ० २, वल्ली ३, श्लोक ५) "जिस प्रकार आरसी मे लोग अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से देखते है, उसी प्रकार आत्मा मे ब्रह्म का दर्शन होता है। जिस प्रकार स्वप्न मे हम अपने को अस्पष्ट रूप से देखते है उसी प्रकार पितृलोक मे ब्रह्मदर्शन होता है। जिस प्रकार जल मे लोग अपना रूप देखते है उसी प्रकार गन्धर्वलोक मे ब्रह्मदर्शन होता है। जिस प्रकार प्रकाश और छाया परस्पर पृथक् है उसी प्रकार ब्रह्मलोक मे ब्रह्म और जगत् स्पष्ट रूप से पृथक् मालूम पडते है।" किन्तु फिर भी पूर्ण रूप से ब्रह्मदर्शन नही होता। अतएव वेदान्त कहता है कि हमारा अपना आत्मा ही सर्वोच्च स्वर्ग है, मानवात्मा ही पूजा के लिये सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है, वह सभी स्वर्गों से श्रेष्ठ है। कारण इस आत्मा मे उस सत्य का जैसा स्पष्ट अनुभव होता है और कही भी उतने स्पष्ट रूप से अनुभव नही होता। एक स्थान से अन्य स्थान मे जाने से ही आत्मदर्शन के सम्बन्ध मे कुछ विशेष सहायता होती हो सो बात नही। जब मै भारतवर्ष में था तो सोचता था कि किसी गुफा मे बैठ कर शायद खूब स्पष्ट रूप से ब्रह्म की अनुभूति होगी, परन्तु उसके बाद देखा कि यह बात नही है। फिर सोचा जगल मे जाकर बैठने से शायद सुविधा होगी। काशी की बात भी मन मे आई। सभी स्थान एक प्रकार के है, कारण हम स्वय ही अपना जगत् तैयार कर लेते है। यदि मैं बुरा बन जाऊँ तो सभी जगत् मुझे बुरा दीख पडेगा। उपनिषद् यही कहते है और वही एक नियम सब जगह लागू होगा। यदि मेरी यहाँ मृत्यु हो जाती है एव यदि

मै स्वर्ग जाता हूँ तो वहाँ भी मै सब कुछ यही के समान देखूँगा। जब तक आप पवित्र नहीं हो जाते तब तक गुफा, जंगल, काशी अथवा स्वर्ग जाने से कोई विशेष लाभ नहीं। और यदि आप अपने चित्त रूपी दर्पण को निर्मल कर सकें तब आप चाहे कही भी रहे, आप वास्तविक सत्य का अनुभव करेंगे। अतएव इधर उधर भटकना शक्ति का व्यर्थ ही क्षय करना मात्र है—उसी शक्ति को यदि चित्तदर्पण को निर्मल बनाने मे लय किया जाय तभी ठीक होता है। निम्नलिखित श्लोक मे इसी भाव का वर्णन है:—

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।

(कठ० अ० २, वल्ली ३, श्लोक ९)

उसका रूप देखने की वस्तु नहीं। कोई उसको आँख से नहीं देख सकता। हृदय, संशयरहित बुद्धि एवं मनन के द्वारा वह प्रकाशित होता है। जो इस आत्मा को जानते है वे अमर हो जाते है। जिन लोगों ने राजयोग सम्बन्धी मेरे व्याख्यान सुने है उनके लिये मै कहता हूँ कि वह योग ज्ञानयोग से कुछ भिन्न प्रकार का है। ज्ञानयोग का लक्षण इस प्रकार कहा गया है। जैसे:—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥

(कठ० अ० २, वल्ली ३, श्लोक १०)

अर्थात् जब सभी इन्द्रियाँ संयत हो जाती हैं, जब मनुष्य इनको अपना दास बना कर रखता है, जब वे मन को चंचल नहीं कर पातीं, तभी योगी चरम गति को प्राप्त होता है।

यदा सर्वे प्रमुच्चन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्धयनुशासनम् ॥

(कठ. अ. २, वल्ली ३, श्लोक १४, १५)

"जो सब कामनाये मर्त्य जीव के हृदय का आश्रय लेकर रहती है वे सब जब नष्ट हो जाती है तब मनुष्य अमर हो जाता है और यहीं ब्रह्म को प्राप्त होता है। जब इस संसार मे हृदय की सभी ग्रन्थियाँ कट जाती है तब मनुष्य अमर हो जाता है, यही उपदेश है।"

साधारणतः लोग कहते है कि वेदान्त, केवल वेदान्त ही क्यों, भारतीय सभी दर्शन और धर्म इस जगत् को छोड़ कर इसके बाहर जाने का उपदेश देते है। किन्तु ऊपर कहे हुये दोनो श्लोकों से प्रमाणित होता है कि वे स्वर्ग अथवा अन्य कहीं जाना नहीं चाहते, प्रत्युत वे कहते हैं कि स्वर्ग के भोग, सुख, दुःख सब क्षणस्थायी है। जब तक हम दुर्बल रहेंगे तब तक हमे स्वर्ग नरक आदि मे घूमना पड़ेगा, किन्तु आत्मा ही एक मात्र वास्तविक सत्य है। वे यह भी कहते है कि आत्महत्या द्वारा जन्म-मृत्यु के इस प्रवाह को अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। हाँ, वास्तविक मार्ग पाना अत्यन्त कठिन

अवश्य है। पाश्चात्य लोगो के समान हिन्दू भी क्रियात्मक रूप चाहते हैं, परन्तु दोनो का दृष्टिकोण भिन्न है। पश्चिमी लोग कहते हैं, एक अच्छा सा मकान बनाओ, उत्तम भोजन करो, उत्तम वस्त्र पहिनो, विज्ञान की चर्चा करो, बुद्धि की उन्नति करो। ये सब करने के समय वे अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते है। किन्तु हिन्दू लोग कहते हैं, आत्मज्ञान ही जगत् का ज्ञान है। वे उसी आत्मज्ञान के आनन्द मे विभोर हो कर रहना चाहते हैं। अमेरिका मे एक प्रसिद्ध अज्ञेयवादी वक्ता हैं, वे अत्यन्त सज्जन और एक बडे सुन्दर वक्ता भी है। वे धर्म के सम्बन्ध मे एक व्याख्यान देते और कहते है कि धर्म की कोई आवश्यकता नहीं है, परलोक को लेकर अपना मस्तिष्क खराब करने की हमे तनिक भी आवश्यकता नही है। अपने मत को समझाने के लिये उन्होने इस उदाहरण को लेकर कहा है—जगत् रूप यह सन्तरा हमारे सामने है, हम उसका सब रस बाहर निकाल लेना चाहते है। मेरी एक बार उनसे भेट हुई। मैंने उनसे कहा—"मेरा आप के साथ एकमत है, मेरे पास भी यही फल है, मै भी इसका सब रस लेना चाहता हूँ। किन्तु आपसे मेरा मतभेद है केवल इस विषय को लेकर कि यह फल है क्या। आप इसे सन्तरा समझते है और मैं कहता हूँ यह आम है। आप समझते है कि जगत् मे आकर खूब खा पीकर, पहिन कर और कुछ वैज्ञानिक तत्व जानकर ही बस चूडान्त हो गया, किन्तु आपको यह कहने का कोई अधिकार नहीं है कि इसे छोड़कर मनुष्य का और कोई कर्तव्य ही नही है। मेरे लिये तो यह धारणा बिलकुल ही छोटी है।"

यदि जीवन का एक मात्र कार्य यह जानना ही हो कि सब

किस प्रकार भूमि पर गिरता है अथवा विद्युत का प्रवाह किस प्रकार स्नायुओं को उत्तेजित करता है तब तो मैं इसी क्षण आत्महत्या कर लूँ। मेरा संकल्प है कि मैं सभी वस्तुओं के मर्म की खोज करूँगा और जीवन का वास्तविक रहस्य क्या है यह जानूँगा। आप प्राण के विभिन्न विकासों की आलोचना कीजिये, मैं तो प्राण का स्वरूप जानना चाहता हूँ। मैं इस जीवन का समस्त रस सोख लेना चाहता हूँ। मेरा दर्शन कहता है कि जगत् और जीवन का समस्त रहस्य जानना होगा, स्वर्ग नरक आदि का सभी कुसंस्कार छोड़ देना होगा, चाहे उनकी सत्ता ठीक इसी पृथ्वी के समान क्यों न हो। मैं इस आत्मा की अन्तरात्मा को जानूँगा—उसका वास्तविक स्वरूप जानूँगा, वह क्या है, यह जानूँगा, केवल वह किस प्रकार कार्य करता है एवं उसका प्रकाश क्या है यह जान कर ही मेरी तृप्ति नहीं होगी। सभी वस्तुओं का 'क्यों' जानना चाहता हूँ–'कैसे होती है,' यह खोज बालक करते रहें। विज्ञान और क्या है ? आपके ही किसी बड़े आदमी ने कहा है–'सिगरेट पीते समय जो जो होता है वही यदि मैं लिख कर रक्खूँ तो वही सिगरेट का विज्ञान होगा।' अवश्य ही वैज्ञानिक होना अच्छा है और गौरव की बात है—ईश्वर उनके अनुसन्धान में सहायता और आशीर्वाद दें; किन्तु जब कोई कहता है कि यह विज्ञान-चर्चा ही सर्वस्व है, इसके अतिरिक्त जीवन का और कोई उद्देश्य नहीं है, तब समझ लेना चाहिये कि वह निर्बोध के समान बात कह रहा है। समझ लो कि उसने जीवन के मूल रहस्य को जानने की कभी चेष्टा नहीं की; वास्तविकता क्या है, इसकी उसने कभी आलोचना ही नहीं की। मैं यों ही केवल तर्क के द्वारा ही समझा दे सकता हूँ कि तुम्हारा जो कुछ भी ज्ञान है सब

भित्तिहीन, आधारहीन है। तुम प्राण के विभिन्न विकासों को लेकर आलोचना कर रहे हो, किन्तु यदि तुमसे पूछूँ कि प्राण क्या है, तो तुम कहोगे, हम नही जानते। यह ठीक है कि तुम्हे जो अच्छा लगे करो, कोई इसमे बाधा नहीं देता, किन्तु मुझे अपने ही भाव में रहने दो।

और यह भी लक्ष्य करना कि मेरा जो भाव है उसे मैं कार्य रूप मे परिणत करता रहता हूँ। अतएव यह कहना व्यर्थ है कि अमुक मनुष्य क्रियात्मक (Practical) है, अमुक नही। तुम एक ढंग से क्रियात्मक हो, मै दूसरे ढग से। एक ऐसे भी लोग हैं कि जिनसे कहो कि एक पैर से खडे रहने से सत्य मिलेगा, तो वे एक पैर से खडे रहेगे। और एक इस प्रकार के लोग है—उन्होंने सुना कि अमुक जगह सोने की खान है, किन्तु उसके चारों ओर असभ्य जातियॉ रहती है। तीन आदमियों ने यात्रा की। उनमे दो शायद मर गये—एक सफल हुआ। उस व्यक्ति ने सुना है कि आत्मा नाम की कोई वस्तु है, किन्तु वह पुरोहितो के ऊपर ही इसकी मीमांसा का भार देकर निश्चिन्त हो जाता है। किन्तु पूर्वोक्त व्यक्ति स्वर्ण के लिये असभ्यों के बीच जाने के लिये राजी नही है। वह कहता है कि इस कार्य में विपत्ति की आशङ्का है। किन्तु यदि उससे कहा जाय कि एवरेस्ट पर्वत के ऊपर, समुद्र की सतह से ३०००० फुट ऊपर एक ऐसा आश्चर्यजनक साधु रहता है जो उसे आत्मज्ञान दे सकता है, तो वह तुरन्त ही बिना कपडा आदि लिये ही जाने को प्रस्तुत हो जाता है। इसी चेष्टा मे शायद ४०००० लोग मर जा सकते है, किन्तु एक व्यक्ति को सत्य की प्राप्ति हुई। वह भी एक दृष्टि से क्रियात्मक

व्यक्ति है— किन्तु लोगो की भूल इसी मे है कि तुम जितने को जगत् कहते हो वही सब कुछ है, यह समझना। तुम्हारा जीवन क्षणस्थायी इन्द्रियो का भोग मात्र है—उसमे नित्य कुछ भी नही है, प्रत्युत उसमें दुःख क्रमशः बढता ही जाता है। हमारे मार्ग मे अनन्त शान्ति है, तुम्हारे मार्ग मे अनन्त दुःख है।

मैं यह नही कहता जिसे तुम वास्तविक क्रियात्मक मार्ग कहते हो वह भ्रम है। तुमने जिस रूप मे समझा है वही करो। उससे परम मंगल होगा — लोगों का वडा हित होगा, किन्तु यह कहकर हमारे पक्ष पर दोषारोप मत करना। हमारा मार्ग भी हमारे विचार से हमारे लिये क्रियात्मक मार्ग है। आओ, हम सब अपने अपने ढंग से कार्य करे। ईश्वर की इच्छा से यदि हम दोनो ही ओर कार्यात्मक होते तो वड़ा अच्छा होता। मैंने ऐसे अनेक वैज्ञानिक देखे है जो विज्ञान और अध्यात्मतत्त्व दोनों ओर से क्रियात्मक है—और मैं आशा करता हूँ कि एक समय आयेगा जब समस्त मानवजाति इसी ढग की क्रियात्मक हो जायगी। मान लो एक कढाई मे जल गरम हो रहा है—उस समय क्या होता है इस बात को यदि तुम लक्ष्य करो तो देखोगे कि एक कोने मे एक बुद्बुद उठ रहा है, दूसरे कोने मे एक और उठ रहा है। ये बुद्बुद क्रमशः बढते जाते हैं—चार पांच एकत्र हुये और बाद मे सब एकत्र होकर एक प्रबल गति आरम्भ हो गई। यह जगत् भी ऐसा ही है। प्रत्येक व्यक्ति मानो एक बुद्बुद है, और विभिन्न जातियाँ मानो कई एक बुद्बुद-समष्टि रूप है। क्रमशः जातियो मे परस्पर मिलन होता है—मेरी निश्चय धारणा है कि एक दिन ऐसा आयेगा जब जाति नामक कोई वस्तु नहीं रहेगी—जाति और जाति

का भेद चला जायगा। हम चाहे इच्छा करे या न करे, हम जिस एकत्व की ओर अग्रसर होकर चल रहे है वह एक दिन प्रकाशित होगा ही। वास्तव मे हम सब के बीच भ्रातृसम्बन्ध स्वाभाविक ही है—किन्तु हम सब इस समय पृथक् हो गये है। ऐसा समय अवश्य आयेगा जब ये सब विभिन्न भाव एकत्र मिल जायेगे। प्रत्येक व्यक्ति जिस प्रकार वैज्ञानिक विषय मे उसी प्रकार आध्यात्मिक विषय मे भी क्रियात्मक हो जायगा। उस समय वही एकत्व, वही सम्मिलन जगत् मे व्यक्त होगा। तब सभी जगत् जीवन्मुक्त हो जायगा। अपनी ईर्ष्या, घृणा, मेल और विरोध मे से होकर हम उसी एक दिशा मे चल रहे है। एक वेगवती नदी समुद्र की ओर जा रही है। छोटे छोटे कागज के टुकड़े तिनके आदि इसमे बह रहे है, वे इधर उधर जाने की चेष्टा कर सकते है, किन्तु अन्त मे उन्हे अवश्य ही समुद्र मे जाना पड़ेगा। इसी प्रकार तुम और मै तो क्या, समस्त प्रकृति ही क्षुद्र क्षुद्र कागज के टुकड़ो की भाँति उस अनन्त पूर्णता के सागर ईश्वर की ओर अग्रसर हो रही है—हम भी इधर उधर जाने की चेष्टा कर सकते है, परन्तु अन्त मे हम भी उस जीवन और आनन्द के अनन्त समुद्र मे पहुँचेगे।

---

११. सभी वस्तुओं में ब्रह्मदर्शन

हमने देखा कि हम अपने दुःख दूर करने की कितनी ही चेष्टा क्यो न करे, परन्तु फिर भी हमारे जीवन का अधिकाश अवश्य ही दुःखपूर्ण रहेगा। और यह दुःखराशि वास्तव मे हमारे लिये एक प्रकार से अनन्त है। हम अनादि काल से इसी दुःख के प्रतिकार की चेष्टाये करते आ रहे है, किन्तु यह जैसा था वैसा ही अब भी है। हम जितने ही उपाय इस दुःख को दूर करने के लिए निकालते है उतना ही हम देखते हैं कि जगत् मे और भी कितना दुःख गुप्त भाव से विद्यमान है। और भी हमने देखा कि सभी धर्म कहते है कि इस दुःखचक्र से बाहर जाने का एक मात्र उपाय ईश्वर है। सभी धर्म कहते है कि आजकल के प्रत्यक्षवादियो के मतानुसार जगत् जिस रूप मे देखने मे आता है उसी रूप मे यदि लिया जाय तो इसमे दुःख को छोड़कर और कुछ भी शेष नही रहेगा। किन्तु सभी धर्म कहते है—इस जगत् के अतीत और भी कुछ है। यह पञ्चेन्द्रियग्राह्य जीवन, यह भौतिक जीवन, केवल यही पर्याप्त नहीं है—यह तो वास्तविक जीवन का अत्यन्त सामान्य अंश मात्र है, वास्तव मे वह अति स्थूल कार्य मात्र है। इसके पीछे, इसके अतीत प्रदेश मे वही अनन्त रहता है, जहाँ दुःख का लेशमात्र भी नहीं है, उसे कोई गॉड, कोई अल्लाह, कोई जिहोवा, कोई जोव और कोई और कुछ कहता है। वेदान्ती इसे ब्रह्म कहते है। किन्तु जगत् के अतीत जाना पड़ेगा यह बात सत्य होने पर

भी हमे इसी जगत् मे जीवनधारण तो करना पड़ेगा। अब इसकी मीमांसा कहाँ है?

जगत् के बाहर जाना होगा, सभी धर्मों के इस उपदेश से ऊपर ऊपर सोचने पर मन मे यही भावना उदित होती है कि शायद आत्महत्या करना ही श्रेयस्कर है। प्रश्न यही है कि जीवन के दु:खो का प्रतिकार क्या है, और इसका जो उत्तर दिया जाता है उससे तो आपातत: यही बोध होता है कि जीवन का त्याग करना ही इसका एकमात्र उपाय है। इस उत्तर से मेरे मन मे एक प्राचीन कथा याद पडती है। एक मच्छर किसी के मुँह पर बैठा था। उसके एक मित्र ने उस मच्छर को मारने के लिये इतने ज़ोर से मारा कि वह मनुष्य मर गया, और मच्छर भी मर गया! पूर्वोक्त प्रतिकार का उपाय मानो ठीक इसी प्रणाली का उपदेश देता है।

जीवन दु:खपूर्ण है, यह जगत् दु:खपूर्ण है, यह बात कोई भी व्यक्ति जिसने जगत् को अच्छी तरह जान लिया है, अस्वीकार नही कर सकता। किन्तु सभी धर्म इसका क्या प्रतिकार बताते है? वे कहते है, जगत् कुछ भी नहीं है। इस जगत् के बाहर ऐसा कुछ है जो वास्तविक सत्य है। इसी स्थान पर वास्तव मे विवाद प्रारम्भ होता है। इस उपाय से मानो हमारा जो कुछ भी है सभी कुछ नष्ट करके फेक देने का उपदेश देते है। तब फिर यह प्रतिकार का उपाय कैसे होगा? तब क्या कोई उपाय नही है? एक उपाय और भी कहा जाता है। वह यह है: वेदान्त कहता है—विभिन्न धर्म जो कुछ कहते है सब सत्य है, किन्तु इसका ठीक ठीक अर्थ क्या है, यह समझना होगा। प्राय लोग विभिन्न धर्मों के उपदेशों को ठीक

उलटा ही समझते है, और वे धर्म भी इस विषय में एकदम स्पष्ट करके कुछ भी नही कहते। मस्तिष्क एवं हृदय दोनो की ही हमे आवश्यकता है। हृदय अवश्य ही बहुत श्रेष्ठ है—हृदय के भीतर से ही जीवन को उच्च पथ पर ले जाने वाले महान् भावों का स्फुरण होता है। हृदयशून्य केवल मस्तिष्क की अपेक्षा यदि मेरे पास कुछ भी मस्तिष्क न हो, किन्तु थोडासा भी हृदय रहे तो मै उसे सैकड़ो बार पसन्द करूँगा। जिसके पास हृदय है उसीका जीवन सम्भव है, उसीकी उन्नति सम्भव है, किन्तु जिसके पास तनिक भी हृदय नही है, केवल मस्तिष्क है, वह सूख कर मर जाता है।

किन्तु हम यह भी जानते है कि जो केवल अपने हृदय के द्वारा परिचालित होते है उन्हे अनेक कष्ट भोग करने पड़ते है, कारण उनकी प्राय: ही भ्रम मे पडने की सम्भावना रहती है। हमको चाहिये हृदय और मस्तिष्क का सम्मिलन। मेरे कहने का अर्थ यह नही है कि कुछ हृदय और कुछ मस्तिष्क लेकर हम दोनो का सामञ्जस्य करे, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति का अनन्त हृदय हो और उसके साथ साथ अनन्त परिमाण मे विचारबुद्धि भी रहे।

इस जगत् मे हम जो कुछ चाहते है उसकी क्या कोई सीमा है? क्या जगत् अनन्त नही है? जगत् मे अनन्त परिमाण में भावों के (हृदय के) विकास का और उसके साथ साथ अनन्त परिमाण मे शिक्षा और विचार का भी अवकाश या सम्भावना है। वे दोनों ही अनन्त परिमाण मे आये—वे दोनो ही समानान्तर रेखा मे प्रवाहित होते रहे।

अधिकांश धर्म, 'जगत् मे दु:खराशि विद्यमान है' यह बात समझते है और स्पष्ट भाषा मे ही इसका उल्लेख करते है अवश्य, किन्तु मालूम होता है, सभी एक ही भ्रम मे पड गये है, वे सभी हृदय के द्वारा, भावों के द्वारा परिचालित होते है। जगत् मे दु.ख है, अतएव इसका त्याग करो—यह बहुत अच्छा उपदेश है, एक मात्र उपदेश है, इसमे सन्देह नही। 'ससार का त्याग करो!' सत्य जानने के लिये असत्य का त्याग करना होगा—अच्छी वस्तु पाने के लिये बुरी वस्तु का त्याग करना होगा, जीवन प्राप्त करने के लिये मृत्यु का त्याग करना होगा, इस विषय मे कोई दो मत नहीं हो सकते।

किन्तु यदि इन मतों का यही तात्पर्य है कि पाँच इन्द्रियों का जीवन—हम जिसे जीवन नाम से समझते है, उसका त्याग करना होगा तब फिर हमारे पास क्या शेष रहता है? यदि हम उसे त्याग करे तो हमारे पास कुछ भी नही रहता।

जब हम वेदान्त के दार्शनिक अश की आलोचना करेंगे तब हम इस तत्व को और भी अच्छी तरह समझेंगे, किन्तु आपातत: मै केवल यही कहना चाहता हूँ कि केवल वेदान्त मे इस समस्या की युक्तिसङ्गत मीमासा मिलती है, इस समय केवल वेदान्त का वास्तव मे उपदेश क्या है, वही कहूँगा—वेदान्त शिक्षा देता है, जगत् को ब्रह्म स्वरूप देखो।

वेदान्त वास्तव में जगत् को एकदम उडा देना नही चाहता। वेदान्त मे जिस प्रकार चूड़ान्त वैराग्य का उपदेश है, और कहीं भी वैसा नहीं है, किन्तु इस वैराग्य का अर्थ आत्महत्या नहीं है—स्वयं

को सूखा डालता नही है। वेदान्त मे वैराग्य का अर्थ है जगत् का ब्रह्म-भाव—जगत् को हम जिस भाव से देखते है, उसे हम जैसा जानते है, वह जैसा हमे प्रतिभात होता है उसका त्याग करो, और उसके वास्तविक रूप को पहचानो। उसे ब्रह्म रूप में देखो— वास्तव मे वह ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नही है, इसी कारण सब से प्राचीन उपनिषद मे—वेदान्त के सम्बन्ध मे जो कुछ भी लिखा गया था उसकी प्रथम पुस्तक मे—हम देखते है, 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्या जगत्' (ईश० श्लोक १)। 'जगत् मे जो कुछ भी है, उसको ईश्वर के द्वारा आच्छादित करना होगा।'

समस्त जगत् को ईश्वर के द्वारा आच्छादित करना होगा; जगत् मे जो अशुभ दुःख है, उसकी ओर न देख कर, सभी मङ्गलमय है, सभी कुछ सुखमय है अथवा सभी भविष्य मे मङ्गल के लिये है इस प्रकार के भ्रान्त सुखवाद का अवलम्बन करके नहीं, किन्तु वास्तविक रूप से प्रत्येक वस्तु के भीतर ईश्वर का दर्शन करके। इसी रूप से हमे संसार का त्याग करना होगा और जब ससार का त्याग कर दिया तो शेष क्या रहा? ईश्वर। इस उपदेश का तात्पर्य क्या है? तात्पर्य यही है,—तुम्हारी स्त्री भी रहे, उससे कोई हानि नही है, उसको छोडकर जाना होगा इसका कोई अर्थ नही, किन्तु इसी स्त्री मे तुम्हे ईश्वर-दर्शन करना होगा। सन्तान का त्याग करो— इसका अर्थ क्या है? क्या बाल-बच्चों को लेकर रास्ते मे फेंक देना होगा—जैसा कि सभी देशों मे नर-पशु किया करते हैं? कभी नहीं—यह तो पैशाचिक काण्ड है—यह तो धर्म नहीं है। फिर क्या करो? सन्तान आदि मे ही ईश्वर का दर्शन करो। इसी-

प्रकार सभी वस्तुओं मे, जीवन मे, मरण मे, सुख मे, दुःख मे—सभी अवस्थाओं मे समस्त जगत् ईश्वर से पूर्ण है। केवल आँखे खोल कर उसका दर्शन करो। वेदान्त यही कहता है; तुम जगत् को जिस रूप मे अनुमान करते हो उसे छोड़ो, कारण तुम्हारा अनुमान अत्यन्त कम अनुभूति के ऊपर—बिलकुल सामान्य युक्ति के ऊपर—स्पष्ट शब्दों मे, तुम्हारी अपनी दुर्बलता के ऊपर स्थापित है। यह आनुमानिक ज्ञान छोड़ो—हम इतने दिन जगत् को जिस रूप मे समझते थे, इतने दिन जिसमे अत्यन्त आसक्त थे वह हमारे द्वारा ही सृष्ट मिथ्या जगत् मात्र है। इसको छोडो। आँखे खोल कर देखो, हम अब तक जिस रूप मे जगत् को देखते थे, वास्तव मे उसका अस्तित्व वैसा कभी नही था—हम स्वप्न में इस प्रकार देखते थे—माया से आच्छन्न होने के कारण यह भ्रम हमे होता था। अनन्त काल से लेकर वे ही एक मात्र प्रभु विद्यमान थे। वे ही सन्तान के भीतर, वे ही स्त्री मे, वे ही स्वामी मे, वे ही अच्छे मे, वे ही बुरे मे, वे ही पाप मे, वे ही पापी मे, वे ही हत्याकारी मे, वे ही जीवन मे एवं वे ही मरण मे वर्तमान है।

प्रस्ताव तो अवश्य कठिन है।

किन्तु वेदान्त इसी को प्रमाणित करना, शिक्षा देना और प्रचार करना चाहता है। यही विषय लेकर वेदान्त का आरम्भ होता है।

हम इसी प्रकार सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन करके जीवन की विपत्तियो और दु.खो को हटा सकते है। कुछ इच्छा मत करो। कौन हमे दु.खी करता है? हम जो कुछ भी दु.ख भोग करते है, वासना से ही उसकी उत्पत्ति होती है। तुम्हे कुछ अभाव है, वह पूरा नही होता, फल दु ख। अभाव यदि न रहे तो दु ख भी नही होगा। जब हम सब

वासनाओ का त्याग कर देगे तब क्या होगा ? दीवार मे कोई वासना नहीं है, उसे कोई दुःख नही भोगना होता। ठीक है, परन्तु वह कभी उन्नति भी नही करती। इस कुर्सी मे कोई वासना नही है, कोई कष्ट भी उसे नही है, परन्तु यह जो कुर्सी है, कुर्सी ही रहेगी। सुखभोगो के भीतर भी एक महानता है और दु.खभोगों के भीतर भी। यदि साहस करके कहा जाय तो यह भी कह सकते है कि दु ख की भी उपकारिता है। हम सभी जानते है कि दुःख से कितनी बडी शिक्षा मिलती है। हमने जीवन मे ऐसे सैकड़ों कार्य किये है जिनके विषय मे बाद मे लगता है कि वे न किये जाते तो अच्छा होता, किन्तु यह होने पर भी ये सब कार्य हमारे लिये महान् शिक्षक का कार्य करते है। मैं अपने सम्बन्ध मे कह सकता हूँ कि मैने कुछ अच्छे कार्य किये है यह सोच कर भी मै आनन्दित हूँ और अनेक बुरे कार्य किये हैं यह सोच कर भी आनन्दित हूँ। मैने कुछ सत्कार्य किया है इसलिये भी सुखी हूँ और अनेक भ्रमो मे भी मै पड़ा हूँ इसलिये भी सुखी हूँ, कारण उनमे से प्रत्येक ने ही मुझे कुछ न कुछ उच्च शिक्षा दी है।

मै इस समय जो कुछ भी हूँ वह अपने पूर्व कर्मों और विचारो का फलस्वरूप हूँ। प्रत्येक कार्य और चिन्ता का एक न एक फल अवश्य ही है और मोटे तौर से मैने यही उन्नति की है कि मै बड़े सुख से समय काट रहा हूँ। तब भी इस समय समस्या कठिन आ पडी है। हम सभी जानते है कि वासना बड़ी बुरी चीज़ है, किन्तु वासना-त्याग का अर्थ क्या है ? शरीर-रक्षा किस प्रकार होगी ? इसका उत्तर भी पहले की भाँति आपातत यही मिलेगा कि आत्म-हत्या करो। वासना का सहार करो और उसके साथ ही वासनायुक्त

मनुष्य को भी मार डालो। किन्तु इसका उत्तर यही है,—तुम विषयों को ही न रक्खो, यह बात नही है; आवश्यक वस्तुये, यहाँ तक कि विलास की सामग्री भी न रक्खो, यह वात नही है। तुम्हारी जो भी आवश्यक वस्तुये, यहाँ तक कि उनसे अतिरिक्त वस्तुये भी तुम रख सकते हो—इससे कुछ भी क्षति नहीं है। किन्तु तुम्हारा प्रथम और प्रधान कर्तव्य यही है कि तुम्हे सत्य को जानना पडेगा, उसको प्रत्यक्ष करना होगा। यह जो धन है—यह किसी का नहीं है। किसी भी पदार्थ मे स्वामित्व का भाव मत रक्खो। तुम तो कोई नहीं हो, मै भी कोई नही हूँ, कोई भी कोई नही है। सब उसी प्रभु की वस्तुये है; ईशोपनिषद् के प्रथम श्लोक मे सभी जगह ईश्वर का स्थापन करने के लिये कहा गया है। ईश्वर तुम्हारे भोग्य धन मे है, तुम्हारे मन मे जो सव वासनाये उठती है उनमे है, अपनी वासना मे रहकर तुम जो जो द्रव्य खरीदते हो उसमे वह है, तुम्हारे सुन्दर वस्त्रो मे भी वह है, तुम्हारे सुन्दर अलङ्कारो मे भी वह है। इसी प्रकार से विचार करना पड़ेगा। इसी प्रकार सव वस्तुओ को देखना आरम्भ करने पर तुम्हारी दृष्टि मे सभी कुछ परिवर्तित हो जायगा। यदि तुम अपनी प्रत्येक गति मे, अपने वस्त्रो मे, अपनी वोलचाल मे, अपने शरीर मे, अपने चेहरे मे—सभी वस्तुओ मे भगवान् की स्थापना कर लो तो तुम्हारी आँखों मे सम्पूर्ण दृश्य वदल जायगा और जगत् दुःखमय न लगकर स्वर्ग मे परिणत हो जायगा।

"स्वर्ग का राज्य तुम्हारे भीतर है"। वेदान्त कहता है कि वह पहले से ही तुम्हारे भीतर मौजूद है। और सभी धर्म यही बात कहते

है, सभी महापुरुष यह बात कहते है। 'जिसके पास देखने के लिये ऑख है वह देखे; जिसके पास सुनने के लिये कान है वह सुने।' वह पहले से ही तुम्हारे अन्दर मौजूद है और वेदान्त उसका केवल उल्लेख मात्र करता हो यह बात नही है, वह उसे युक्तियो द्वारा प्रमाणित भी करने को प्रस्तुत है। अज्ञान के कारण हम सोचते थे कि हमने उसे खो दिया है और समस्त जगत् में उसको पाने के लिये केवल रोते, कष्ट भोगते घूमते फिरते रहे, किन्तु वह सदा ही हमारे अन्तर के अन्तस्तल मे वर्तमान था। इसी तत्वदृष्टि की सहायता से जगत् मे जीवन काटना पड़ेगा। यदि 'संसार त्याग करो' यह उपदेश सत्य हो और इसको यदि उस प्राचीन स्थूल अर्थ मे ग्रहण किया जाय तो यही फल निकलता है कि हमे कोई कार्य करने की आवश्यकता नही है, आलसी होकर मिट्टी के ढेले की भॉति बैठे रहना ही ठीक होगा, कोई चिन्ता करने की या कोई कार्य करने की तनिक भी आवश्यकता नही है. अदृष्टवादी होकर, घटनाचक्र से ताडित होकर, प्राकृतिक नियमो के द्वारा परिचालित होकर इधर उधर घूमते रहने से ही काम चल जायेगा; यही फल निकलता है। किन्तु पूर्वोक्त उपदेश का अर्थ वास्तव मे यह नहीं है। हम लोगों को कार्य अवश्य ही करना पड़ेगा। साधारण मनुष्य जो व्यर्थ की वासनाओ के चक्र मे पडकर इधर उधर भटकते फिरते है, वे कार्य के सम्बन्ध मे क्या जानते हैं? जो व्यक्ति अपने भावो और इन्द्रियो के द्वारा परिचालित है वह कार्य को क्या समझता है? कार्य वही कर सकता है जो किसी वासना के द्वारा, किसी स्वार्थपरता के द्वारा परिचालित नहीं है। वे ही कार्य कर सकते हैं जिनकी कोई कामना

नही है। वे ही कार्य कर सकते है जो कार्य से किसी लाभ की प्रत्याशा नही करते।

एक चित्र का अधिक भोग कौन करता है? चित्र का बेचने वाला अथवा देखने वाला। विक्रेता तो उसके हिसाब-किताब में ही व्यस्त रहता है, उसको कितना लाभ होगा इत्यादि चिन्ताओं में ही वह मग्न रहता है। ये ही सब विषय उसके मस्तिष्क में सदा घूमते रहते है। वह केवल नीलाम के हथौड़े की ओर लक्ष्य रखता है और क्या भाव पडा यही सुनता रहता है। भाव किस तरह बढ़ता जा रहा है यही सुनने मे वह व्यस्त है। चित्र देख कर आनन्द का उपभोग वह कब करेगा? वे ही चित्र का सम्भोग कर सकते हैं जिनको उस चित्र की बिक्री-खरीद से कोई मतलब नहीं है। वे चित्र की ओर ताकते रहते है और असीम आनन्द का उपभोग करते है। इसी प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड एक चित्र के समान है, जब वासना बिलकुल चली जायगी तभी लोग जगत् का संभोग कर सकेंगे, तब यह बेचने खरीदने का भाव, यह भ्रमात्मक स्वामित्व का भाव नही रहेगा। उस समय न ऋण देने वाला है, न खरीदने वाला है, न बेचने वाला है, और जगत् उस समय एक सुन्दर चित्र के समान हो जाता है। ईश्वर के सम्बन्ध में नीचे लिखी हुई बात से अधिक सुन्दर बात मैने नही देखी—'वही महान कवि है, प्राचीन कवि है, समस्त जगत् उसकी कविता है, वह अनन्त आनन्दोच्छ्वास में लिखी हुई और नाना प्रकार के श्लोकों, छन्दों और तालों मे प्रकाशित है, वासना का त्याग कर लेने पर ही हम ईश्वर की इस विश्वकविता का पाठ और सम्भोग कर पायेगे। उस समय सब वस्तुये ब्रह्मभाव धारण

कर लेगी। संसार का प्रत्येक कोना, प्रत्येक अँधेरी गली, बीहड़ मार्ग और सभी छिपे हुये स्थान जिन्हे हमने पहले इतना अपवित्र समझा था, जिन सब के ऊपर का दाग हमे इतना काला दीखता था, सब कुछ ब्रह्मभाव धारण कर लेगा। वे सभी अपने प्रकृत स्वरूप को प्रकाशित करेंगे। तब हम अपने आप ही हँसेंगे और सोचेंगे, यह सब रोदन और चीत्कार केवल बच्चों का खेल है, और हम जननी रूप मे खड़े होकर बराबर यह खेल देख रहे थे।

वेदान्त कहता है कि इस प्रकार के भाव को आश्रय करने से ही हम ठीक ठीक कार्य करने मे समर्थ होगे। वेदान्त हमे कार्य करने का निषेध नहीं करता, परन्तु यह भी कहता है कि पहले संसार का त्याग करना होगा, इस आपातप्रतीयमान माया के जगत् का त्याग करना होगा। इस त्याग का अर्थ क्या है? पहले ही कहा जा चुका है कि त्याग का प्रकृत अर्थ है सब जगह ईश्वरदर्शन, सब जगह ईश्वरबुद्धि कर लेने पर ही हम वास्तविक कार्य करने में समर्थ होंगे। यदि इच्छा हो तो सौ वर्ष जीने की इच्छा करो, जितनी भी सांसारिक वासनाये हैं, सब भोग कर लो, केवल उन सब को ब्रह्मस्वरूप मे दर्शन करो, उनको स्वर्गीय भावना मे परिणत कर लो, उसके बाद चाहे सौ वर्ष जीवन धारण करो। इस जगत् मे दीर्घ काल तक आनन्दपूर्ण होकर कार्य करते हुये सम्भोग करने की इच्छा करो। इसी प्रकार कार्य करने पर तुम्हे वास्तविक मार्ग मिल जायगा। इसे छोड कर अन्य कोई मार्ग नहीं है। जो व्यक्ति सत्य को न जान कर अबोध की भाँति ससार के विलास-विभ्रम मे निमग्न होता है, समझ लो कि उसे प्रकृत मार्ग मिला नहीं, उसका पैर फिसल गया है। दूसरी ओर जो

व्यक्ति जगत् को त्याग कर वन मे जाकर अपने शरीर को कष्ट देता है, धीरे धीरे सुखा कर अपने को मार डालता है, अपने हृदय को शुष्क मरुभूमि वना डालता है, अपने सभी भावो को मार डालता है, और कठोर, बीभत्स और रूखा हो जाता है, समझ लो कि वह भी मार्ग भूल गया है। ये दोनो दो सिरे की बाते है, दोनो ही भ्रम है, एक इस ओर, दूसरा दूसरी ओर। दोनो ही लक्ष्यभ्रष्ट है, दोनो ही पथभ्रष्ट है।

वेदान्त कहता है, इस प्रकार कार्य करो—सभी वस्तुओं मे ईश्वरबुद्धि करो, समझो कि वह सब मे है, अपने जीवन को भी ईश्वर से अनुप्राणित, यहॉ तक कि उसे ईश्वररूप ही समझो—यह जान लो कि यही हमारा एक मात्र कर्तव्य है, केवल यही हमारे लिये जानने की एक मात्र वस्तु है—कारण ईश्वर सभी वस्तुओं मे विद्यमान है, उसे प्राप्त करने के लिये और कहॉ जाओगे? प्रत्येक कार्य मे, प्रत्येक भाव मे, प्रत्येक चिन्ता मे वह पहले से ही स्थित है। इसी प्रकार समझकर हमे अवश्य ही कार्य करते जाना होगा। यही एक मात्र पथ है, अन्य नही। इस प्रकार करने पर कर्मफल तुमको लगेगा नही। कर्मफल तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं कर पायेगा। हम देख ही चुके है कि हम जो कुछ भी कष्ट भोग करते है उसका कारण ये ही सब व्यर्थ की वासनायें है। परन्तु जब इन वासनाओ मे ईश्वरबुद्धि के द्वारा वे पवित्र भाव धारण कर लेती है, ईश्वरस्वरूप हो जाती है, तब उनके आने से भी फिर कोई अनिष्ट नही होता। जिन्होंने इस रहस्य को नही जाना है, उनको इसे जानने से पहले तक इसी आसुरी जगत् मे रहना पडेगा। लोग नही जानते कि यहॉ उनके चारों ओर सर्वत्र कितने अनन्त

आनन्द की खान पड़ी हुई है, किन्तु वे उसको खोज निकाल नहीं पाते। आसुरी जगत् का अर्थ क्या है? वेदान्त कहता है—अज्ञान।

वेदान्त कहता है कि हम अनन्त जल से पूर्ण नदी के तट पर रह कर भी प्यास से मर रहे है। ढेरो खाद्य सामने रखा है, फिर भी भूखों मर रहे है। यह आनन्दमय जगत् यही विद्यमान है। परन्तु हम उसे खोज नहीं पाते। हम उसी में रह रहे है। वह सर्वदा ही हमारे चारो ओर रहता है, परन्तु हम उसे सदा ही कुछ और समझ कर भ्रम मे पड़ जाते हैं। विभिन्न सभी धर्म हमारे सामने उस आनन्दमय जगत् को दिखाने को आगे आते हैं। सभी हृदय इस आनद की खोज कर रहे है। सभी जातियो ने इसकी खोज की है, धर्मों का यही एक मात्र लक्ष्य है, और यही आदर्श विभिन्न भाषाओ मे भी प्रकाशित हुआ है; भिन्न भिन्न धर्मों मे जो सब छोटे छोटे मतभेद है, वे सब केवल कहने के दॉवपेच है, वास्तव मे कुछ भी नहीं है। एक व्यक्ति एक भाव को एक प्रकार से प्रकट करता है, दूसरा दूसरी प्रकार, किन्तु मै जो कुछ कहता हूँ, शायद तुम वही बात दूसरे प्रकार की भाषा मे व्यक्त कर रहे हो। फिर भी मै शायद अकेले ही प्रसिद्ध होने की आशा मे, अथवा अपने मन के अनुसार चलना पसन्द करता हूँ और इसलिये कहता हूँ—'यह मेरा मौलिक मत है।' इन्ही कारणो से हमारे जीवन मे परस्पर ईर्ष्या, द्वेष आदि की उत्पत्ति होती है।

इस सम्बन्ध मे अब और भी प्रश्न आते है। जो ऊपर कहा गया है वह मुख से कह देना तो अत्यन्त सरल है। बचपन से ही सुनता आ रहा हूँ—सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि करो—सब ब्रह्ममय हो जायगा—

तब सभी विषयों का वास्तविक सम्भोग कर पाओगे, किन्तु जैसे ही हम संसारक्षेत्र मे उतर कर कुछ धक्के खाते है वैसे ही हमारी सब ब्रह्मबुद्धि उड़ जाती है। मै मार्ग मे सोचता जा रहा हूँ, सभी मनुष्यो मे ईश्वर विराजमान है—एक बलवान् मनुष्य ने आकर मुझे धक्का दिया, बस मै चित होकर गिर पड़ा। झट उठा, रक्त मस्तक में चढ़ गया—मुट्ठी बँध गई—विचारशक्ति नष्ट होगई। बिलकुल उन्मत्त हो उठा, स्मृति लुप्त हो गई—उस व्यक्ति के अन्दर ईश्वर को न देखकर मैने भूत देखा। जन्म के साथ ही साथ उपदेश मिलता है, सर्वत्र ईश्वरदर्शन करो, सभी धर्म यही सिखाते है—सभी वस्तुओ मे, सब प्राणियों के अन्दर, सर्वत्र ईश्वरदर्शन करो। न्यू टेस्टामेण्ट मे ईसामसीह ने भी इस विषय मे स्पष्ट उपदेश दिया है। हम सभी ने यह उपदेश पाया है—किन्तु काम के समय ही हमारा गोलमाल प्रारम्भ हो जाता है। ईसप् की कहानियों मे एक कथा है। एक विशालकाय सुन्दर हरिण तालाब मे अपना प्रतिबिम्ब देखकर अपने बच्चे से कहने लगा, "देखो, मै कितना बलवान् हूँ, मेरा मस्तक देखो कैसा भव्य है, मेरे हाथ पाँव देखो कैसे दृढ़ और मांसल है, मै कितना तेज दौड़ सकता हूँ।" यह बात कहते ही उसने दूर से कुत्तो के भौकने का शब्द सुना। सुनते ही वह ज़ोर से भागा। बहुत दूर दौडने के बाद हॉफते हाँफते फिर बच्चे के पास आया। बच्चा बोला, 'अभी तो तुम कह रहे थे, मै बड़ा बलवान् हूँ, फिर कुत्तो का शब्द सुनकर भागे क्यों?' हरिण बोला—'यही तो बात है, कुत्तो की भों भो सुनकर ही मेरा सब ज्ञान लुप्त हो जाता है।' हम लोग भी जीवन भर यही करते रहते है। हम इस दुर्बल मनुष्य जाति के सम्बन्ध मे कितनी आशाये बॉधते रहते है, किन्तु कुत्तों के भौंकते ही हरिण की भॉति भाग खड़े होते हैं! यदि

ऐसा है तो यह सब शिक्षा देने की क्या आवश्यकता है? अत्य-धिक आवश्यकता है। समझ रखना चाहिये, एक दिन मे कुछ नही हो जाता।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।' आत्मा के सम्बन्ध मे पहले सुनना होगा, उसके बाद मनन अर्थात् चिन्ता करनी होगी, उसके बाद लगातार ध्यान करना होगा। सभी आकाश देख पाते है, और तो क्या, जो छोटे कीड़े भूमि पर फिरते रहते है वे भी ऊपर की ओर देखने पर नील वर्ण आकाश को देखते है, किन्तु वह हमारे पास से कितनी-कितनी दूर है—बोलो तो! इच्छा करने पर तो मन सभी जगह जा सकता है, किन्तु इस शरीर को प्रयत्न करके चलना सीखने मे ही कितना समय बीन जाता है। हमारे सभी आदर्शों के सम्बन्ध मे भी यही बात है। आदर्श हमसे बहुत दूर है, और हम उनसे बहुत नीचे पडे हुये है, तथापि हम जानते है कि हमे एक आदर्श मान कर रखना आव-श्यक है। इतना ही नही, हमे सर्वोच्च आदर्श रखना ही आवश्यक है। अधिकांश व्यक्ति इस जगत् मे कोई आदर्श लिये बिना ही जीवन के इस अन्धकारमय पथ पर भटकते फिरते है। जिसका एक निश्चित आदर्श है वह यदि एक हज़ार भूलों मे पड सकता है तो जिसका कोई भी आदर्श नही है वह दस हज़ार भूल करेगा यह निश्चय है। अतएव एक आदर्श रखना ही अच्छा है। इस आदर्श के सम्बन्ध मे जितना हो सके सुनना होगा; उतने दिन सुनना होगा जितने दिन वह हमारे अन्तर मे प्रवेश नही करता, हमारे मस्तिष्क में प्रवेश नहीं करता, जब तक वह हमारे रक्त के भीतर प्रवेश नहीं करता, जब

तक वह हमारे रक्त के प्रत्येक बिन्दु मे, कण कण में प्रवेश नहीं करता, जब तक वह हमारे शरीर के अणु-परमाणु मे व्याप्त नहीं हो जाता। अतएव यह आत्मतत्व पहले हमे सुनना होगा। कहा गया है कि 'हृदय भावोच्छ्वासो से पूर्ण होने पर ही मुख वाक्य का उच्चारण करता है।' इसी प्रकार हृदय पूर्ण होने पर हाथ भी कार्य करता है।

चिन्ता ही हमारी कार्यप्रवृत्ति की नियामक है। मन को सर्वोच्च चिन्ता द्वारा पूर्ण करके रक्खो, दिनानुदिन ये सभी भाव सुनते रहो, मास प्रति मास इसका चिन्तन करो। पहले पहल सफलता न मिले; कोई हानि नहीं, यह विफलता तो स्वाभाविक ही है, यह तो मानव-जीवन का सौन्दर्य स्वरूप है। इस प्रकार की विफलता न होती तो जीवन क्या होता? यदि जीवन मे इस विफलता को जय करने की चेष्टा न रहती, तो जीवन धारण करने का कोई प्रयोजन ही न रह जाता। उसके न रहने पर जीवन की कविता कहाँ रहती? यह विफलता, यह भ्रम रहने से भी क्या हर्ज है? गाय कभी झूठ बोलते नही सुनी जाती, किन्तु वह सदा गाय ही रहती है, मनुष्य कभी नहीं हो जाती। अतएव बार बार असफल हो जाओ तो भी कोई हानि नही है, सहस्रों बार, बार बार इस आदर्श को हृदय मे धारण करो, किन्तु सहस्र बार असफल होने पर फिर एक बार प्रयत्न करो। सब जीवो मे ब्रह्मदर्शन ही मनुष्य का आदर्श है। यदि सब वस्तुओ मे उसको देखने मे तुम सफल न हो तो कम से कम एक ऐसे व्यक्ति मे कि जिसको तुम सब से अधिक प्रेम करते हो, उसका दर्शन करने की चेष्टा करो—उसके बाद एक अन्य व्यक्ति मे दर्शन करने की चेष्टा करो—इसी प्रकार तुम आगे बढ़ सकते हो।

आत्मा के सम्मुख तो अनन्त जीवन पड़ा हुआ है — अध्यवसाय के साथ चेष्टा करने पर तुम्हारी वासना अवश्य पूर्ण होगी।

"अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥
यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानत।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(ईशोपनिषद्, ४–७ श्लोक)

"वह अचल है, एक है, मन से भी अधिक द्रुत गति वाला है। इन्द्रियाँ उसके पूर्व चल कर भी उसको प्राप्त नहीं होतीं। वह स्थिर रह कर भी अन्यान्य द्रुतगामी पदार्थों से आगे जानेवाला है। उसमे रह कर ही हिरण्यगर्भ सब के कर्मफलो का विधान करते है। वह चञ्चल है, वह स्थिर है, वह दूर है, वह निकट है, इस सब के भीतर है, फिर भी वह इस सब के बाहर भी है। जो आत्मा के अन्दर सब भूतो का दर्शन करते है, और सब भूतो मे आत्मा का दर्शन करते है वे कुछ भी छिपाने की इच्छा नही करते। जिस अवस्था मे ज्ञानी व्यक्ति के लिये समस्त भूत आत्मस्वरूप हो जाते हैं, उस अवस्था मे उस एकत्वदर्शी पुरुष को शोक अथवा मोह कहाँ रह सकता है?"

सब पदार्थों का यह एकत्व वेदान्त का और एक प्रधान विषय है। हम आगे चल कर देखेंगे कि किस प्रकार वेदान्त सिद्ध करता है कि हमारा समस्त दुःख अज्ञान से उत्पन्न है; वह अज्ञान और कुछ नहीं—यही बहुत्व की धारणा है—यह धारणा कि मनुष्य मनुष्य से भिन्न है, पुरुष और स्त्री भिन्न है, युवा और शिशु भिन्न है, जाति जाति से भिन्न है, पृथिवी चन्द्र से पृथक् है, एक परमाणु दूसरे परमाणु से पृथक् है यह ज्ञान ही वास्तव मे सब दुःखों का कारण है। वेदान्त कहता है कि यह भेद वास्तविक नहीं है। यह भेद केवल भासित होता है, ऊपर से दीख पड़ता है। वस्तुओं के अन्तस्तल में वही एकत्व विराजमान है। यदि तुम भीतर जाकर देखो तो इस एकत्व को देखोगे—मनुष्य मनुष्य का एकत्व, नर नारी का एकत्व, जाति जाति का एकत्व, ऊँच नीच का एकत्व, धनी और दरिद्र का एकत्व, देवता और मनुष्य का एकत्व। सभी तो एक है—और यदि और भी भीतर प्रवेश करो तो देखोगे—अन्य प्राणी भी एक ही है। जो इस प्रकार एकत्वदर्शी हो चुके है उनको फिर मोह नही रहता। वे अब उसी एकत्व मे पहुँच गये है, जिसको धर्मविज्ञान मे ईश्वर कहते है। उनको अब मोह कैसे रह सकता है? मोह उसको उत्पन्न ही कैसे होगा? उन्होंने सभी वस्तुओं का आभ्यन्तरिक सत्य जान लिया है, सभी का रहस्य जान लिया है। उनके लिये अब दुःख कैसे रह सकता है? वे अब क्या वासना-कामना करेगे? वे सभी वस्तुओ के अन्दर वास्तविक सत्य की खोज करके ईश्वर तक पहुँच गये है, जो जगत् का केन्द्रस्वरूप है, जो सभी वस्तुओ का एकत्व-स्वरूप है। यही अनन्त सत्ता है, यही अनन्त ज्ञान है, यही अनन्त आनन्द है। वहाँ मृत्यु नही, रोग नहीं, दुःख नही, शोक नहीं,

अशान्ति नहीं। है केवल पूर्ण एकत्व—पूर्ण आनन्द। तब वे किसके लिये शोक करेगे? वास्तव मे उस केन्द्र मे, उस परम सत्य मे मृत्यु नही है, दुःख नहीं है, किसी के लिये शोक करना नहीं है, किसी के लिये दु:ख करना नहीं है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

(ईशोपनिषद्, ८ वॉ श्लोक)

"वह चारों ओर से घेरे हुये है, वह उज्ज्वल है, देहशून्य है, व्रणशून्य है, स्नायुशून्य है, वह पवित्र और निष्पाप है, वह कवि है, मन का नियामक है, सब से श्रेष्ठ और स्वयम्भू है; वह सर्वदा ही यथायोग्य सभी के काम्य वस्तुओ का विधान करता है।" जो इस अविद्यामय जगत् की उपासना करता है वह अन्धकार मे प्रवेश करता है। जो इस जगत् को ब्रह्म के समान सत्य समझकर उसकी उपासना करते है वे अन्धकार मे भ्रमण करते हैं, किन्तु जो आजीवन इस संसार की उपासना करते हैं, उससे ऊपर और कुछ भी लाभ नही कर पाते, वे और भी घने अन्धकार मे प्रवेश करते है। किन्तु जिन्होने इस परम सुन्दर प्रकृति का रहस्य जान लिया है, जो प्रकृति की सहायता से दैवी प्रकृति का चिन्तन करते है वे मृत्यु का अतिक्रमण करते है एव दैवी प्रकृति की सहायता से अमरत्व का भोग करते है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्।
तत्त्व पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥

(ईश० उप० १५-१६)

"हे सूर्य, हिरण्मय (स्वर्ण के) पात्र द्वारा तुमने सत्य का मुख ढॅक रक्खा है। सत्य धर्म वाला मै जिससे उसे देख पाऊं, इसके लिये उसको हटा दो। ... मै तुम्हारा परम रमणीय रूप देखता हूॅ—तुम्हारे अन्दर जो यह पुरुष है वह मै ही हूँ।"

---

१२. अपरोक्षानुभूति

मै तुम लोगों को एक और उपनिषद से कुछ अंश पढ़कर सुनाऊँगा। यह अत्यन्त सरल एवं अतिशय कवित्वपूर्ण है। इसका नाम है कठोपनिषद्। सर एडविन अर्नाल्ड कृत इसका अनुवाद शायद तुममे से बहुतो ने पढ़ा होगा। हम लोगो ने पहले देखा ही है कि जगत् की सृष्टि कहाँ से हुई। इस प्रश्न का उत्तर बाह्य जगत् से नहीं पाया जा सकता, अत: इस प्रश्न के समाधान के लिये लोगो की दृष्टि अन्तर्जगत् की ओर आकृष्ट हुई। कठोपनिषद् मे मनुष्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे यह अनुसन्धान आरम्भ हुआ है। पहले यह प्रश्न होता था कि इस बाह्य जगत् की सृष्टि किसने की? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई? —इत्यादि। किन्तु अब यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि मनुष्य के अन्दर कौन सी ऐसी वस्तु है जो उसे जीवित रखती है और उसे चलाती है, एवं मृत्यु के बाद मनुष्य का क्या होता है? पहले मनुष्य ने इस जड़ जगत् को लेकर क्रमश: इसके आभ्यन्तर मे पहुँचने की चेष्टा की थी और इससे उसने पाया जगत् का एक जबरदस्त शासक—एक व्यक्ति—एक मनुष्य मात्र। हो सकता है कि मनुष्य के गुणसमूह को अनन्त परिमाण मे बढ़ाकर, वे उसके नाम के साथ जोड दिए गये हो, किन्तु कार्यत: वह एक मनुष्य मात्र है। परन्तु यह मीमासा कभी पूर्ण सत्य नहीं हो सकती। अधिक से अधिक इसे आंशिक सत्य कह सकते है। हम लोग इस जगत् को मानवीय दृष्टि से देखते है, और हमलोगो का ईश्वर इस जगत् की मानवीय व्याख्या मात्र है।

कल्पना करो, एक गाय दार्शनिक और धर्मज्ञ हुई—वह जगत् को अपनी गो-दृष्टि से देखेगी, वह जब इस समस्या की मीमांसा करेगी तो गाय के भाव से ही करेगी, और वह हमारे ही ईश्वर को देखेगी, ऐसी भी कोई बात नहीं। इसी प्रकार यदि कोई बिल्ली दार्शनिक हो तो वह बिडाल-जगत् को ही देखेगी, वह यही सिद्धान्त रखेगी कि कोई बिड़ाल ही इस जगत् का शासन कर रहा है। अतएव हम लोग देखते है कि जगत् के सम्बन्ध मे हमलोगों की व्याख्या पूर्ण नहीं है, और हम लोगों की धारणा भी जगत् के सर्वांश को स्पर्श करनेवाली नही है। मनुष्य जिस भाव से जगत् के सम्बन्ध मे भयानक स्वार्थपर मीमांसा करता है, उसे ग्रहण करने पर भ्रम में ही पड़ना होगा। बाह्य जगत् से जगत् के सम्बन्ध में जो मीमासा प्राप्त होती है, उसमे दोष यही है कि जिस जगत् को हम लोग देखते है, वह हम लोगो का अपना जगत् मात्र है, सत्य के सम्बन्ध मे जितनी हमारी दृष्टि है बस उतना ही है। प्रकृत सत्य वह परमार्थ वस्तु कभी इन्द्रियग्राह्य नहीं हो सकती, किन्तु हम लोग जगत् को उतना ही जानते है जितना पचेन्द्रियविशिष्ट प्राणियों की दृष्टि मे पड़ता है। कल्पना करो, हम लोगो की एक इन्द्रिय और हुई, उसके होने से समस्त ब्रह्माण्ड हम लोगो की दृष्टि मे अवश्य ही और एक रूप धारण करेगा। कल्पना करो, हम लोगो को एक चौम्बक (Magnetic) इन्द्रिय प्राप्त हुई—जगत् मे इस प्रकार की लाखों शक्तियाँ है, जिनकी उपलब्धि के लिये हम लोगो के पास कोई इन्द्रिय नहीं है—उस समय उन सब की उपलब्धि हमे होने लगेगी। हमलोगों की इन्द्रियॉ सीमाबद्ध है, वस्तुतः अत्यन्त सीमाबद्ध है, और इन सीमाओ के भीतर ही हम लोगो का समस्त जगत् अवस्थित है एवं हम लोगो

का ईश्वर हमारे इस क्षुद्र जगत् की समस्या का मीमांसा मात्र है। किन्तु वह कभी भी पूर्ण समस्या की मीमासा नही हो सकता। यह तो असंभव व्यापार है। यथार्थ रूप से कहा जाय तो वह कोई मीमांसा ही नही है। किन्तु मनुष्य तो चुप होकर रह नहीं सकता, वह तो चिन्ताशील प्राणी है, इसलिए वह ऐसी एक मीमांसा करना चाहता है जिससे जगत् की सभी समस्याओं की मीमांसा हो जाय।

पहले इस प्रकार के एक जगत् का आविष्कार करो, इस प्रकार के एक पदार्थ का आविष्कार करो जो सम्पूर्ण जगत् का एक साधारण तत्त्व स्वरूप हो—जिसे हमलोग इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कर सके या न कर सके किन्तु जिसे हम युक्ति-बल से सम्पूर्ण जगत् की नीव कह सके तथा सम्पूर्ण जगत् के भीतर मणिमालामध्यस्थित सूत्र स्वरूप कह सके। यदि हमलोग इस प्रकार के एक पदार्थ का आविष्कार कर सके, जो इन्द्रियगोचर न हो सकने पर भी केवल अकाटय युक्तिवल से सभी प्रचार के अस्तित्व की भित्तिभूमि कहलाकर प्रमाणित किया जा सके। ऐसा होने पर हम कहेगे कि हम लोगो की समस्या कुछ मीमासोन्मुख हुई। अतएव यह स्थिर सिद्धान्त है कि हमारे इस दृष्टिगोचर ज्ञात जगत् से इस मीमासा के पाने की कोई सभावना नहीं, क्योकि यह समग्र भाव का केवल अंशविशेप मात्र है।

अतएव जगत् के अन्त.प्रदेश मे प्रवेश करना ही इस समस्या की मीमांसा का एक मात्र उपाय है। अनि प्राचीन मननशील महात्मा-गण यह समझ सके थे कि वे केन्द्र से जिनना दूर जाते है उतना ही वे उस अखण्ड वस्तु से दूर होते जाते है. और केन्द्र के जितने निकट-वर्ती होते है उतने ही वे उसके निकट पहुँचते जाने है। हमलोग

इस केन्द्र के जितने निकटवर्ती होते है उतने ही हम सब जिस साधारण भूमि पर एकत्रित हो सकते है उस भूमि के निकट उपस्थित होते हैं और हमलोग उससे जितना दूर जाते है उतना ही हमलोगों के साथ दूसरों का विशेष पार्थक्य आरम्भ हो जाता है। यह बाह्य जगत् उस केन्द्र से बहुत दूर है, अतएव इसमे कोई ऐसी साधारण भूमि नहीं हो सकती जहॉ पर सम्पूर्ण अस्तित्व-समष्टि की एक साधारण मीमांसा हो सके। यह जगत् सम्पूर्ण अस्तित्व का अधिक से अधिक एकांशमात्र है और भी कितने व्यापार हैं; जैसे मनोजगत् का व्यापार, नैतिक जगत का व्यापार और बुद्धिराज्य का सम्पूर्ण व्यापार, आदि आदि। इन सभों मे से केवल एक को लेकर उससे समुदय जगत्-समस्या की मीमांसा करना असम्भव है। अतएव हमे प्रथमतः कहीं एक ऐसे केन्द्र का आविष्कार करना होगा, जिससे अन्यान्य समुदय विभिन्न लोकों की उत्पत्ति हुई है। फिर हम इस प्रश्न की मीमांसा की चेष्टा करेगे। यही इस समय प्रस्तावित विषय है। वह केन्द्र कहॉं है? वह हमलोगो के भीतर है—इस मनुष्य के भीतर जो मनुष्य रहता है, वही यह केन्द्र है। लगातार भीतर की ओर अग्रसर होते होते महापुरुषो ने देखा कि जीवात्मा का गम्भीरतम प्रदेश ही समुदय ब्रह्माण्ड का केन्द्र है। जितने प्रकार के अस्तित्व हैं, सभी आकर उसी एक केन्द्र में एकीभूत होते हैं। वस्तुतः यही स्थान समुदय की एक साधारण भूमि है। इस स्थान पर आकर हम एक सार्वभौमिक सिद्धान्त पर पहुँच सकते है। अतएव किसने इस जगत् की सृष्टि की है?—यह प्रश्न विशेष दार्शनिक युक्तिसिद्ध नही है, और न उसकी मीमांसा ही किसी काम की है।

पहले जो मैंने कठोपनिषद् की चर्चा की है, उसकी भाषा बहुत अलंकारपूर्ण है। अति प्राचीन काल मे एक बड़े धनी व्यक्ति थे।

उन्होने एक समय एक यज्ञ किया। उस यज्ञ मे सर्वस्वदान करने का नियम था। इस यज्ञकर्ता व्यक्ति का बाहर और भीतर समान नही था। वह यज्ञ करके खूब मान और यश पाने की इच्छा रखता था। किन्तु यज्ञ मे वह ऐसी सभी वस्तुओ का दान करता था, जो व्यवहार मे पूर्णत: अनुपयुक्त थी। उसने कितनी ही जराजीर्ण, अर्धमृत, बन्ध्या, एक ऑखवाली और लॅगड़ी गाये ब्राह्मणो को दान मे दी। उसका एक छोटा पुत्र था, जिसका नाम था नचिकेता। उसने देखा, उसके पिता ठीक ठीक अपना व्रत-पालन नही कर रहे है, अपितु वे व्रत का भग कर रहे है, अतएव वह निश्चय नही कर पाया कि वह उनसे क्या कहे। भारतवर्ष मे माता-पिता प्रत्यक्ष जीवन्त देवता माने जाते है। उनके सामने सन्तान कुछ कहने या करने का साहस नही करता है, केवल चुप होकर वे खडे रहते है। अतएव उस बालक ने पिता के सम्मुख साक्षात् विरोध करने मे असमर्थ हो, उनसे केवल यही पूछा—"पिताजी, आप मुझे किस को देगे? आपने तो यज्ञ मे सर्वस्वदान का सकल्प किया है।" यह सुनकर पिता विरक्त हुए और बोले—"हे वत्स, तू क्या कह रहा है? भला पिता अपने पुत्र का दान करेगा, यह कैसी बात है?" पर बालक ने दूसरी बार, तीसरी बार बारम्बार पिता से यही प्रश्न किया, तब पिता क्रुद्ध होकर बोले—"तुझे मै यम को दे दूँगा।" उसके बाद आख्यायिका ऐसी है कि वह बालक यम के घर गया। आदिमानव मृत होकर यमदेवता होते हैं, वे स्वर्ग जाकर समुदय पितृगण के शासनकर्ता होते है। अच्छे व्यक्ति मृत्यु प्राप्त कर यम के निकट अनेक दिनो तक रहते है। ये यम एक अत्यन्त शुद्धस्वभाव साधुपुरुष कहकर वर्णित है। वह बालक नचिकेता यमलोक को

गया। देवता भी समय समय पर अपने घर मे नहीं रहते है। यमराज उस समय घर पर नहीं थे, इसलिये उस बालक को तीन दिन तक उसी तरह उनकी प्रतीक्षा मे रहना पड़ा। चौथे दिन यम अपने घर आये।

यम बोले, "हे विद्वान्! तुम पूजनीय अतिथि होकर भी तीन दिन तक बिना कुछ खाये पिए हमारे घर मे रहे। हे ब्रह्मन्! तुम्हे प्रणाम है, हमारा कल्याण हो। मै घर पर नहीं था, इसका मुझे बहुत दु:ख है। किन्तु मै इस अपराध के प्रायश्चित्त स्वरूप तुम्हें प्रत्येक दिन के लिये एक एक करके तीन वर देने को प्रस्तुत हूँ, तुम वर माँगो।" बालक ने पहला वर यह माँगा—"आप मुझे पहला वर यह दीजिये जिससे कि मेरे पति पिताजी का क्रोध दूर हो जाय, वे जिससे मेरे प्रति प्रसन्न हों, और जब आप मुझे प्रस्थान करने के लिये आज्ञा देगे और जब मैं पिता के निकट जाऊँ तो उस समय वे मुझे पहचान सके।" यम ने कहा—'तथास्तु'। नचिकेता ने द्वितीय वर मे स्वर्ग पहुँचाने वाले यज्ञविशेष के विषय मे जानने की इच्छा की। हमने पहले ही देखा है, वेद के संहिता-भाग मे हमलोग केवल स्वर्ग की बात पाते हैं। वहाँ सबका शरीर ज्योतिर्मय होता है, और वे अपने पूर्व पूर्व पितरो के साथ वहाँ वास करते है। क्रमशः अन्यान्य भाव आये, किन्तु इन सभों से लोगों के प्राण पूर्ण तृप्त न हो सके। इस स्वर्ग से भी कुछ उच्चतर उन्हे आवश्यक ज्ञात हुआ। स्वर्ग मे रहना इस जगत् मे रहने की अपेक्षा कुछ भिन्न नही है। जिस प्रकार एक स्वस्थ धनिक नवयुवक का जीवन होता है, उसी प्रकार स्वर्गीय जीवों का भी जीवन होता है, भेद केवल इतना है कि उनकी भोग-सामग्री होती है और उनका शरीर नीरोग, स्वस्थ एवं अधिक बलशाली

होता है। यह सब तो जड़ जगत् की ही वस्तु ठहरी, इससे कुछ अधिक अच्छी अवश्य है बस इतना ही। और जब हमने पहले ही देखा है कि यह जड जगत् पूर्वोक्त समस्या की कोई मीमांसा नहीं कर सकता, तो स्वर्ग से भी उसकी क्या मीमांसा हो सकती है? इसलिये स्वर्ग के ऊपर स्वर्ग की कितनी भी कल्पना क्यों न करो, परन्तु समस्या की उपयुक्त मीमांसा इससे नही हो सकती। यदि यह जगत् इस समस्या की कोई मीमांसा नही कर सकता, तो इस तरह के चाहे कितने भी जगत् हों वे किस तरह इसकी मीमांसा करेंगे। कारण, हमे स्मरण रखना उचित है कि स्थूल भूत प्राकृतिक समुदय व्यापारों का एक अत्यन्त सामान्य अश मात्र है। हम लोग जिन अगण्य घटनाओं को वास्तविक देखा करते है, वे भौतिक नहीं है।

अपने जीवन के प्रति क्षण को देखिये, मालूम होगा कि हमारे चिन्तन के व्यापार कितने है, और बाहर की वास्तविक घटनाये कितनी है। कितनो का तुम केवल अनुभव करते हो, और कितनों का वास्तविक दर्शन तथा स्पर्श करते हो? यह जीवन-प्रवाह कितने प्रबल वेग से चलता है—इसका कार्यक्षेत्र भी कितना विस्तृत है—किन्तु इसमे मानसिक घटनाओं की तुलना मे इन्द्रियग्राह्य व्यापार कितना स्वल्प है! स्वर्गवाद का भ्रम यही है कि वह कहता है कि हम लोगो का जीवन और जीवन की घटनावली केवल रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्द मे ही आवद्ध है। किन्तु इस स्वर्ग से, जहॉ पर ज्योतिर्मय शरीर मिलता है, अधिकाश लोगो को तृप्ति नहीं हुई। तथापि इस जगह नचिकेता ने द्वितीय वर से स्वर्ग-प्रापक यज्ञ सम्बन्धी ज्ञान की प्रार्थना की है। वेद के प्राचीन भाग मे वर्णित है कि देवतागण यज्ञ द्वारा सतुष्ट होकर लोगो को स्वर्ग ले जाते है।

सभी धर्मों की आलोचना करने पर निश्चित रूप से यह सिद्धान्त लब्ध होता है कि जो कुछ प्राचीन होता है वही कालान्तर मे पवित्र रूप मे परिणत हो जाता है। हमारे पूर्वपुरुष भोजपत्र पर लिखते थे, अन्त मे उन्होने कागज बनाने की प्रणाली सीखी, परन्तु इस समय भी भोज-पत्र पवित्र कहा जाता है। प्राय: ९-१० हजार वर्ष पूर्व हमारे पूर्वपुरुष लकडी से लकड़ी घिसकर अग्नि प्रज्वलित करते थे, वही प्रणाली आज भी वर्तमान है। यज्ञ के समय किसी दूसरी प्रणाली द्वारा अग्नि प्रज्वलित करने से काम नही चलेगा। एशियावासी आर्यगणो की और एक शाखा के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही है। इस समय भी उनके वर्तमान वशधर वैद्युताग्नि सग्रहकर उसकी रक्षा करना अच्छा समझते है। इससे प्रमाणित होता है कि ये लोग पहले इस तरह अग्नि का सग्रह करते थे; वाद मे दो लकडियो को घिसकर अग्नि उत्पादन करना इन्होने सीखा, फिर जब अग्नि-उत्पादन करने के अन्यान्य उपाय उन्होने सीखे, उस समय भी पहले के उपायो का परित्याग नही किया। वे सब उपाय पवित्र आचारो मे परिणत होगये।

हिब्रुओं के सम्बन्ध मे भी यही हाल है। उनके पूर्वज पार्चमेन्ट (Parchment) पर लिखत थे। इस समय वे लोग कागज पर लिखते है, किन्तु पार्चमेन्ट पर लिखना उनकी दृष्टि मे महा पवित्र आचार है। इसी तरह सभी जातियो के सम्बन्ध मे है। इस समय जो आचार शुद्धा-चार कहलाये जाते है, वे प्राचीन प्रथा मात्र है। यज्ञ भी इसी तरह प्राचीन प्रथा मात्र थे। कालक्रम से जब लोग पहले की अपेक्षा उत्तम रीति से जीवन-निर्वाह करने लगे, उस समय उनकी सभी धारणायें पूर्व की अपेक्षा अधिक उन्नत हुईं, किन्तु ये प्राचीन प्रथाये रह गयीं।

समय समय पर इन सभो का अनुष्ठान होता था और वे पवित्र आचार माने जाने लगे। उसके बाद कुछ व्यक्तियो ने इस यज्ञ-कार्य के निर्वाह का भार अपने ऊपर ले लिया। यही लोग पुरोहित हुए। ये यज्ञ के सम्बन्ध मे गम्भीर गवेषणा करने लगे। यज्ञ ही इन लोगो का सर्वस्व हो गया। उन लोगों की यह धारणा उस समय बद्धमूल हुई कि देवता लोग यज्ञ के गंध का आघ्राण करने के लिये आते है। यज्ञ की शक्ति से संसार मे सब कुछ हो सकता है। यदि निर्दिष्ट सख्या मे आहुतियॉ दी जायॅ, कुछ विशेप विशेप स्तोत्रो का पाठ हो, विशेप आकार वाली कुछ वेदियो का निर्माण हो, तो देवता सब कुछ कर सकते हैं, इत्यादि मतवादो की सृष्टि हुई। नचिकेता इसी लिये दूसरे वर द्वारा जिज्ञासा करता है कि किस तरह के यज्ञ से स्वर्ग-प्राप्ति हो सकती है। उसके बाद नचिकेता ने तीसरे वर की प्रार्थना की, और यहीं से प्रकृत उपनिपद् का आरम्भ है। नचिकेता बोला—"कोई कोई कहते है. मृत्यु के बाद आत्मा रहती है, कोई कोई कहते हैं, आत्मा मृत्यु के बाद नही रहती। आप मुझे इस विपय का यथार्थ तत्व समझा दे।"

यम भयभीत होगये। उन्होंने परम आनन्द के साथ नचिकेता के प्रथमोक्त दोनो वरो को पूर्ण किया था। इस समय वे बोले,—"प्राचीन काल मे देवतागण इस विपय मे सदिग्ध थे। यह सूक्ष्म धर्म सुविज्ञेय नही है। हे नचिकेता! तुम कोई दूसरा वर मॉगो। मुझसे इस विपय मे और अधिक अनुरोध न करो, मुझे छोड दो।"

नचिकेता दृढप्रतिज्ञ था. वह बोला—"हे मृत्यो! सुना है. देवतालोगो ने भी इस विपय मे सदेह किया था, और इसे समझना

भी सरल बात नहीं है, यह बात सत्य है। किन्तु मैं आपके सदृश इस विषय का कोई दूसरा वक्ता भी नहीं पा सकता, और इस वर के समान दूसरा कोई वर भी नहीं है।"

यम बोले--"हे नचिकेता! शतायु पुत्र, पौत्र, पशु, हाथी, सोना, घोडा आदि माँग लो। इस पृथ्वी के ऊपर राज्य करो, एवं जितने दिन तुम जीने की इच्छा करो उतने दिन तक जीवित रहो। इसके समान और कोई दूसरा वर यदि तुम्हारे मन मे हो तो उसे भी माँग लो, अथवा धन और दीर्घ जीवन की प्रार्थना कर लो। अथवा हे नचिकेता! तुम विस्तृत पृथ्वीमण्डल पर राज्य करो, मै तुम्हे सभी प्रकार की काम्यवस्तुओं से संयुक्त करूँगा। पृथ्वी में जो जो काम्य-वस्तुएँ दुर्लभ है, उनकी प्रार्थना करो। गीत और वाद्य मे विशारद इन रथारूढ रमणियों को मनुष्य नहीं पा सकता। हे नचिकेता! इन सभी रमणियों को मैं तुम्हे देता हूँ, ये तुम्हारी सेवा करेगी, किन्तु तुम मृत्यु के सम्बन्ध मे जिज्ञासा मत करो।"

नचिकेता ने कहा-"ये सभी वस्तुएँ केवल दो दिनों के लिये है, ये इन्द्रियों के तेज को हरण करती है। अतिदीर्घ जीवन भी अनन्त काल की तुलना में वस्तुतः अत्यन्त अल्प है। इसलिये ये हाथी, घोड़े, रथ, गीत, वाद्य आदि तुम्हारे ही पास रहे। मनुष्य धन से कभी तृप्त नहीं हो सकता। जब मै तुम्हे देखूँगा ही, तो इस वित्त की चिर-काल के लिये किस तरह रक्षा कर सकूँगा? तुम जितने दिन तक इच्छा करोगे, मैं उतने ही दिन तक जीवित रह सकूँगा। मैने जिस वर की प्रार्थना की है, केवल वही वर मै चाहता हूँ।"

यम इस समय सतुष्ट हुए। वे बोले-"परमकल्याण (श्रेय) और आपातरम्य भोग (प्रेय) इन दोनों का उद्देश्य भिन्न है, ये दोनों

ही मनुष्यों को बद्ध करते है। जो इनमे से श्रेय को ग्रहण करते है, उनका कल्याण होता है, और जो आपातरम्य भोग को ग्रहण करते है, वे लक्ष्यभ्रष्ट होते हैं। ये श्रेय और प्रेय दोनों ही मनुष्य के समीप उपस्थित होते है। ज्ञानी दोनों पर विचार कर एक को दूसरे से पृथक् जानते है। वे श्रेय को प्रेय से श्रेष्ठ समझकर स्वीकार करते है, किन्तु अज्ञानी पुरुष अपने शारीरिक सुख के लिये प्रेय को ही ग्रहण करते हैं। हे नचिकेता! तुमने आपातरम्य समग्र विषयो की नश्वरता समझ कर उन सभों को छोड दिया है।" इन वचनों से नचिकेता की प्रशंसा कर अन्त में यम ने उसे परम तत्व का उपदेश देना आरम्भ किया।

यहाँ पर हमे वैदिक वैराग्य और नीति की अत्युन्नत धारणा प्राप्त हुई कि जितने दिन तक मनुष्य की भोगवासना का त्याग नहीं होता, उतने दिन तक उसके हृदय मे सत्य-ज्योति का प्रकाश नहीं हो सकना। जितने दिन तक ये तुच्छ विषयवासनाये तुमुल कोलाहल करती है, जितने दिन तक प्रति मुहूर्त वे हमलोगों को खीच कर बाहर ले जाती हैं—लेजाकर हमे प्रत्येक बाह्य वस्तु का, एक विन्दु रूप का, एक विन्दु रस का, एक विन्दु स्पर्श का दास बनाती है, उतने दिन चाहे जितना हम ज्ञान का अभिमान क्यो न करे, हमलोगों के हृदय मे सत्य किस तरह प्रकाशित हो सकता है?

यम बोले-"जिस आत्मा के सम्बन्ध मे, जिस परलोकतत्व के सम्बन्ध मे तुमने प्रश्न किया है, वह वित्त-मोह से मूढ़ बालको के हृदय मे प्रतिभात नहीं हो सकता है। इसी जगत् का अस्तित्व है, परलोक का नहीं, यह माननेवाले बारम्बार मेरे वश मे आते हैं।"

फिर यह सत्य समझना भी कठिन है। बहुत से तो लगातार इस विषय को सुन कर भी समझ नही पाते, इस विषय का वक्ता भी आश्चर्यजनक होना आवश्यक है और श्रोता भी। गुरु का भी अद्भुत शक्तिसम्पन्न होना आवश्यक है और शिष्य भी उसी तरह का होना ज़रूरी है। मन को फिर वृथा तर्क के द्वारा चचल करना उचित नही है। कारण, परमार्थ तत्व तर्क का विषय नहीं है, वह तो प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय है। हमलोग बराबर सुनते आरहे है कि प्रत्येक धर्म विश्वास करने पर जोर देता है। हमलोगों के कानों में तो अन्ध विश्वास शब्द ही भर दिया गया है।

यह अन्ध विश्वास सचमुच ही बुरी वस्तु है, इसमे कोई संदेह नही। पर यदि इस अंध विश्वास का हम विश्लेषण करके देखे तो ज्ञात होगा कि इसके पीछे एक महान् सत्य है। जो लोग अन्ध विश्वास की बात कहते है, उनका वास्तविक उद्देश्य यही अपरोक्षानुभूति है जिसकी हम इस समय आलोचना कर रहे है। मन को व्यर्थ ही तर्क के द्वारा चचल करने से काम नही चलेगा, क्योकि तर्क से कभी ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। ईश्वर प्रत्यक्ष का विषय है, तर्क का नही। समुदय तर्क ही कुछ सिद्धान्तो के ऊपर स्थापित है। इन सिद्धान्तों को छोडकर तर्क हो ही नहीं सकता। हमलोगों ने जिन्हे पहले निश्चत रूप मे प्रत्यक्ष कर लिया है, उस तरह के कुछ विषयो की तुलना की प्रणाली को युक्ति कहा जाता है। इन निश्चित प्रत्यक्ष विषयों के न होने पर युक्ति चल ही नहीं सकती। और बाह्य जगत् के सबन्ध में यदि यह सत्य है, तो अन्तर्जगत् के सम्बन्ध में भी ऐसा ही क्यों न होगा?

हम लोग बारंबार इस भ्रम मे पड़ते है। हम जानते हैं कि सभी बाह्य विषय प्रत्यक्ष के ऊपर ही निर्भर रहते हैं। बाह्य विषयों पर विश्वास करने को तुमसे कोई नहीं कहता और न उनके पारस्परिक सम्बन्ध विषयक नियम किसी युक्ति पर निर्भर हैं, किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा वे लब्ध होते हैं। फिर सभी तर्क कुछ प्रत्यक्षानुभूतियो के ऊपर स्थापित है। रसायनवेत्ता कुछ द्रव्य लेते हैं—उससे और कुछ द्रव्य उत्पन्न होते है। यह एक घटना है। हम उसे स्पष्ट देखते हैं, प्रत्यक्ष करते हैं, एवं उसे नींव मान कर हम रसायन-शास्त्र का विचार करते है। पदार्थ-तत्ववेत्ता भी वैसा ही करते है—सभी विज्ञान के विषय मे यही हाल है। सभी प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष के ऊपर स्थापित है। उसके ऊपर निर्भर रहकर ही हमलोग विचार-युक्ति किया करते हैं। किन्तु आश्चर्य का विषय है कि अधिकांश लोग, विशेषत: वर्तमान काल मे, सोचा करते है कि धर्मतत्त्व मे प्रत्यक्ष करने को कुछ नहीं है—यदि कुछ धर्मतत्व लाभ करना होगा तो वह बाह्य वृथा तर्क के द्वारा ही होगा। किन्तु वास्तविक धर्म बातो का विषय नहीं है, वह तो प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय है। हमे अपनी आत्मा के अन्दर अन्वेषण करके देखना होगा कि वहाँ क्या है। हमे उसे समझना होगा और जिसे हम समझेंगे उसका साक्षात्कार करना होगा। यही धर्म है। चाहे कितना ही चीत्कार क्यो न करो, परन्तु वह धर्म नहीं हो सकता। अतएव एक कोई ईश्वर है या नहीं, यह व्यर्थ तर्कों के द्वारा प्रमाणित नहीं हो सकता, क्योकि युक्ति दोनों ओर समान है। किन्तु यदि कोई ईश्वर है, तो वह हमारे अन्तर में ही है। तुमने क्या कभी उसे देखा है? यही प्रश्न है। जिस तरह जगत् का अस्तित्व है या नहीं—इस प्रश्न की मीमांसा अभीतक

नही हो सकी इसी प्रकार प्रत्यक्षवाद और विज्ञानवाद (Idealism) का तर्क अनंत काल से चला आरहा है। इस प्रकार का तर्क निश्चय ही चलता है, परन्तु हम जानते है कि जगत् है और वह चल रहा है। हमलोग केवल एक शब्द का भिन्न भिन्न अर्थ करके यह तर्क किया करते है। हमारे जीवन के अन्यान्य सभी प्रश्नों के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही है—हमे प्रत्यक्षानुभूति प्राप्त करनी होगी। जैसे बाह्य विज्ञान मे—उसी तरह परमार्थ विज्ञान मे भी हमें कुछ पारमार्थिक व्यापार को प्रत्यक्ष करना होगा। उसी पर धर्म स्थापित होगा। अवश्य ही किसी भी धर्म के किसी भी मत में विश्वास रखना होगा, इस युक्तिहीन दावे मे कोई आस्था नहीं की जा सकती। उससे मनुष्य के मन की अवनति होती है। जो व्यक्ति तुम्हे सभी विषयों मे विश्वास करने को कहता है, वह अपने को भी नीचे गिराता है, और यदि तुम उसके वचनो पर विश्वास करते हो तो वह तुम्हे भी नीचे गिराता है। जगत् के साधुगणो को हमसे केवल यही कहने का अधिकार है कि उन्होंने अपने मन का विश्लेपण किया है तथा उन्होने कुछ सत्य पाया भी है, हम भी वैसा करे, फिर हम उन पर विश्वास करेगे, उसके पहले नहीं। यही धर्म का सार है। किन्तु यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो जो धर्म के विरुद्ध तर्क करते हैं, उनमे से निन्यानवे प्रतिशत व्यक्ति अपने मन का विश्लेपण करके नहीं देखते, वे सत्य को पाने की चेष्टा नही करते। इसलिये धर्म के विरोध मे उनकी युक्ति का कोई मूल्य नहीं है। यदि कोई अन्धा मनुष्य निश्चय करके कहे, "तुम लोग, जो कि सूर्य के अस्तित्व मे विश्वास करनेवाले हो. सभी भ्रान्त हो" तो उसके इस वाक्य का जितना मूल्य होगा, उतना ही मूल्य इनके वाक्य का होगा। इसलिये जो अपने मन का विश्लेपण नहीं करते और धर्म को एकदम

उड़ा देने, और लोप करने में अग्रसर है, उनकी बातो मे हमे थोड़ी भी आस्था करने की आवश्यकता नहीं।

इस विषय को ही विशेषतया समझना एवं अपरोक्षानुभूति का भाव मन मे सर्वदा जागरूक रखना उचित है। धर्म लेकर ये सब झगडे, मारामारी, विवाद-विसंवाद उसी समय चले जायँगे, जब कि हम समझेगे कि धर्म किसी ग्रन्थविशेष या मन्दिरविशेष मे बँधा हुआ नहीं है, अथवा इन्द्रिय द्वारा भी उसका अनुभव सम्भव नही है। यह अतीन्द्रिय तत्त्व की अपरोक्षानुभूति है। जिन व्यक्तियो ने वास्तविक ईश्वर एव आत्मा की उपलब्धि की है, वे ही प्रकृत धार्मिक है और यह प्रत्यानुभूति न होने पर उच्चतम धर्मशास्त्रवेत्ता जो धाराप्रवाह धर्म-वक्तृता दे सकते हैं उनमे तथा अत्यन्त सामान्य अज्ञ जड़वादी में कोई भेद नही है। हम सब नास्तिक है, इसे हम लोग क्यो नहीं मान लेते? केवल विचारपूर्वक धर्म के समग्र सत्य मे संमति देने मात्र से हम धार्मिक नहीं हो सकते। एक ईसाई या मुसलमान अथवा अन्य किसी दूसरे धर्मानुयायी की बात लो। ईसा के उस पर्वत पर के धर्मोपदेश का स्मरण करो। जो कोई व्यक्ति इस उपदेश को कार्य-रूप मे परिणत कर सके, वह उसी क्षण देवता हो सकता है, सिद्ध हो सकता है। तथापि कहा गया है कि पृथ्वी मे इतने करोड़ ईसाई है। क्या तुम कहना चाहते हो, ये सभी ईसाई है? वास्तविक इसका अर्थ यह है कि ये किसी न किसी समय इस उपदेश के अनुसार कार्य करने की चेष्टा कर सकते है। दो करोड लोगो मे एक भी सच्चा ईसाई है या नहीं. इसमें संदेह है।

भारतवर्ष मे भी इस तरह कहा गया है कि तीस कोटि वेदान्ती हैं। यदि प्रत्यक्षानुभूति-सम्पन्न व्यक्ति हजार में एक भी होते,

तो यह जगत् पॉच मिनट मे कुछ दूसरा ही हो जाता। हम सभी नास्तिक है, परन्तु जो व्यक्ति उसे स्पष्ट स्वीकार करता है, उससे हम विवाद करने को प्रस्तुत होते है। हम लोग सभी अन्धकार मे पड़े हुए है। धर्म हम लोगों के समीप मानो कुछ नहीं है, केवल विचारलब्ध कुछ मतों का अनुमोदन मात्र है, केवल मुँह की बात है—अमुक व्यक्ति खूब अच्छी तरह से बोल सकता है, अमुक व्यक्ति नहीं बोल सकता, यही हमलोगों का धर्म है—शब्द-योजना करने की सुन्दर कुशलता, अलङ्कारिक शब्दों मे वर्णन करने की क्षमता, शास्त्रों के श्लोकों की अनेक प्रकार से व्याख्या, ये सभी केवल पण्डितों के आमोद के निमित्त है—मुक्ति के लिये नहीं। आत्मा की जब यह प्रत्यक्षानुभूति आरम्भ होगी, तभी धर्म आरम्भ होगा। उसी समय तुम धार्मिक होगे, एवं उसी समय, केवल उसी समय नैतिक जीवन भी प्रारम्भ होगा। इस समय हम रास्ते के पशुओं की अपेक्षा भी कोई विशेष अधिक नीति-परायण नहीं है। हमलोग इस समय केवल समाज के शासन के भय से ही कुछ गडबड़ नहीं करते। यदि समाज आज कहे—चोरी करने से अब दण्ड नहीं मिलेगा तो हमलोग इसी समय दूसरे की सम्पत्ति लूटने के लिये व्यग्र होकर दौड़ पड़ेगे। हम लोगों के सच्चरित्र होने मे एकमात्र कारण पुलिस है। सामाजिक प्रतिष्ठा-लोप की आशंका ही हमलोगों के नीतिपरायण होने मे बहुधा कारण है, और वस्तुस्थिति तो यह है कि हम पशुओ से बिलकुल थोडासा ही उन्नत है। हम लोग जब अपने अपने घर के एकान्त कोने मे बैठकर अपने हृदय के भीतर अनुसधान करेगे तभी समझ सकेगे कि यह बात कितनी सत्य है। अतएव आओ, हमलोग इस कपटता का त्याग करे। आओ, स्वीकार करे कि हमलोग धार्मिक नही है और दूसरों के प्रति घृणा करने का

हमारा कोई अधिकार नहीं है। हम सभों के बीच वास्तव मे भ्रातृ-सम्बन्ध है, और हमे धर्म की जब प्रत्यक्षानुभूति होगी तभी हम नीति-परायण होने की आशा कर सकते है।

कल्पना करो तुमने कोई देश देखा है। कोई व्यक्ति तुम्हे काट कर टुकड़े टुकड़े कर फेक दे सकता है। परन्तु तुम अपने हृदय के भीतर कभी भी ऐसी बात नहीं सोच सकते कि मैने उस देश को देखा है। अवश्य ऐसा हो सकता है कि शारीरिक बल-प्रयोग के कारण तुम कह दो—मैने उस देश को नहीं देखा है, किन्तु तुम अपने मन मे जानते हो कि तुमने उस देश को देखा है। बाह्य जगत् को तुम जिस तरह प्रत्यक्ष करते हो, जिस समय इससे भी अधिक उज्ज्वल भाव से धर्म और ईश्वर का साक्षात्कार होगा, तब कुछ भी तुम्हारे विश्वास को नष्ट नहीं कर सकता। उसी समय प्रकृत विश्वास का आरम्भ होगा। "जिसे एक सरसो मात्र भी विश्वास है, वह पहाड़ के पास जाकर कहे कि तुम हट जाओ तो पहाड़ भी उसकी बात सुनेगा।" बाइबिल की इस कथा का तात्पर्य यही है। उस समय स्वय सत्यस्वरूप हो जाने के कारण तुम सत्य को जान सकोगे। केवल विचारपूर्वक सत्य के विषय मे समति देने से कोई लाभ नहीं है।

एक मात्र बात यही है कि क्या तुम्हे प्रत्यक्षानुभूति हुई है? वेदान्त की मूल बात यही है—धर्म का साक्षात्कार करो—केवल कहने से कुछ न होगा, किन्तु साक्षात्कार करना बहुत कठिन है। जो परमाणु के अन्दर अति गुह्य रूप से रहते है, वही पुराण पुरुष, वही प्रत्येक मानव-हृदय के गुह्यतम प्रदेश में निवास करते हैं, साधु पुरुषो ने उन्हे अन्तर्दृष्टि द्वारा उपलब्ध किया है और तभी वे सुख-दुःख दोनो

से पार होगये है, हम लोग जिसे धर्म कहते है, और जिसे अधर्म कहते है, और शुभाशुभ सब कर्म, एवं सत् असत्, इन सभों से वे पार होगये है,—जिन्होंने उन्हे देखा है, उन्होंने ही यथार्थ सत्य का दर्शन किया है। किन्तु फिर स्वर्ग का क्या हुआ ? स्वर्ग के सम्बन्ध मे हम लोगों की ऐसी धारणा है कि वह दुःखशून्य सुख है; अर्थात् हम संसार के सभी सुख चाहते है, और उसके दुःखों को केवल छोड़ देना चाहते है। अवश्य यह अत्यन्त सुन्दर धारणा है, यह स्वाभाविक भाव से ही आती है, किन्तु यह धारणा सम्पूर्ण भ्रमात्मक है, कारण, पूर्ण सुख या पूर्ण दुःख नाम का कोई पदार्थ नही है।

रोम मे एक व्यक्ति बड़ा धनी था। उसने एक दिन सुना कि उसकी सम्पत्ति मे केवल दस लाख पौण्ड शेष है। सुनते ही उसने कहा —तब मै कल क्या करूँगा ? और यह कह कर उसी समय उसने आत्महत्या कर ली ! दस लाख पौण्ड उसके लिये द्रारिद्र्यसूचक था, किन्तु हम लोगो के लिये वैसा नही है। वह तो हमारे सम्पूर्ण जीवन की आवश्यकता से भी अधिक है। वास्तविक सुख ही क्या है, और दुःख ही क्या ? वे लगातार विभिन्न रूप धारण करते रहते है। मै जब छोटा था, तो सोचता था—जब मै गाड़ी चलाने लगूँगा तो सुख की पराकाष्ठा को प्राप्त करूँगा। इस समय मै ऐसा नहीं समझता। अब तुम कौनसे सुख को पकड़े रहोगे ? यही हमे विशेषकर समझने की चेष्टा करना उचित है। और हमारा यह कुसस्कार नष्ट होने मे बहुत विलम्ब लगता है। प्रत्येक के सुख की धारणा अलग् अलग है। हमने एक आदमी को देखा है, जो प्रतिदिन प्रचुर अफीम खाये विना सुखी नही होता था। वह शायद सोचता होगा, स्वर्ग की मिट्टी अफीम की ही बनी

होगी! किन्तु हमारी दृष्टि मे वह स्वर्ग सुविधाजनक न होगा। हम लोग बारबार अरबी कविता मे पढ़ते है, स्वर्ग अनेक प्रकार के मनोहर उद्यानों से पूर्ण है, उसमे अनेक नदियॉ बहती है। मैंने अपना अधिकांश जीवन एक ऐसे स्थान मे बिताया है, जहॉ जल प्रचुर मात्रा मे है, कितने ही गाव और हजारो लोग प्रतिवर्ष बाढ़ मे मृत्यु के मुख मे चले जाते है। अतएव मेरा स्वर्ग नदीप्रवाहयुक्त एवं उद्यानपूर्ण नहीं हो सकता; मेरा स्वर्ग तो शुष्कभूमिपूर्ण तथा अधिक वर्षारहित होना आवश्यक है। हमारे जीवन के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही है, सुख की हमारी धारणा क्रमश॰ बदलती रहती है। युवक यदि स्वर्ग की कल्पना करे तो उसका स्वर्ग परम सुन्दर रमणीयों से परिपूर्ण होना आवश्यक है। वही व्यक्ति आगे चल कर वृद्ध होने पर उसे स्त्री की आवश्यकता फिर न रहेगी। हमारा प्रयोजन ही हमारे स्वर्ग का निर्माता है, और हमारे प्रयोजन के परिवर्तन के साथ साथ हमारा स्वर्ग भी भिन्न भिन्न रूप धारण करता है। यदि हम इस प्रकार के एक स्वर्ग में जायॅ जहॉ अनन्त इन्द्रिय-सुख का लाभ होगा तो उस जगह हमारी कोई विशेप उन्नति नही हो सकती। जो विषयभोग को ही जीवन का एक मात्र उद्देश्य मानते है वे ही इस प्रकार के स्वर्ग की प्रार्थना किया करते है। यह वास्तविक मंगलकारी न होकर महा अमगलकारी होगा। यही क्या हमारी अन्तिम गति है? थोडा हॅसना-रोना, उसके वाद कुत्ते के समान मृत्यु! जिस समय तुम लोग इन सव विपय-भोगों की प्रार्थना करते हो, उस समय तुम यह नही जानते कि मानव जाति के लिये जो अन्यत अमगलकारक है, उसकी तुम कामना करते हो—वास्तविक ऐहिक सुखभोग की कामना करके तुम वैसा ही करते हो, क्योकि तुम यह नहीं जानते कि प्रकृत आनन्द क्या है।

वस्तुतः दर्शनशास्त्र मे आनन्दत्याग करने का उपदेश नहीं दिया गया है। प्रकृत आनन्द क्या है इसी का उपदेश दिया गया है। नार्वे-वासियों की स्वर्ग के सम्बन्ध में धारणा ऐसी है कि वह एक भयानक युद्धक्षेत्र है, वहाँ सभी लोग जाकर वोडन (woden) देवता के सम्मुख बैठते है। कुछ समय के बाद जंगली सूअरों का शिकार आरम्भ होता है। बाद मे वे आपस में ही युद्ध करते हैं और एक दूसरे को खण्ड विखण्ड कर डालते है। किन्तु इस प्रकार के युद्ध के थोड़ी देर बाद ही किसी न किसी रूप से उन लोगों के घाव ठीक हो जाते है, उस समय वे एक हॉल मे जाकर उसी सूअर के मांस को पका कर खाते तथा आमोद-प्रमोद करते है। उसके दूसरे दिन वह सूअर जीवित हो जाता है और फिर उसी तरह शिकार आदि होता है। यह हमारी धारणा के अनुरूप ही है, अन्तर इतना ही है कि हमारी धारणा कुछ अधिक परिष्कृत है। इस प्रकार हम सभी सूअर का शिकार करना चाहते है—हम एक ऐसे स्थान में जाना चाहते है, यहाँ ये भोग पूर्ण मात्रा मे लगातार चलते रहे—ठीक उसी प्रकार जैसे नार्वेवासी सूअर की कल्पना करते है।

दर्शनशास्त्र के मत मे निरपेक्ष अपरिणामी आनन्द नामक पदार्थ है, अतएव हम साधारणतया जो ऐहिक सुखोपभोग करते है, उसके साथ इस सुख का कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु फिर वेदान्त ही केवल प्रमाणित करता है कि इस जगत् मे जो कुछ आनन्दकारी है, वह उसी प्रकृत आनन्द का अंश मात्र है, क्योंकि उस ब्रह्मानन्द का ही वास्तविक अस्तित्व है। हम प्रतिक्षण उसी ब्रह्मानन्द का उपभोग करते है, किन्तु यह नहीं जानते कि वह ब्रह्मानन्द है। जहाँ

कहीं किसी प्रकार का आनंद देखोगे, यहाँ तक कि चोरों को चोरी मे जो आनन्द मिलता है, वह भी वस्तुतः वही पूर्णानन्द है; अन्तर यही है कि वह कुछ बाह्य वस्तुओं के संपर्क से मलीन हो गया है। किन्तु उसकी प्राप्ति के लिये पहले हमे समस्त ऐहिक सुखभोग का त्याग करना होगा। उसका त्याग करने पर ही प्रकृत आनन्द की साक्षात् उपलब्धि होगी। पहले अज्ञान, मिथ्या का त्याग करना होगा, तभी सत्य का प्रकाश होगा। जब हम सत्य को दृढ़तापूर्वक पकड़ सकेंगे, तब पहले हमने जो कुछ भी त्याग किया था वही फिर एक दूसरा रूप धारण करेगा, एक नवीन आकार मे प्रतिभात होगा, उस समय समस्त ब्रह्माण्ड ही ब्रह्ममय हो जायगा, उस समय सभी कुछ उन्नत भाव को धारण करेगा, उस समय हम सभी पदार्थों को नवीन आलोक मे देखेंगे। किन्तु पहले हमे उन्ही सब का त्याग करना होगा; बाद मे सत्य का अन्ततः एक बिन्दु आभास पाने पर फिर हम उन सभो को ग्रहण करलेंगे, किन्तु अन्य रूप मे—ब्रह्माकार मे—परिणत रूप मे। अतएव हमे सुख-दुःख सभी का त्याग करना होगा। ये सब उस प्रकृत वस्तु का, उसे चाहे सुख कहो या दुःख, विभिन्न क्रम मात्र है। 'सभी वेद जिसकी घोषणा करते हैं, सभी प्रकार की तपस्यायें जिसकी प्राप्ति के लिये की जाती है, जिसे पाने की इच्छा से लोग ब्रह्मचर्य का अनुष्टान करते है, हम सक्षेप मे उसी के सम्बन्ध मे तुम्हे बतायँगे, वह ॐ है।' वेद मे इस ॐ कार की अतिशद महिमा और पवित्रता वर्णित है।

इस समय यम नचिकेता के प्रश्न का—मृत्यु के बाद मनुष्य की क्या दशा होती है—उत्तर देते है। "सदा चैतन्यवान आत्मा

कभी नहीं मरती, न कभी जन्म लेती है, यह किसी से भी उत्पन्न नहीं होती है, यह नित्य है, अज है, शाश्वत है और पुराण है। देह के नष्ट हो जाने पर भी यह नष्ट नहीं होती। मारनेवाला यदि सोचे मैं किसी को मार सकता हूँ, अथवा मरनेवाला व्यक्ति यदि सोचे—मै मरा हूँ, तो दोनों को ही सत्य से अनभिज्ञ समझना चाहिये; क्योंकि आत्मा न किसीको मारती है, न स्वय मृत होती है।" यह तो बड़ी भयानक बात हुई। प्रथम श्लोक में आत्मा का विशेषण जो 'सदा चैतन्यवान' शब्द है उसी के ऊपर विशेष लक्ष्य करो। क्रमशः देखोगे, वेदान्त का प्रकृत मत यही है कि समुदय ज्ञान, समुदय पवित्रता, पहले से ही आत्मा में अवस्थित है, उसका कही पर अधिक प्रकाश होता है और कहीं पर कम। इतना ही भेद है। मनुष्य के साथ मनुष्य का अथवा इस ब्रह्माण्ड के किसी भी पदार्थ का पार्थक्य प्रकारगत नहीं है, परिमाणगत है। प्रत्येक के भीतर अवस्थित सत्य—वही एक मात्र अनन्त नित्यानन्दमय, नित्यशुद्ध, नित्यपूर्ण ब्रह्म है। वही यह आत्मा है—वह पुण्यशील, पापी, सुखी, दुःखी, सुन्दर, कुरूप, मनुष्य, पशु, सब मे समान है। वही ज्योतिर्मय है। उसके प्रकाश के तारतम्य से ही नाना प्रकार का प्रभेद है। किसीके भीतर वह अधिक प्रकाशित है और किसी के भीतर कम, किन्तु उस आत्मा के समीप इस भेद का कोई अर्थ नही है। एक व्यक्ति की पोशाक के भीतर से उसके शरीर का अधिकांश देखा जाता है, पर दूसरे व्यक्ति की पोशाक के भीतर से उसके शरीर का अल्पांश देखा जाता है—पर इससे शरीर मे किसी प्रकार का भेद नहीं होता। केवल शरीर के अधिकांश या अल्पांश को आवृत करने वाली पोशाक का ही भेद देखा जाता है। आवरण अर्थात् देह और मन के तारतम्यानुसार ही

आत्मा की शक्ति और पवित्रता प्रकाशित होती है। अतएव यहाँ पर यह बात समझ लेना ठीक है कि वेदान्तदर्शन मे अच्छी और बुरी नामक दो पृथक् वस्तुऍ नहीं है। वही एक पदार्थ अच्छा और बुरा दोनों होता है और उनके बीच विभिन्नता केवल परिमाणगत है, एवं वास्तविक कार्यक्षेत्र मे भी हम यही देखते हैं। आज जिस वस्तु को हम सुखकर कहते है, कल कुछ अच्छी अवस्था प्राप्त होने पर उसी को दु खकर अवस्था कहकर उससे घृणा करेंगे। अतएव वास्तविक वस्तु के विकास की विभिन्न मात्रा के कारण ही भेद उपलब्ध होता है, उस पदार्थ मे तो वास्तविक कोई भेद नही है। वस्तुतः अच्छा बुरा नामक कोई पदार्थ ही नही है। जो अग्नि हमे सर्दी से बचाती है, वही किसी बच्चे को भस्म भी कर सकती है, तो यह क्या अग्नि का दोष हुआ? अतएव यदि आत्मा शुद्धस्वरूप और पवित्र हो, तो जो व्यक्ति असत्कार्य्र करने जाता है, वह अपने स्वरूप के विपरीत आचरण करता है—वह अपने स्वरूप को नही जानता। एक खूनी के भीतर भी शुद्ध स्वरूप आत्मा रहती है। वह भ्रान्ति से उसको ढाँके रहता है, उसकी ज्योति को प्रकाशित नहीं होने देता। और जो व्यक्ति सोचता है कि वह मारा गया, उसकी भी आत्मा मरती नहीं। आत्मा नित्य है—कभी भी उसका ध्वंस नहीं हो पाता। "अणु से भी अणु, वृहत् से भी वृहत्, वही सभी के प्रभु प्रत्येक मनुष्य-हृदय के गुह्यप्रदेश मे वास करते हैं। निष्पाप व्यक्ति विधाता की कृपा से उसे देखकर सभी प्रकार के शोक से रहित हो जाता है। जो देहशून्य होकर देह मे रहते है, जो देशविहीन होकर भी देश मे रहनेवालों के समान हैं, उस अनन्त और सर्वव्यापी आत्मा को इस प्रकार जानकर ज्ञानी व्यक्ति का दु:ख सम्पूर्ण रूप से दूर हो जाता है। इस आत्मा

को वक्तृताशक्ति, तीक्ष्ण मेधा अथवा वेदाध्ययन के द्वारा नहीं पाया जा सकता।

यह 'वेदों के द्वारा लाभ नहीं की जा सकती' ऐसा कहना ऋषियों के लिये परम साहस का कार्य था। पहले ही कहा है, ऋषि चिन्ता-जगत् मे बड़े साहसी थे, वे किसी के द्वारा भी रोके जानेवाले नहीं थे। हिन्दू लोग वेद को जिस सम्मान की दृष्टि से देखते है, उस भाव से ईसाई लोग बाइबिल को कभी नहीं देखते। ईसाइयों की ईश्वर-वाणी के विषय मे ऐसी धारणा है कि किसी मनुष्य ने ईश्वरानुप्राणित होकर उसे लिखा है, किन्तु हिन्दुओ की धारणा है—जगत् मे जो सभी विभिन्न पदार्थ हैं, उसका कारण यह है कि वेद मे इन इन पदार्थों का नाम उल्लिखित है। उनका विश्वास है कि वेद के द्वारा ही जगत् की सृष्टि हुई है। ज्ञान नाम से जो कुछ समझा जाता है, वह वेद मे ही है। जिस प्रकार आत्मा अनादि अनन्त है उसी प्रकार वेद का प्रत्येक शब्द भी पवित्र एवं अनंत है। सृष्टिकर्ता के समस्त मन का भाव ही मानो इस ग्रन्थ मे प्रकाशित है। वे इस भाव से वेद को देखते है। यह कार्य नीतिसंगत क्यों है?—क्योकि इसे वेद कहता है। यह कार्य अन्याय क्यो है?—क्योकि इसे वेद कहता है। वेद के प्रति प्राचीनो की ऐसी श्रद्धा रहने पर भी इन ऋषियो का सत्यानुसन्धान मे कितना साहस है, देखो। उन्होने यह कहा कि 'नही, बारंबार वेदपाठ करने पर भी सत्यलाभ की कोई सम्भावना नहीं है'। अतएव वही आत्मा जिसके प्रति प्रसन्न होती है, उसीको वह अपना स्वरूप दिखलाती है। किन्तु इससे एक और आशका उठ सकती है कि इसमे भी उस पर पक्षपात का दोष हुआ, इसलिये निम्नलिखित वाक्य भी इसके साथ कहे गये है। 'जो असत्कार्य करनेवाले है और जिनका मन शान्त

नही है, वे कभी भी इसे नही पा सकते ; केवल जिनका हृदय पवित्र है, जिनका कार्य पवित्र है, जिनकी इन्द्रियॉ संयत है, उन्ही के निकट यह आत्मा प्रकाशित होती है।'

आत्मा के सम्बन्ध में एक सुन्दर उपमा दी गयी है। आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी, मन को लगाम और इन्द्रियो को अश्व की उपमा दी गई है। जिस रथ के घोडे अच्छी तरह संयत है, जिस रथ की लगाम खूब मज़बूत है और सारथी के द्वारा दृढ़रूप से पकड़ा हुआ है, वही रथ विष्णु के उस परम पद को पहुँच सकता है, किन्तु जिस रथ के इन्द्रिय रूपी घोड़े दृढ़भाव से सयत नही हैं तथा मनरूपी लगाम दृढ़भाव से संयत नही रहती वही रथ अन्त मे विनाश की दशा को प्राप्त होता है। सभी प्राणियो के मध्य मे अवस्थित आत्मा चक्षु अथवा किसी दूसरी इन्द्रिय के समक्ष प्रकाशित नहीं होती, किन्तु जिनका मन पवित्र हुआ है, वे ही उसे देख पाते है। जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से अतीत है, जो अव्यय है, जिसका आदि अन्त नही है, जो प्रकृति के अतीत है, अपरिणामी है, उसे वे प्राप्त करते हैं, वे मृत्यु-मुख से मुक्त होते है। किन्तु उसे पाना वहुत कठिन है, यह मार्ग तेज क्षुरधारा के समान अत्यंत दुर्गम है। मार्ग वहुत लम्बा एव विपद्व्याप्त है, किन्तु निराश मत होना, दृढतापूर्वक चले जाओ, 'उठो, जागो, जिसकी कोई सीमा नही है, उसी चरमलक्ष्य पर पहुँचो, वहॉ तक पहुँचे विना निवृत्त मत होओ।'

हम देखते है, समस्त उपनिषद के भीतर प्रधान बात यह अपरोक्षानुभूति ही है। इसके सम्बन्ध मे मन मे समय समय पर अनेक प्रकार के प्रश्न उठेंगे—विशेषत, आधुनिक लोगो के लिए इसकी उपकारिता के

सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होंगे—तथा और भी अनेक प्रकार के संदेह उठेंगे, परन्तु हम देखेंगे कि सभी मे हम अपने पूर्व सस्कारों के द्वारा सचालित होने है। हमारे मन पर इन पूर्व सस्कारों का अतिशय प्रभाव है। जो बाल्यकाल से केवल सगुण ईश्वर की और मन के व्यक्तिगत तत्व (The personality of the mind) की बात सुनते है, उनके लिये पूर्वोक्त बाते अवश्य ही अति कर्कश मालूम पडेगी, किन्तु यदि हम उन्हे सुने और यदि दीर्घकाल तक उनकी चिन्ता करे, तो वे बाते हमारे प्राणों मे भिद जायँगी, हम फिर इस तरह की बाते सुनकर भयभीत न होंगे। हॉ, दर्शन की उपकारिता अर्थात् कार्यकारिता के सम्बन्ध मे मुख्य प्रश्न अवश्य है। उसका केवल एक ही उत्तर दिया जा सकता है। यदि प्रयोजनवादियों के मत मे सुख का अन्वेपण करना मनुष्य के लिये कर्तव्य है, तो आध्यात्मिक चिन्ता मे जिन्हें सुख मिलता है, वे क्यो न आध्यात्मिक चिन्ता मे सुख का अन्वेषण करे? अनेक लोग विषयभोग मे सुख पाने के कारण विषयसुख का अन्वेषण करते है, किन्तु ऐसे अनेक व्यक्ति हो सकते है जो उच्चतर भोग का अन्वेपण करते है। कुत्ता केवल खाने पीने से सुखी होता है। किन्तु वैज्ञानिक विपयसुख को तिलाञ्जलि दे, केवल कुछ ही तारों की स्थिति जानने के लिये ही शायद किसी पर्वत के शिखर पर वास करते है। वे जिस अपूर्व सुख का आस्वाद पाते है, कुत्ता उसे समझने मे अक्षम है। कुत्ता उन्हे देखकर हँस सकता है और उन्हे पागल कह सकता है। हो सकता है बिचारे वैज्ञानिक को विवाह भी करने की सुविधा न मिली हो। हो सकता है, वे केवल रोटी के कुछ टुकड़े और थोडेसे पानी के आधार पर ही पर्वत के शिखर पर रहते है। किन्तु वैज्ञानिक कहेगे, "भाई कुत्ते! तुम्हारा सुख केवल इन्द्रियों में आबद्ध है; तुम

इस सुख का भोग कर रहे हो। तुम उसे छोड़कर उच्चतर कोई भी सुख नही जानते, किन्तु हमारे लिये यही सबसे बढ़कर सुखकर है। और यदि तुम्हे अपने मनोनुकूल सुखान्वेषण का अधिकार है, तो हमें भी है।" हमारा यही भ्रम है कि हम समस्त जगत् को अपने ही भाव से चलाना चाहते है। हम अपने ही मन को समस्त जगत् का मापदण्ड बनाना चाहते हैं। तुम्हारी दृष्टि में इन्द्रियविषयो मे ही सर्वापेक्षा अधिक सुख है। किन्तु हमे भी उन्हीं से सुख मिलेगा, इसका कोई अर्थ नहीं है। जिस समय तुम इस मत को लेकर जिद करते हो, तभी हमारा तुमसे मतभेद होता है। सांसारिक हितवादी (Worldly Utilitarian) के साथ धर्मवादी का यही प्रभेद है। सांसारिक हितवादी कहते हैं—"देखो, हम कितने सुखी है!"

"हम तुम्हारे धर्म-तत्त्वो को लेकर माथापच्ची नहीं करते। वे तो अनुसधानातीत है। उन सभो का अन्वेषण न कर हम बड़े सुख मे हैं।" बहुत अच्छा, अच्छी बात है। हे हितवादियो! तुम लोग जिससे सुखी होते हो, वह ठीक है। किन्तु यह संसार बड़ा भयानक है। यदि कोई व्यक्ति अपने भाई का कोई अनिष्ट करके सुख प्राप्त कर सके, तो ईश्वर उसकी उन्नति करता है। किन्तु जब वही व्यक्ति आकर हमे अपने मत के अनुसार कार्य करने का परामर्श देता है और कहता है, यदि तुम इस तरह नहीं करते हो तो तुम मूर्ख हो तो उससे हम कहते है, तुम भ्रान्त हो, क्योंकि तुम्हारे लिये जो सुखकर है, उसे यदि हम करे, तो हम प्राण रखने मे भी समर्थ न हो सकेंगे। यदि हमे सोने के कुछ टुकड़ों के लिये दौडना पडे, तो हमारा जीना ही निरर्थक होगा। धार्मिक व्यक्ति हितवादी को यही

उत्तर देगा। और वास्तविक बात भी ऐसी ही है। जिसने निम्नतर भोगवासनाओं का अन्त कर लिया है, वही धर्माचरण कर सकता है। हम लोगो को भोग भोगकर आघातो द्वारा सीखना होगा, जहॉ तक हमारी दौड है, वहॉ तक दौड लेना होगा। जब इस संसार मे हमारी दौड निवृत्त होती है, तभी हम लोगों की दृष्टि के समक्ष परलोक प्रतिभात होता है।

इस विषय मे और एक विशेष समस्या हमारे मन मे उत्पन्न हुई। सुनने मे बात तो बडी कर्कश है, परन्तु है वह वास्तविक सत्य कथा। यह विषय-भोगवासना किसी किसी समय और एक रूप धारण करके उदित होती है—उसमे बडी विपदाशंका है, फिर भी वह आपाततः रमणीय है। यह बात तुम सर्वदा सुनते हो। अत्यन्त प्राचीन काल मे भी वह धारणा थी—वह प्रत्येक धर्म-विश्वास के अन्तर्गत है और वह यह है कि एक ऐसा समय आयेगा जब संसार का समस्त दुःख समाप्त हो जायगा, केवल सुखांश ही अवशिष्ट रह जायगा और पृथ्वी स्वर्गराज्य मे परिणत हो जायगी। पर मेरा इस बात पर विश्वास नही है। हमारी पृथ्वी जैसी है, वैसी ही रहेगी। अवश्य ही यह बात कहना बहुत भयानक है, किन्तु यह न कहकर और कोई मार्ग देखता ही नहीं हूॅ। यह बात रोग के समान है। मस्तक से उतारो तो पैर मे जायगा। एक स्थान से हटा देने से दूसरे स्थान मे चला जायगा। कुछ भी क्यों न करो, वह किसी भी तरह पूर्णरूपेण दूर नहीं हो सकता। दुःख भी इसी तरह है। अति प्राचीन काल मे लोग जगल मे रहा करते थे और एक दूसरे को मारकर खा लेते थे। वर्तमान काल मे मनुष्य एक दूसरे मनुष्य का मांस नही

खाता, परन्तु एक दूसरे को ठगा खूब करता है। मनुष्य प्रतारणा करके नगर का नगर, देश का देश ध्वस कर डालता है। निश्चय ही यह किसी बहुत बड़ी उन्नति का परिचायक नही है। और तुम लोग जिसे उन्नति कहते हो, उसे भी मैं बडा नही समझना—वह तो वासना की लगातार वृद्धि मात्र है। यदि मुझे कोई विषय अति स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है, तो वह यही है कि वासना से केवल दुःख का ही आगमन होता है—वह तो याचक की अवस्था मात्र है। सर्वदा ही कुछ न कुछ के लिये याचना करना—किसी दूकान आदि मे जाकर किसी न किसी वस्तु के पाने की इच्छा रहती ही है। बस चाहना, चाहना, चाहना! सारा जीवन ही केवल तृष्णाग्रस्त याचक की अवस्था है—वासना की दुर्निवार तृष्णा है। यदि वासना पूर्ण करने की शक्ति समयुक्तान्तर श्रेणी (Arithmetical progression) के नियमानुसार बढे, तो वासना की शक्ति समगुणितान्तर श्रेणी (Geometrical progression) के नियमानुसार बढती है। अनन्त जगत् के समस्त सुखदुःख की समष्टि सर्वदा ही समान है। समुद्र मे यदि एक तरग कहीं से उठती है, तो निश्चय कहीं पर एक गर्त उत्पन्न होगी। यदि किसी मनुष्य को सुख प्राप्त हुआ है, तो निश्चय ही किसी दूसरे मनुष्य या पशु को दुःख हुआ है। मनुष्य की सख्या बढ रही है, पशु की संख्या घट रही है। हम उनका विनाश करके उनकी भूमि छीन रहे है, हम उनका समस्त खाद्यद्रव्य छीन रहे है। तब हम किस तरह कहे कि सुख लगातार बढ रहा है? प्रबल जाति दुर्बल जाति का ग्रास कर रही है, किन्तु तुम लोग क्या समझते हो कि प्रबल जाति कुछ सुखी होगी? नहीं, वे एक दूसरे का सहार ही करेगी, मेरी समझ मे नहीं आता कि सुख का युग किस तरह आयेगा। यह तो

प्रत्यक्ष करने का विषय है। आनुमानिक विचार के द्वारा भी मै देखता हूँ कि यह कभी सम्भव नहीं है।

पूर्णता सर्वदा ही अनन्त है। हम वस्तुत: वही अनन्त स्वरूप है, अपने उसी अनन्त स्वरूप को अभिव्यक्त करने की चेष्टा मात्र हम कर रहे है। तुम और मै, सभी उसी अपने अपने अनन्त स्वरूप को अभिव्यक्त करने की चेष्टा मात्र करते है। यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु कुछ जर्मन दार्शनिको ने इससे एक अत्यत अद्भुत दार्शनिक सिद्धान्त निकालने की चेष्टा की है—वह यही है कि इस तरह अनन्त क्रमश: अधिकाधिक व्यक्त होता रहेगा, जब तक कि हम पूर्ण व्यक्त नही होते है, जब तक कि हम सब पूर्ण पुरुष नहीं हो सकते है। पूर्ण अभिव्यक्ति का अर्थ क्या है ? पूर्णता का अर्थ अनन्त है, और अभिव्यक्ति का अर्थ है सीमा—अतएव इसका यह तात्पर्य हुआ कि हम असीम भाव से ससीम होंगे, परन्तु यह तो असंबद्ध प्रलाप मात्र है। बालकगण इस मत से संतुष्ट हो सकते है; बच्चों को सन्तुष्ट करने के लिये उन लोगों को शौक के तौर पर धर्म देने के लिये यह अवश्य उपयोगी है, किन्तु इससे उन लोगों को मिथ्या के विप से जर्जरित करना होता है—और धर्म के लिये तो यह बडा ही हानिकारक है। हमे यह समझ लेना उचित है कि जगत् और मानव ईश्वर का अवनत भाव मात्र है; तुम्हारी बाइबिल मे भी यह है कि आदम पहले पूर्ण मानव थे, बाद मे भ्रष्ट हुए। इस तरह का कोई धर्म ही नहीं है जो यह न कहता हो कि मनुष्य पहले की अवस्था से हीन अवस्था मे गिर गया है। हम हीन होकर पशु हो गये है। इस समय हम फिर से उन्नति के मार्ग पर चल रहे है, और इस बन्धन से

बाहर होने की चेष्टा कर रहे है, किन्तु हम अनन्त को कभी भी यहॉ अभिव्यक्त करने मे समर्थ नही हो सकते। हम प्राणपण से चेष्टा कर सकते है, परन्तु देखेगे कि यह असंभव है। अन्त मे एक समय ऐसा आयेगा जब हम देखेगे कि जब तक हम इन्द्रियों से आबद्ध है, तब तक पूर्णता का लाभ असंभव है। तब हम जिस ओर अग्रसर हो रहे थे, उसी ओर से पीछे लौटना आरम्भ करेंगे।

इसी लौट आने का नाम त्याग है। तब हम जिस जाल के भीतर पड़े थे, उसमे से हमे निकलना होगा—तभी नीति और दया धर्म आरम्भ होगा। समस्त नैतिक अनुशासन का मूलमत्र क्या है? 'नाहं नाहं, त्वमसि त्वमसि (तूही, तूही,)'। हमारे पीछे जो अनन्त विद्यमान है, उन्होंने अपने को बहिर्जगत् में व्यक्त करने के लिये इस 'अहं' का आकार धारण किया है। उन्हीं से इस क्षुद्र 'मैं' और 'तुम' की उत्पत्ति हुई है। अभिव्यक्ति की चेष्टा मे इसी फल की उत्पत्ति हुई है,—अब इस 'मैं' को फिर पीछे हटकर अपने अनन्त स्वरूप मे मिल जाना होगा। उन्हे मालूम होगा कि वे इतने दिन तक व्यर्थ की चेष्टा कर रहे थे। उन्होने अपने को भॅवर मे डाला है–उन्हे इस भॅवर से बाहर निकलना होगा। प्रत्येक दिन यही हमें प्रत्यक्ष होरहा है। जितने बार तुम कहते हो 'नाहं नाहं, त्वमसि त्वमसि' उतने ही बार तुम लौटने की चेष्टा करते हो, और जितने बार तुम अनन्त को यहॉ अभिव्यक्त करने मे सचेष्ट होते हो, उतने ही बार तुम्हे कहना होगा 'अहं, अहं, न त्वम्'। इसीसे संसार मे प्रतिद्वन्द्विता, संघर्ष और अनिष्ट की उत्पत्ति होती है, किन्तु अन्त मे त्याग, अनन्त त्याग का आरम्भ होगा ही। 'मैं' मर जायगा। अपने जीवन के लिये उस समय कौन यत्न करेगा? यहॉ रहकर इस जीवन का उपभोग करने

की व्यर्थ वासना और फिर इसके आगे स्वर्ग जाकर उसी तरह रहने की वासना—अर्थात् सर्वदा इन्द्रिय और इन्द्रियसुख में लिप्त रहने की वासना ही मृत्यु को लाती है।

यदि हम पशुओं की उन्नत अवस्था मात्र है, तो जिस विचार से यह सिद्धान्त लब्ध हुआ उसी विचार से यह सिद्धान्त भी हो सकता है कि पशुगण मनुष्य की अवनत अवस्था मात्र है। तुमने यह कैसे समझा कि वैसा नहीं है? तुम जानते हो—क्रमविकासवाद का प्रमाण केवल यही है कि निम्नतम प्राणी से लेकर उच्चतम प्राणी तक सभी शरीर परस्पर-सदृश हैं, किन्तु उससे तुमने किस प्रकार यह सिद्धान्त निकाला कि निम्नतम प्राणी से क्रमशः उच्चतम प्राणी जन्मा है, न कि यह कि उच्चतम से क्रमशः निम्नतम प्राणी उत्पन्न हुआ है? दोनों ही ओर समान युक्ति है—और यदि इस मतवाद मे वास्तविक कुछ सत्य है, तो हमारा यह विश्वास है कि एकबार नीचे से ऊपर, फिर ऊपर से नीचे गति होती है—अर्थात् लगातार इस देहश्रेणी का आवर्तन हो रहा है। क्रमसकोचवाद स्वीकार न करने पर क्रमविकासवाद किस तरह सत्य हो सकता है? जो कुछ भी हो, मै जो कह रहा था कि मनुष्य की लगातार अनन्त उन्नति नही हो सकती यह इससे अच्छी तरह स्पष्ट होजाता है।

'अनन्त' जगत् मे अवश्य अभिव्यक्त हो सकता है, इसे यदि मुझे कोई समझा सके तो मै उसे समझने को प्रस्तुत हूँ, किन्तु हम लगातार सरल रेखा मे उन्नति करते जा रहे है, इस बात पर मेरा बिलकुल विश्वास नहीं है। यह तो एक असंबद्ध प्रलाप मात्र है। सरल रेखा मे किसी प्रकार की गति हो ही नहीं सकती। यदि तुम अपने सामने ही

सामने एक पत्थर फेको, तो अनन्त काल के बाद एक समय ऐसा आयेगा, जब वह घूमकर गोलाकार मे तुम्हारे निकट फिर आजायेगा। तुमलोगो ने क्या गणित के इस स्वत.सिद्ध सिद्धान्त को नही पढ़ा है कि सरल रेखा अनन्त रूप मे वढ़ाने पर वर्तुलाकार धारण करती है? अवश्य ही यह ऐसा ही होगा, परन्तु संभव है, मार्ग पर अग्रसर होते होते कुछ इधर उधर होजाय। इसी कारण मै सर्वदा ही प्राचीन धर्मों का मत लेता हूँ—क्या ईसा, क्या वुद्ध, क्या वेदान्त, क्या वाइविल, सभी कहते है—इस अपूर्ण जगत् को छोड़कर ही समय पर हम पूर्णता प्राप्त करेगे। यह जगत् कुछ भी नही है—अधिक से अधिक उस सत्य की एक भयानक विसदृश अनुकृति अर्थात् छाया मात्र है। सभी अज्ञानी मनुष्य इन इन्द्रियसुखो का उपभोग करने के लिये दौड़ते है।

इन्द्रियो मे आसक्त होना अत्यन्त सहज है। और भी सहज यह है कि हम अपने प्राचीन अभ्यास के वशीभूत होकर केवल आहार-पान मे मत्त रहे। किन्तु हमारे आधुनिक दार्शनिक इन सभी सुखकर भावो को लेकर उनके ऊपर धर्म का छाप देने की चेष्टा करते है। किन्तु यह मत सत्य नही है। इन्द्रियो की मृत्यु अटल है। हमे मृत्यु से अतीत होना होगा। मृत्यु कभी भी सत्य नही है। त्याग ही हमे सत्य मे पहुँचायेगा। नीति का अर्थ ही त्याग है। हमारे प्रकृत जीवन का प्रत्येक अंश ही त्याग है। हम जीवन के उन्हीं क्षणो मे वास्तविक साधुता से युक्त होते है और प्रकृत जीवन का संभोग करते है, जब हम 'मै' की चिन्ता से विरत होते है। 'मै' का जब नाश होता है—हमारे अन्तर के 'प्राचीन मनुष्य' ('Old man') की मृत्यु होती है, उसी समय हम सत्य मे पहुँचते है। और वेदान्त कहता है—वह

सत्य ही ईश्वर है, वही हमारा प्रकृत स्वरूप है—वह सर्वदा ही तुम्हारे साथ रहता है और केवल यही नहीं, तुममें ही रहता है। उसी में सर्वदा वास करो। यद्यपि यह बहुत कठिन प्रतीत होता है, तथापि क्रमशः यह सहज हो जायगा। तब तुम देखोगे, उसमें रहना ही एकमात्र आनन्दपूर्ण अवस्था है, अन्य सभी अवस्थायें मृत्यु है। आत्म-भाव मे पूर्ण होना ही जीवन है, और सभी भाव मृत्यु है। हमारे वर्तमान समस्त जीवन को ही केवल शिक्षा के लिये विश्वविद्यालय कहा जा सकता है। प्रकृत जीवन लाभ करने के लिए हमे इसके बाहर जाना होगा।

---

१३. आत्मा का मुक्त स्वभाव

हम पहले जिस कठोपनिषद की आलोचना करते थे, वह छान्दोग्योपनिषद के, जिसकी हम आलोचना करेंगे, वहुत समय वाद रचा गया था। कठोपनिषद की भाषा अपेक्षाकृत आधुनिक है, उसकी चिन्तनशली भी सबसे अधिक प्रणालीवद्ध है। प्राचीनतर उपनिषदो की भाषा कुछ अन्य प्रकार की थी। वह अति प्राचीन एवं वहुत कुछ वेद के संहिता-भाग की तरह थी। फिर उनमे अनेक वार अनेक अनावश्यक विषयो में से घूम फिर कर तव कही उनका सार मत प्राप्त होता है। इस प्राचीन उपनिषद में कर्मकाण्डात्मक वेदांश का काफी प्रभाव है। इसीलिए इसका आधे से अधिक भाग अव भी कर्मकाण्डात्मक है। किन्तु अति प्राचीन उपनिषदो के अध्ययन से एक महान लाभ होता है। वह लाभ यह है कि उनके अध्ययन से आध्यात्मिक भावो का ऐतिहासिक विकास जाना जा सकता है। अपेक्षाकृत आधुनिक उपनिषदो मे ये आध्यात्मिक तत्व सव एकत्र संग्रहीत एवं सज्जित पाये जाते है। उदाहरण रूप भगवद्गीता को ही ले लीजिये। श्रीमद्भगवद्गीता को अन्तिम उपनिषद कहा जासकता है, क्योकि उसमे कर्मकाण्ड का लेशमात्र भी नही है। गीता का प्रत्येक श्लोक किसी न किसी उपनिषद से संग्रहीत है, मानो अनेक पुष्पो के संचयन से एक सुन्दर गुच्छ निर्मित हुआ हो, किन्तु उनमे इन सव तत्वो का क्रमविकास देखने मे नही आता। अनेक लोगो के मतानुसार इन आध्यात्मिक तत्वो के क्रम-विकास को जानने की सुविधा ही वेद के अध्य-

यन की एक विशेष उपकारिता है। वास्तव मे यह सत्य भी है, क्योकि वेद को लोग इतनी पवित्रता की दृष्टि से देखते है कि संसार के अन्यान्य धर्मशास्त्रो मे जिस तरह नाना प्रकार की मिलावट हुई है, वेद मे वैसी नही होने पाई। वेद मे अति उच्च विचार और निम्नतम विचारो का भी समावेश है। सार, असार, अति उन्नत विचार, और साथ ही सामान्य छोटी-छोटी बाते भी उसमे सन्निविष्ट है। किसीने भी उसमे परिवर्तन या परिवर्धन करने का साहस नहीं किया। हॉ, टीकाकारो ने अवश्य ही व्याख्या के बल से अति प्राचीन विषयो से अद्भुत-अद्भुत नये भाव निकालना आरम्भ किया, अनेक साधारण वर्णनो के भीतर वे आध्यात्मिक तत्व देखने लगे, किन्तु मूल जैसे का तैसा ही रहा—इसी मूल मे ऐतिहासिक गवेषणा के अनेक विषय हैं। हम जानते है कि मनुष्य की चिन्तन-शक्ति जितनी ही उन्नत होती है उतना ही वे धर्म के पूर्व भावो को परिवर्तित कर उनमे नवीन नवीन ऊँचे भावो को मिलाते है। यहॉ एक, वहॉ एक—इस प्रकार नई नई बाते जोडी जाती है, कहीं कहीं एक आध बात निकाल भी दी जाती है। टीकाकार की ही तो कला ठहरी ! सम्भवत. वैदिक साहित्य में ऐसा नही किया गया। और यदि हुआ हो तो प्रथमतः उसका पता ही नही चलता। हमे इससे लाभ यह है कि हम विचार के मूल उत्पत्तिस्थान में पहुँच सकते है—देख सकते है कि किस प्रकार क्रमशः उच्च से उच्चतर विचारो का, किस प्रकार से स्थूल आधिभौतिक धारणाओ से लेकर सूक्ष्मतर आध्यात्मिक धारणाओ का विकास हो रहा है और अन्त में किस प्रकार वेदान्त मे उन सभो की चरम परिणति हुई है। वैदिक साहित्य मे अनेक प्राचीन आचार-व्यवहारो का भी आभास पाया जाता है। पर उपनिषद् में उन

सभी का वर्णन अधिक नही है। वह एक ऐसी भाषा मे लिखा गया है जो अत्यन्त सक्षिप्त है और सरलता से याद रखी जा सकती है।

प्रतीत ऐसा होता है कि इस ग्रन्थ के लेखक मानो केवल कई घटनाओ को स्मरण रखने के उपाय लिख रहे है। मानो उनकी ऐसी धारणा है कि ये सब बाते सभी जानते है। इससे असुविधा यह होती है कि हम उपनिषद मे लिखी कथाओ के वास्तविक तात्पर्य को ग्रहण नही कर सकते। इसका कारण यह है—यह सब जिन लोगो के समय मे लिखा गया था वे लोग उन घटनाओ को जानते थे, किन्तु आज उनकी किम्वदन्ती भी वर्तमान नही है,—और जो एकाध है भी, वह भी अतिरजित होगई है। उनकी ऐसी नयी व्याख्या होगई है कि जब हम पुराणो मे उनके विवरण पढ़ते है तो देखते है कि वे उच्छ्वासात्मक काव्य बन गये है।

पाश्चात्य देशो मे जैसे हम पाश्चात्य जाति की राजनीतिक उन्नति के विषय मे एक विशेष भाव देख पाते है कि वे किसी प्रकार अनियन्त्रित शासन सहन नही कर सकते, वे किसी प्रकार के बन्धन को—जैसे कोई उनके ऊपर शासन करे—सहन नही कर सकते, वे जैसे क्रमशः उच्च से उच्चतर प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली की उच्च उच्चतर धारणा तथा वाह्य स्वाधीनता की उच्च से उच्चतर धारणा प्राप्त कर रहे हैं ठीक वैसी ही घटना दर्शन मे घटती है; किन्तु भेद यही है कि यह आध्यात्मिक जीवन की स्वाधीनता है। 'अनेक-देववाद' से क्रमश लोग 'एकेश्वरवाद' मे पहुँचते है—उपनिषद मे फिर मानो इसी एकेश्वरवाद के विरुद्ध युद्धघोषणा हुई है। जगत

के अनेक शासनकर्ता अपने भाग्य को नियन्त्रित कर रहे है केवल यही धारणा उन्हे असह्य होती हो सो नहीं, बल्कि एकजन उनके अदृष्ट का विधाता होगा—यह धारणा भी उन्हे सह्य न हो सकी। उपनिपद् की आलोचना करने पर यही सबसे पहले हमारे सामने आता है। यही धारणा धीरे धीरे बढ़कर अन्त मे उसकी चरम परिणति हुई प्राय: सभी उपनिषदो मे अन्त मे हम यही परिणति पाते है। वह है—जगदीश्वर को सिहासनच्युत करना। ईश्वर की सगुण धारणा जाकर निर्गुण धारणा उपस्थित होती है। तब ईश्वर जगत् का शासनकर्ता एक व्यक्ति नही रह जाता, वह फिर एक अनन्तगुणसंपन्न मनुष्य-धर्मविशिष्ट नही रहता, प्रत्युत वह एक भाव मात्र, एक परम तत्व मात्र रूप मे ज्ञात होता है। हममे, जगत् के सभी प्राणियों मे, यहाँ तक कि समस्त जगत् मे वही तत्व ओत-प्रोत भाव से विराजमान है। और यह निश्चित है कि जब ईश्वर की सगुण धारणा निर्गुण धारणा मे पहुँच गई तब मनुष्य भी सगुण नहीं रह सकता। अतएव मनुष्य का सगुणत्व भी उड गया—मनुष्य भी एक तत्व-मात्र हुआ। सगुण व्यक्ति बाह्य प्रदेश मे विराजित है;—प्रकृत तत्व अन्तर्देश मे—पश्चात्। इसी तरह दोनो ओर से ही क्रमश: सगुणत्व चला जाता है और निर्गुणत्व का आविर्भाव होता रहता है।

सगुण ईश्वर की क्रमश: निर्गुण धारणा होती है एव सगुण मनुष्य का भी निर्गुण मनुष्यभाव आता रहता है—तब इन दो दिशाओ मे विभिन्न भाव से प्रवाहित इन दो धाराओ का विभिन्न वर्णन पाया जाता है। ये दो धाराये जिस क्रम से क्रमश: आगे होकर मिल जाती हैं, उसके वर्णन से उपनिषद् पूर्ण है एव प्रत्येक उपनिषद् की शेष

कथा है—तत्वमसि। केवल एक मात्र नित्य आनन्दमय पुरुष ही है, और वही परम तत्व इस जगत् रूप मे अनेक प्रकार से प्रकाशित होता है।

अब दार्शनिक आए। उपनिषद् का कार्य यहीं समाप्त हुआ—दार्शनिक लोगो ने उसके वाद अन्यान्य प्रश्नो पर विचार आरम्भ किया। उपनिषद मे मुख्य बात मिली—अब विस्तार पूर्वक व्याख्या करना, विचार करना दार्शनिक लोगो के लिए ही रहा।

यह स्वाभाविक है कि पूर्वोक्त सिद्धान्त से अनेक प्रश्न उठते हैं। यदि यही स्वीकार किया जाय कि एक निर्गुणतत्व ही परिदृश्यमान नाना रूपो मे प्रकाशित होता है, तो यही जिज्ञासा होती है कि एक क्यो अनेक हुआ? यह वही प्राचीन प्रश्न है जो मनुष्य की अमार्जित बुद्धि मे स्थूल भाव से उत्पन्न होता है। जगत् मे दुःख अशुभ क्यो है? उसी प्रश्न ने स्थूल भाव त्यागकर सूक्ष्म रूप धारण किया है। अब फिर हमारी बाह्य दृष्टि ऐन्द्रियिक दृष्टि से वह प्रश्न नहीं पूछा जारहा है, बल्कि भीतर से दार्शनिक दृष्टि से इस प्रश्न का विचार होरहा है। क्यो वह एक तत्व अनेक हुआ? इसका उत्तर—सर्वोत्तम उत्तर भारतवर्ष मे मिला। इसका उत्तर—मायावाद—वास्तव मे वह अनेक नहीं हुआ, वास्तव मे उसके प्रकृत स्वरूप की लेशमात्र भी हानि नही हुई। यह अनेकत्व केवल आपातप्रतीयमान मात्र है, मनुष्य आपात दृष्टि से व्यक्ति रूप से प्रतीयमान होरहा है, किन्तु वास्तव मे वह निर्गुण है। ईश्वर भी आपाततः सगुण या व्यक्ति रूप से प्रतीयमान होरहा है, यद्यपि वास्तव मे वह इसी समस्त ब्रह्माण्ड मे अवस्थित निर्गुण पुरुष है।

यह उत्तर भी एकदम ही प्राप्त नहीं हुआ। उसके भी विभिन्न सोपान है। इस उत्तर के सम्बन्ध मे दार्शनिको मे मतभेद है। मायावाद भारत के सभी दार्शनिको को मान्य नही है। सम्भवतः उनमे से अधिकांश दार्शनिकों ने इस मत को स्वीकार नही किया। कुछ तो द्वैतवादी है—उनका मत द्वैतवाद है—निश्चय ही उनका यह मत विशेष उन्नत तथा मार्जित नहीं है। वे इस प्रश्न की जिज्ञासा ही नही होने देगे–वे इस प्रश्न के उत्पन्न होते ही इसे दबा देते है। वे कहते है–"तुमको इस प्रश्न के पूछने का अधिकार नही है–क्यो इस तरह हुआ, इसकी व्याख्या पूछने का तुम्हे कुछ भी अधिकार नही। वह तो ईश्वर की इच्छा है—हमें शान्त भाव से उसे सहन करना होगा। जीवात्मा को कुछ भी स्वाधीनता नही है। सब कुछ पहलें से ही निर्दिष्ट है—हम क्या करेगे, हमे क्या क्या अधिकार है, हम क्या–क्या सुख–दु:ख भोगेगे, सभी कुछ पहले से ही निर्दिष्ट है। हमारा कर्तव्य है–धैर्य से उन सभो का भोग करते जाना। यदि हम ऐसा न करे तो और भी अधिक कष्ट पायेगे। किस तरह से हमने इसको जाना है?—क्योकि वेद ऐसा कहते है।" वे भी वेद के श्लोक उद्धृत करते है, उनके मत-सम्मत वेद का अर्थ भी है; वे इन सभों को प्रमाण कह कर सभी को उन्हे मानने के लिए कहते है और तदनुसार चलने का उपदेश देते है।

फिर अनेक ऐसे भी दार्शनिक है जो मायावाद स्वीकार नही करते, पर उनका मत मायावाद और द्वैतवाद के बीच का है। वे है परिणामवादी। वे कहते है, जीवात्मा की उन्नति तथा अवनति—विभिन्न परिणाम ही–जगत् की प्रकृत व्याख्या है। वे रूपक भाव से वर्णन करते है कि समस्त आत्मा एक बार सकोच को और फिर विकास को

प्राप्त होते हैं। समस्त जगत् ही जैसे भगवान का शरीर है। ईश्वर समस्त प्रकृति एव आत्माओ के आत्मा स्वरूप है।

सृष्टि का अर्थ है ईश्वर के स्वरूप का विकास–कुछ समय तक यह विकास जारी रहकर फिर संकुचित होने लगता है। प्रत्येक जीवात्मा के लिए इस सकोच का कारण है—असत् कर्म। मनुष्य के असत् कर्म करने से उसकी आत्मा की शक्ति क्रमशः सकुचित होने लगती है—जितने दिनो तक वह सत्कर्म आरभ नही करता। तब फिर उसका विकास होने लगता है। इन भारतीय विभिन्न मतो मे—एव मेरे विचार मे, जान मे या अनजान मे जगत् के सभी मतो मे—एक साधारण भाव दिखाई देता है. मै उसे "मनुष्य का देवत्व" या ईश्वरत्व कहना चाहता हूँ। जगत् मे ऐसा कोई मत नहीं है, प्रकृत धर्म नाम के उपयुक्त ऐसा कोई धर्म नहीं है जो किसी न किसी तरह पौराणिक या रूपक भाव से ही हो अथवा दर्शनो की परिमार्जित स्पष्ट भाषा मे हो, यह भाव प्रकाशित न करता हो कि जीवात्मा जो कुछ भी हो, अथवा ईश्वर के साथ उसका जो भी सम्बन्ध हो, वह स्वरूपतः शुद्ध स्वभाव एव पूर्ण है। पूर्णानन्द और ऐश्वर्य उसके प्रकृतिगत हैं; दुःख या अनैश्वर्य उसकी प्रकृति नही है। यही दुःख किसी रूप मे उसमे आगया है। सभी अमार्जित मतो मे इस अशुभ के व्यक्तित्व (Personified Evil) की कल्पना कर शैतान या अहीमन को इन अशुभो का सृष्टिकर्ता कहकर अशुभो के अस्तित्व की व्याख्या की जा सकती है।

दूसरे मतो के अनुसार एक ही आधार मे ईश्वर और शैतान दोनों का भाव आरोपित किया जा सकता है, एव किसी प्रकार की

१९

युक्ति दिए बिना ही वे कहते है कि वह चाहे जिसे सुखी या दुखी करता है। फिर कुछ अधिक चिन्ताशील व्यक्तिगण मायावाद आदि के द्वारा अशुभ की व्याख्या करने की चेष्टा कर सकते हैं। किन्तु एक विषय सभी मतो मे अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रकाशित है और वह है हमारा प्रस्तावित विषय—आत्मा का मुक्त स्वभाव। ये सभी दार्शनिक मत और प्रणालियाँ केवल मन के व्यायाम और बुद्धि की कसरत मात्र हैं। एक महान उज्ज्वल धारणा है—जो मुझे विशेष स्पष्ट प्रतीत होती है, एवं जो सभी देश तथा धर्म के कुसंस्कारो के बीच प्रकाश पाती है, और वह यही है कि मनुष्य देवस्वभाव है,—देवभाव ही हमारा स्वभाव है, हम ब्रह्मस्वरूप हैं।

वेदान्त कहता है, और जो अन्य कुछ है, वह उसका उपाधि-स्वरूप मात्र है। कुछ मानो उसके ऊपर आरोपित हुआ है, किन्तु उसके देवस्वभाव का किसी से भी विनाश नहीं होता। वह जैसा अतिशय साधुप्रकृति व्यक्ति मे है, वैसा ही एक बडे पतित व्यक्ति में भी वर्तमान है। इस देवस्वभाव को जगाना पडेगा, तभी उसका कार्य होगा। हमे उसका आह्वान करना होगा, तभी वह प्रकाशित होगा। पुराने लोग समझते थे, चकमक पत्थर में आग रहती है, उसी आग को बाहर निकालने के लिये केवल इस्पात का घर्षण आवश्यक है। आग सूखी लकडी के दो टुकड़ों मे वास करती है, घर्षण केवल उसे प्रकाशित करने के लिये आवश्यक है। अतएव यह अग्नि—यह स्वाभाविक मुक्तभाव और पवित्रता प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है, आत्मा का गुण नही, क्योंकि गुण तो उपार्जित किया जा सकता है, अतएव वह फिर नष्ट भी हो सकता है। मुक्ति या मुक्त स्वभाव कहकर जो

समझा जाता है, आत्मा कहने से भी उसी का बोध होता है—इस प्रकार सत्ता या अस्तित्व एवं ज्ञान भी आत्मा का स्वरूप है—आत्मा के साथ अभिन्न है। यह सत् चित् आनन्द आत्मा का स्वभाव है, आत्मा का जन्मजात अधिकार स्वरूप है, हम जो इन सभी अभिव्यक्तियों को देखते है, वे आत्मा के स्वरूप के विभिन्न प्रकार मात्र हैं—वह किसी समय अपने को मृदुभाव से और किसी समय उज्ज्वल भाव से प्रकाशित करती है। यहाँ तक कि मृत्यु अथवा विनाश भी उसी प्रकृत सत्ता का प्रकाश मात्र है। जन्म-मृत्यु, क्षय-वृद्धि, उन्नति-अवनति, सभी उस एक अखण्ड सत्ता के विभिन्न प्रकाशमात्र हैं। इसी प्रकार हमारा साधारण ज्ञान भी, वह चाहे विद्या अथवा अविद्या किसी भी रूप से प्रकाशित क्यो न हो, उसी चित् का, उसी ज्ञान स्वरूप का प्रकाश है; उसकी विभिन्नता प्रकारगत नही है, अपितु परिमाण-गत है। छोटे कीड़े जो तुम्हारे पैर के पास घूमते हैं, उनके ज्ञान में और स्वर्ग के श्रेष्ठतम देवता के ज्ञान मे भिन्नता प्रकारगत नहीं है, किन्तु परिमाणगत है। इसी कारण वेदान्ती मनीषी निर्भय होकर कहते है कि हम अपने जीवन मे जो सब सुखोपभोग करते हैं, यहाँ तक कि अतिघृणित आनन्द भी – वे आत्मा के ही स्वरूपभूत, उसी एक ब्रह्मानन्द के प्रकाश है।

यही भाव वेदान्त का सर्वप्रधान भाव ज्ञात होता है, और जैसा मैंने पहले ही कहा है, मुझे मालूम होता है कि सभी धर्मों का यही मत है। मै इस प्रकार का कोई धर्म नहीं जानता, जिसके मूल मे यह मत नहीं है। सभी धर्मों के भीतर यह सार्वभौमिक भाव रहा है। उदाहरण के तौर पर बाइबिल की कथा ले लीजिए—उसमें

रूपक के ढंग से कथा वर्णित है,—आदि मानव आदम अत्यन्त पवित्र स्वभाव के थे, अन्त मे उनके असत्कार्यों से उनकी पवित्रता नष्ट हुई। इस रूपक से यह प्रमाणित होता है कि इस ग्रन्थ के लेखक विश्वास करते थे कि आदिम मानव का (अथवा वे उसका अन्य किसी भी भाव से वर्णन क्यो न करे) या प्रकृत मानव का स्वरूप आदि से ही पूर्ण था। हमें जो तरह तरह की दुर्बलताये अथवा अपवित्रता दिखाई देती है, वह सब उसके ऊपर आरोपित आवरण या उपाधि मात्र है, एवं उसी धर्म का परवर्ती इतिहास यह बतलाता है कि उसके अनुयायी केवल उसी पूर्व अवस्था को पुनः प्राप्त करने की सम्भावना मे ही नहीं, वरन् उसकी निश्चितता में भी विश्वास करते है। यही समस्त बाइबिल का—प्राचीन तथा नवीन टेस्टामेण्ट का—इतिहास है।

मुसलमानों के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही है। वे भी आदम तथा उसकी जन्मजात पवित्रता पर विश्वास करते है। और उनकी यह धारणा है कि हज़रत मुहम्मद के आगमन से उस लुप्त पवित्रता के पुनरुद्धार का उपाय प्राप्त हो चुका है।

बौद्धो के विषय मे भी यही है। वे भी निर्वाण नामक अवस्था-विशेष पर विश्वास रखते है। यह अवस्था द्वैत जगत् से अतीत अवस्था है। वेदान्ती लोग जिसे ब्रह्म कहते है, यह निर्वाण अवस्था भी ठीक वही है। और बौद्ध धर्म के सम्पूर्ण उपदेश का यही धर्म है कि उस विनष्ट निर्वाण अवस्था को फिरसे प्राप्त करना होगा।

इस तरह देखा जाता है कि सभी धर्मो में यही एक तत्व पाया जाता है कि जो तुम्हारा नहीं है उसे तुम कभी नहीं पा सकते। इस

विश्वब्रह्माण्ड मे तुम किसी के भी निकट ऋणी नही हो। तुम्हे अपना जन्मप्राप्त अधिकार ही प्राप्त करना है। एक प्रसिद्ध वेदान्ताचार्य ने यही भाव अपने किसी ग्रन्थ के नाम में ही बड़े सुन्दर भाव से प्रकट किया है। ग्रन्थ का नाम है 'स्वराज्यसिद्धि' अर्थात् हमारा अपना राज्य, जो खो गया था, उसकी पुनःप्राप्ति। वही राज्य हमारा है, हमने उसे खो दिया है, फिर हमे उसे प्राप्त करना होगा। किन्तु मायावादी कहते है—यह राज्यनाश केवल हमारा भ्रम मात्र है, हमारे राज्य का नाश तो कभी हुआ ही नही—बस यही दोनों मे भेद है।

यद्यपि इस विषय में कि हमारा जो राज्य था, उसे हमने खो दिया ह, सभी धर्म-प्रणालियाँ एकमत हैं तथापि वे उसे फिर से पाने के उपाय के बारे मे विभिन्न उपदेश दिया करती है। कोई कहते है—कुछ विशिष्ट क्रियाकलाप, प्रतिमा आदि की पूजा-अर्चना करने से और स्वय कुछ विशेष नियमानुसार जीवन यापन करने से वह स्वराज्य मिल सकता है। कुछ और लोग कहते हैं—यदि तुम प्रकृति से अतीत पुरुष के सम्मुख अपने को नतकर रोते रोते उसके निकट क्षमा प्रार्थना करो, तो तुम पुनश्च उस राज्य को प्राप्त कर लोगे। दूसरे कोई कहते है—यदि तुम इस पुरुष से अन्तःकरणपूर्वक प्रेम कर सको, तो तुम फिरसे इस राज्य को प्राप्त कर सकोगे। उपनिषद मे ये सभी उपदेश पाये जाते हैं। क्रमशः हम तुम्हे जितना उपनिषद् समझायेंगे, उतना ही तुम यह समझते जाओगे। किन्तु सर्वश्रेष्ट अन्तिम उपदेश यह है कि तुम्हारे रोने का कुछ भी प्रयोजन नहीं है। तुम्हारे इन क्रियाकलापो की किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है। क्या क्या करने से राज्य की पुनः प्राप्ति होगी, इस चिन्ता की तुम्हे कोई आवश्यकता

नही है, क्योकि तुम्हारा राज्य तो कभी नष्ट हुआ ही नहीं। जिसे तुमने कभी खोया ही नहीं, उसे पाने के लिये इस प्रकार की चेष्टा की आवश्यकता ही क्या? तुम स्वभावतः मुक्त हो, तुम स्वभावतः शुद्ध-स्वभाव हो। यदि तुम अपने को मुक्त समझकर भावना कर सको, तो तुम इसी मुहूर्त मे मुक्त हो जाओगे, और यदि तुम अपने को बद्ध समझकर भावना करो, तो तुम बद्ध ही रहोगे। केवल इतना ही नही; इस बार अवश्य ही जो कुछ हम कहेंगे, उसे हम अत्यन्त साहस के साथ कहेगे—यह बात मैने इन वक्तृताओं के आरम्भ करने के पूर्व ही कही थी। तुम्हे यह सुनकर इस क्षण भय हो सकता है, किन्तु तुम जितना चिन्तन करोगे, एव प्राण प्राण मे अनुभव करोगे, उतना ही देखोगे कि मेरी बात सत्य है। कारण, कल्पना करो कि मुक्त भाव तुम्हारा स्वभावसिद्ध नहीं है; तब तुम किसी भी प्रकार मुक्त नहीं हो सकोगे। कल्पना करो कि तुम मुक्त थे, इस समय किसी कारण से उस मुक्त स्वभाव को खोकर बद्ध हुए हो तो ऐसा होने पर प्रमाणित होता है कि तुम पहले से ही मुक्त नहीं थे। यदि तुम मुक्त थे तो किसने तुम्हे बद्ध किया? जो स्वतन्त्र है, वह कभी भी परतन्त्र नहीं हो सकता; और यदि हो सकता है तो प्रमाणित हुआ कि वह कभी भी स्वतन्त्र नही था—यह स्वातन्त्र्य-प्रतीति भ्रम मात्र थी।

अब तुम इन दोनों पक्षों मे कौन सा पक्ष ग्रहण करोगे? दोनो पक्षों की युक्ति-परंपरा को स्पष्ट करने पर हमें निम्नलिखित बाते दिखाई देती है। यदि कहो कि आत्मा स्वभावतः शुद्धस्वरूप एवं मुक्त है, तो अवश्यमेव यह सिद्धान्त स्थिर करना होगा कि जगत् मे ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो उसे बॉध सके। किन्तु जगत् में यदि इस

प्रकार की कोई वस्तु हो, जिससे उसे बद्ध किया जा सके, तो अवश्य यह कहना होगा कि आत्मा मुक्तस्वभाव थी ही नही, अतएव तुमने उसे जो मुक्तस्वभाव कहा था वह तुम्हारा भ्रम मात्र है। अतएव तुम्हे यह सिद्धान्त अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि आत्मा स्वभाव से ही मुक्तस्वरूप है। इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही नही सकती। मुक्त-स्वभाव का अर्थ है—किसी बाह्य वस्तु के अधीन न होना—अर्थात् उसके अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु उसके ऊपर हेतु रूप मे कोई कार्य नहीं कर सकती।

आत्मा कार्य-कारण-सम्बन्ध से अतीत है, और इसीसे आत्मा के सम्बन्ध मे हमारी उच्च उच्च धारणाये उत्पन्न होती है। यदि यह अस्वीकार किया जाय कि आत्मा स्वभावत: मुक्त है अर्थात् बाहर की कोई भी वस्तु उसके ऊपर कार्य नही कर सकती तो आत्मा के अमरत्व की कोई धारणा प्रस्थापित नहीं की जा सकती। क्योंकि, मृत्यु हमारे बहि:स्थित किसी वस्तु के द्वारा किया हुआ कार्य है। इससे ज्ञात होता है कि हमारे शरीर के ऊपर बाहरी कोई दूसरा पदार्थ कार्य कर सकता है, मानलो मैंने थोड़ा सा विष खाया, उससे मेरी मृत्यु हुई—इससे जाना जाता है कि हमारे शरीर के ऊपर विष नामक बाहरी कोई पदार्थ कार्य कर सकता है। यदि आत्मा के सम्बन्ध में यह सत्य हो, तो आत्मा भी बद्ध है। किन्तु यदि यह सत्य है कि आत्मा मुक्तस्वभाव है, तो यह भी स्वभावत. ज्ञात होता है कि बाहरी कोई भी पदार्थ उसके ऊपर कार्य नहीं कर सकता है और न कर ही सकेगा। ऐसा होने पर आत्मा कभी मर नही सकती, एवं आत्मा कार्य-कारण-सम्बन्ध से अतीत भी होगी। आत्मा का मुक्त स्वभाव, उसका अमरत्व एवं

उसका आनन्द स्वभाव, सभी इस बात के ऊपर निर्भर है कि आत्मा कार्य-कारण–सम्बन्ध एवं इस माया से अतीत है। अब यदि इस समय तुम कहो कि आत्मा का स्वभाव पहले पूर्ण मुक्त था, इस समय वह बद्ध हो गई है, तो इससे यही जाना जाता है कि वस्तुतः वह मुक्त-स्वभाव थी ही नहीं। तुम जो कहते हो कि वह मुक्तस्वभाव थी, वह असत्य है। किन्तु दूसरी ओर हम देखते है कि हम वास्तविक मुक्त-स्वभाव है; यह जो हम बद्ध हुए है ऐसा ज्ञात हो रहा है यह हमारी केवल भ्रान्ति है। अब इन दोनों पक्षों में कौन सा पक्ष लोगे? या तो पहले पक्ष को भ्रान्ति कहो या दूसरे पक्ष को भ्रान्ति कह कर स्वीकार करो। मैं तो निश्चय ही द्वितीय पक्ष को भ्रान्ति कहूँगा। यही हमारे समुदय भाव और अनुभूति के साथ संगत है। मै अच्छी तरह जानता हूँ कि मैं स्वभावतः मुक्त हूँ। बद्ध भाव सत्य एवं मुक्त भाव भ्रमात्मक हो, यह ठीक नहीं।

सभी दर्शनों मे स्थूल भाव से यही विचार चलता है। यहाँ तक देखा जाता है कि अत्यन्त आधुनिक दर्शन मे भी यह विचार प्रविष्ट हुआ है। इस सम्बन्ध में दो दल है; एक दल कहता है, आत्मा नामक कोई वस्तु नही है, वह तो केवल भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति का कारण सभी जडकणों का वारंबार स्थान-परिवर्तन है; यह समवाय— जिसे तुम शरीर, मस्तिष्क आदि नामों से पुकारते हो, उसी के स्पन्दन से, उसी की गतिविशेष से एवं उसके सभी अंशों के लगातार स्थान-परिवर्तन से यह मुक्त स्वभाव की धारणा आती है। कुछ बौद्ध सम्प्रदाय भी थे, उनका कहना था कि एक मशाल लो, और उसे चारों ओर लगातार ज़ोर से घुमाओ, तो एक वर्तुलाकार प्रकाश दिखाई पड़ेगा। वस्तुतः इस गोलाकार प्रकाश का कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि यह

मशाल प्रत्येक क्षण में स्थान-परिवर्तन करती है। उसी तरह हम भी छोटे छोटे परमाणुओ की समष्टि मात्र हैं, उन परमाणुओं के ज़ोर से घूमने से यह 'अहं' भ्रान्ति उत्पन्न होती है। अतएव एक मत यह हुआ कि शरीर सत्य है, आत्मा का कोई अस्तित्व ही नहीं है। दूसरा मत यह है कि चिन्ताशक्ति के द्रुत स्पन्दन से जड़ रूप एक भ्रान्ति की उत्पत्ति होती है, वस्तुतः जड का कोई अस्तित्व ही नहीं है। यह तर्क आज तक चल रहा है,—एक दल कहता है—आत्मा भ्रम मात्र है, दूसरा इसी तरह जड़ को भ्रम कहता है। तुम कौन सा मत लोगे?

हम तो निश्चय ही आत्मास्तित्ववाद को स्वीकार कर जड़ को भ्रमात्मक कहेंगे। युक्ति दोनों ओर बराबर है, केवल आत्मा के निरपेक्ष अस्तित्व की ओर वाली युक्ति अपेक्षाकृत प्रबल है; क्योंकि जड़ क्या है इसे किसी ने कभी देखा नहीं। हम केवल स्वयं को ही अनुभव कर सकते है, मैंने ऐसा मनुष्य नही देखा, जिसने स्वय के बाहर जाकर जड का अनुभव किया हो। कोई कभी कूद कर अपनी आत्मा के बाहर नही जा सकता। अतएव आत्मा के पक्ष मे यह एक दृढ़तर युक्ति हुई। द्वितीयतः आत्मवाद जगत् की सुन्दर व्याख्या हो सकता है, किन्तु जड़वाद नहीं। अतएव जड़वाद के द्वारा जगत् की व्याख्या अयौक्तिक है।

पहले जो आत्मा के स्वाभाविक मुक्त और बद्ध भाव सम्बन्धी विचार का प्रसग उठा था, जड़वाद और आत्मवाद का तर्क उसी का केवल स्थूल भाव है। दर्शनसमूह का सूक्ष्म भाव मे विश्लेपण करने पर तुम देखोगे कि उनमे भी इन दोनों मतों का संघर्प है। अति आधुनिक दर्शनसमूह में भी हम किसी दूसरे रूप मे उसी प्राचीन

विचार को ही देखते हैं। एक दल कहता है--मनुष्य का तथाकथित पवित्र और मुक्त स्वभाव भ्रम मात्र है—दूसरे इसी प्रकार बद्धभाव को ही भ्रमात्मक कहते हैं। इस जगह भी हम दूसरे दल के साथ ही सहमत है—हमारा बद्धभाव ही भ्रमात्मक है।

अतएव वेदान्त का सिद्धान्त यह है कि हम बद्ध नहीं है, अपितु नित्यमुक्त है। इतना ही नहीं बल्कि यह सोचना भी कि हम बद्ध है, अनिष्टकर है, भ्रम है, अपने आपको मोह मे डालकर अभिभूत करना है। जहॉ तुमने कहा कि मै बद्ध हूँ, दुर्बल हूँ, असहाय हूॅ, तभी तुम्हारा दुर्भाग्य आरम्भ होगया, तुमने अपने पैरो मे और एक शृखला डाल ली। इसलिये ऐसी बात कभी न कहना और न इस प्रकार कभी सोचना ही। मैने एक आदमी की कहानी सुनी है; वह वन मे रहता था, एवं दिनरात 'शिवोऽहं, शिवोऽहं' उच्चारण करता था। एक दिन एक बाघ ने उसके ऊपर आक्रमण किया और उसे पकड़कर ले चला। नदी के दूसरे तट पर कुछ लोग यह सब दृश्य देख रहे थे। परन्तु उस व्यक्ति की 'शिवोऽहं, शिवोऽहं' की ध्वनि लगातार जारी थी। जितनी देर तक उसमे बोलने की शक्ति थी, बाघ के मुख मे पड़कर भी वह 'शिवोऽहं, शिवोऽहं' कहता ही रहा, चुप नही हुआ। इस प्रकार और भी अनेक व्यक्तियों की बात सुनी गई है। कई व्यक्तियों के शत्रुओं ने उनके टुकडे टुकडे कर डाले, परन्तु वे उन्हे आशीर्वाद ही देते रहे। 'सोऽहं सोऽहं, मै ही वह, मै ही वह, तुम भी वही'। मै निश्चित पूर्णस्वरूप हूॅ, मेरे सभी शत्रु भी पूर्णस्वरूप है। तुम भी वही हो, और मै भी वही हूॅ। यही वीर की बात है।

फिर भी द्वैतवादियों के धर्म मे भी अनेक अपूर्व उत्तम उत्तम भाव है—प्रकृति से पृथक् हमारे उपास्य और प्रेमास्पद सगुण ईश्वर हैं—ऐसा सगुण ईश्वरवाद अत्यन्त अपूर्व है। अनेक समय इससे प्राण शीतल होजाता है—किन्तु वेदान्त कहता है, प्राण की यह शीतलता अफीम खानेवालो की नशा के समान अस्वाभाविक है। और इससे दुर्बलता आती है और जगत् में पहले बलसंचार की जितनी आवश्यकता नही थी, आज जगत् मे उसी बलसंचार—शक्तिसंचार की उतनी ही अधिक आवश्यकता है। वेदान्त कहता है—दुर्बलता ही संसार में समस्त दुःख का कारण है, इसीसे सारे दुःख-भोग पैदा होते है। हम दुर्बल है इसीलिये इतने दुःख को भोगते हैं। हम दुर्बलता के कारण ही चोरी-डकैती, झूठ-ठगी तथा इसी प्रकार के अनेकानेक अन्य दुष्कर्म करते हैं। दुर्बल होने के कारण ही हम मृत्यु के मुख मे गिरते है। जहॉ हमे दुर्बल बनाने वाला कोई नहीं है, वहॉ मृत्यु अथवा दूसरा किसी प्रकार का दुःख नही रह सकता। हम लोग केवल भ्रान्तिवश ही दुःख भोगते है। इस भ्रान्ति को उन्मूलित करो, सभी दुःख चले जायेंगे। यह तो बहुत सरल बात है। इन सभी दार्शनिक विचारो और कठोर मानसिक व्यायाम के भीतर से होकर हम समस्त ससार के सर्वापेक्षा सहज एव सरल आध्यात्मिक सिद्धान्त पर पहुँच जायेंगे।

अद्वैत वेदान्त जिस रूप मे आध्यात्मिक सिद्धान्त स्थापित करता है, वही सबसे अधिक सहज तथा सरल है। भारत तथा अन्य सभी स्थानो मे इस विषय मे एक बड़ा भ्रम उत्पन्न हुआ था। वेदान्त के आचार्यों ने स्थिर किया था कि यह शिक्षा सार्वजनीन नहीं बनाई

जा सकती, कारण वे जिन सिद्धान्तों पर पहुँचे थे उन्हे लक्ष्य न कर उन्होंने उस प्रणाली पर ही अधिक ध्यान दिया जिसके द्वारा वे इन सब सिद्धान्तों तक पहुँचे थे—और वह प्रणाली सचमुच बड़ी जटिल थी। उस भयानक दार्शनिक तथा उन नैयायिक प्रक्रियाओं को देखकर वे भय पाते थे। वे सर्वदा सोचते थे, कि इन सभों की शिक्षा प्रतिदिन के कर्मजीवन मे नहीं दी जा सकती, और इस प्रकार के दर्शन की आड़ मे लोग अतिशय अधर्मपरायण हो जायेंगे।

किन्तु मैं तो यह बिलकुल विश्वास ही नहीं करता कि संसार में अद्वैत तत्त्व के प्रचार से दुर्नीति या दुर्बलता की उत्पत्ति होगी। अपितु मुझे इस बात पर अधिक विश्वास है कि दुर्नीति और दुर्बलता के निवारण की वही एक मात्र औषधि है। यही यदि सत्य है, तो जब कि पास ही मे अमृत-स्रोत बहता है, तो लोगों को कीचड़ का जल क्यों पीने देते हो? यदि यही सत्य है, कि सभी शुद्धस्वरूप है तो इसी मुहूर्त सब संसार को यह शिक्षा क्यो नहीं देते? साधु-असाधु, स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका, छोटे-बड़े, सभी को डंके की चोट पर यह शिक्षा क्यो नहीं देते? जिस किसी व्यक्ति ने संसार में देह धारण की है, जो कोई देह धारण करेगा, जो व्यक्ति सिंहासन पर बैठा हुआ है अथवा रास्ते मे झाड़ू लगा रहा है, जो धनी है, जो निर्धन है, उन सभीको यह शिक्षा क्यों नही देते? मै राजाओं का भी राजा हूँ, मुझसे बढ़कर बडा राजा कोई नहीं है। मै देवताओं का भी देवता हूँ, मुझसे बढ़कर कोई देवता नही है।

इस समय यह बहुत कठिन कार्य मालूम पड़ता है, बहुतों को तो यह विस्मयजनक ज्ञात होता है, किन्तु यह सब कुसंस्कार के ही

कारण है, इसका और दूसरा कोई कारण नही। सभी प्रकार के कदन्न और दुष्पाच्य खाद्य खाकर और निरन्तर उपवास करके हमने अपने को सुखाद्य खाने के अनुपयुक्त कर रखा है। हमने बचपन से ही दुर्बलता की बाते सुनी है। यह दुर्बलता भूत मे विश्वास करने के समान ही है। लोग सर्वदा कहते हैं कि मै भूत को नही मानता —किन्तु ऐसे बहुत कम लोग मिलेगे, जिनका शरीर अन्धेरे मे थोड़ा कम्पित न हो जाय। यह केवल कुसंस्कार है। ठीक इसी तरह लोग कहा करते है कि हम इसे नही मानते, उसे नहीं मानते इत्यादि— किन्तु समय आने पर अवस्थाविशेष मे अनेक व्यक्ति मन ही मन कहने लगते है, यदि कोई देवता या ईश्वर हो तो मेरी रक्षा करे। वेदान्त से यही एक प्रधान तत्त्व मिलता है, और एक मात्र यही सनातनत्व का दावा कर सकता है।

वेदान्त ग्रन्थ कल ही नष्ट हो सकते है। यह तत्त्व चाहे पहले हिन्दुओ के मस्तिष्क मे उदित हुआ हो या उत्तर मेरु के निवासियो के मस्तिष्क मे, इससे कोई प्रयोजन नही; किन्तु यह सत्य है, और जो सत्य है वह सनातन है, तथा सत्य हमे यही शिक्षा देता है कि वह किसी व्यक्तिविशेष की सम्पत्ति नहीं है। मनुष्य, पशु, देवता, ये सभी इस एक सत्य के अधिकारी हैं। उन्हे यही सिखाओ, जीवन को दु:खमय बनाने की क्या आवश्यकता है? लोगो को अनेक प्रकार के कुसंस्कारो मे क्यो पड़ने देते हो? केवल यहाँ (इंग्लैण्ड मे) ही नही, इस तत्त्व की जन्मभूमि मे भी तुम यदि इस तत्त्व का उपदेश करो, तो वहाँ के लोग भी भयभीत होंगे। और कहेगे—ये बाते तो संन्यासियो के लिये हैं जो संसार को त्याग कर जंगल मे निवास

करते हैं। किन्तु हम लोग तो सामान्य गृहस्थ हैं; धर्म करने के लिये हमें किसी न किसी प्रकार के भय या क्रियाकाण्ड की आवश्यकता रहती ही है, इत्यादि।

द्वैतवाद ने संसार पर बहुत दिनों तक शासन किया है, और यह उसीका फल है। अच्छा, एक नई परीक्षा क्यों न करो? संभव है, सभी मनुष्यों को ऐसी धारणा करने मे लाखों वर्ष लग जायँ, किन्तु इसी समय इसे क्यों न आरम्भ कर दो? यदि हम अपने जीवन मे बीस मनुष्यों को भी यह बात बतला सकें, तो समझो कि हमने बहुत बड़ा काम किया।

भारतवर्ष मे और एक बड़ी शिक्षा प्रचलित है, जो पूर्वोक्त तत्व-प्रचार की विरोधी मालूम होती है। वह शिक्षा यह है कि—'मै शुद्ध हूँ, आनन्द स्वरूप हूँ,' इस प्रकार मौखिक कहना तो ठीक है, किन्तु जीवन में तो हम इसे सर्वदा नहीं दिखला सकते। मै इस बात को मानता हूँ आदर्श सभी समय अत्यन्त कठिन होता है। प्रत्येक बालक आकाश को अपने सिर से बहुत ऊँचाई पर देखता है, किन्तु उस कारण से क्या हम आकाश की ओर देखने की चेष्टा भी न करे? कुसंस्कार की ओर जाने से क्या सब अच्छा होजायगा? यदि अमृत का लाभ न कर सके तो क्या विषपान करने से ही कल्याण होगा? हम इसी समय सत्य का अनुभव नहीं कर सकते, इसलिये अन्धकार, दुर्बलता और कुसंस्कार की ओर जाने स ही क्या कल्याण होगा?

विभिन्न प्रकार के द्वैतवाद के सम्बन्ध में हमें कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु जो कोई उपदेश दुर्बलता की शिक्षा देता है, उसी पर हमें

विशेष आपत्ति है। स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका, जिस समय दैहिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक शिक्षा पाते है, उस समय मै उनसे एक मात्र यही प्रश्न करता हूँ—"क्या तुम इससे बल पाते हो?" क्योंकि मैं जानता हूँ एकमात्र सत्य ही बल प्रदान करता है। मैं जानता हूँ, सत्य ही एकमात्र प्राणप्रद है। सत्य की ओर गये बिना हम किसीसे भी वीर्यलाभ नहीं कर सकते और वीर हुए बिना सत्य के समीप भी नहीं पहुँच सकते। इसी हेतु जो कोई मत, जो शिक्षाप्रणालियाँ मन और मस्तिष्क को दुर्बल कर दें और मनुष्य को कुसस्काराविष्ट कर डाले, जिनसे मनुष्य अन्धकार मे टटोलता रहे, जिनसे मनुष्य सदैव ही सब प्रकार के विकृतमस्तिष्क-प्रसूत असंभव, अजीब और कुसंस्कारपूर्ण विषयो के अन्वेषण में लग जाय, मै उन सब प्रणालियों को पसन्द नही करता, क्योकि मनुष्यो के ऊपर उन सब का परिणाम बड़ा भयानक होता है, और उनसे कुछ भी उपकार नहीं होता, वे सब व्यर्थ है।

जो इन बातों से अभिज्ञ है, वे हमारे साथ इस विषय मे एक-मत होंगे कि ये सब मनुष्य को विकृत और दुर्बल बना डालती हैं—इतना दुर्बल कि क्रमशः उसके लिए सत्यलाभ करना और उस सत्य के आलोक मे चलकर जीवन यापन करना एक प्रकार से असभव हो जाता है। अतएव हमारे लिये आवश्यक है एक मात्र बल या शक्ति मे शक्ति-संचार ही इस भव-व्याधि की एकमात्र महौषधि है। धनहीन व्यक्ति जब धनियो द्वारा पददलित होते है, उस समय शक्तिसंचार ही उनेक लिये एक मात्र औषधि है। जब मूर्ख विद्वानों द्वारा उत्पीडित होता है उस समय भी बल ही एक मात्र औषधि है। और जिस समय पापिगण अन्य पापियो से उत्पीड़ित होते हैं, उस समय भी यही

एकमात्र अव्यर्थ महौषधि है। और अद्वैतवाद जिस प्रकार का बल और जैसी शक्ति देता है, उस प्रकार का बल और शक्ति किसी से भी नहीं मिल सकती। अद्वैतवाद हमे जिस प्रकार नीति-परायण बनाता है, उस प्रकार कोई भी हमे नीति-परायण नही बना सकता। जिस समय समस्त दायित्व हमारे कन्धों पर आ पड़ता है, उस समय हम जितने उच्च भाव से कार्य कर पाते है, उतना और किसी भी अवस्था मे उस तरह नहीं कर पाते।

मै तुम लोगों से यह पूछना चाहता हूँ कि यदि एक नन्हे बच्चे को तुम्हारे हाथ सौप दूँ तो तुम उसके प्रति कैसा व्यवहार करोगे? उस क्षण के लिए तुम लोगो का जीवन बदल जायगा। तुम्हारा स्वभाव किसी भी प्रकार का क्यों न हो, अन्तत. उन क्षणो के लिए तुम सम्पूर्ण निःस्वार्थी बन जाओगे। यदि तुम्हे उत्तरदायी बनाया जाय तो तुम्हारी सारी पापप्रवृत्तियाँ दूर हो जायँगी, तुम्हारे चरित्र मे परिवर्तन हो जायगा। इस प्रकार जब सारे उत्तरदायित्व का बोझ हम पर पड़ता है तभी हम अपने सर्वोच्च भाव मे आरोहण करते है। जब हमारे सारे दोष और किसीके मत्थे नही मढे जाते, जब शैतान या भगवान किसी को भी हम अपने दोषों के लिए उत्तरदायी नहीं समझते तभी हम सर्वोच्च भाव मे पहुँच जाते है। अपने भाग्य के लिए मै स्वय ही उत्तरदायी हूँ। मै स्वयं ही शुभाशुभ दोनो का कर्ता हूँ। किन्तु मेरा स्वरूप शुद्ध तथा आनन्द मात्र है।

न मृत्युर्न शंका न मे जातिभेद:
पिता नैव मे नैव माता न जन्म।

न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्य-
श्चिदानंदरूप' शिवोऽह शिवोऽहम् ॥
न पुण्यं न पापं न सौख्य न दुःखम्
न मत्रं न तीर्थं न वेदार्न यज्ञाः ।
अहं भोजनं नैव भोज्य न भोक्ता
चिदानन्दरूप. शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥

वेदान्त कहता है कि साधारण मनुष्य के लिए यह सत्य ही एक मात्र अवलम्बनीय है । उस अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचने के लिए यही एक मात्र उपाय है—सभों से यही कहना है कि हमी वह है । बार बार ऐसा कहने से बल आयेगा । 'शिवोऽहं' रूपी यह अभय-वाणी क्रमशः अधिकाधिक पुष्ट होकर हमारे हृदय मे, हमारे सभी भावो मे भिद जायगी, अन्त मे हमारी नस-नस मे, शरीर के प्रत्येक भाग मे यह समा जायगी । ज्ञानसूर्य की किरणे जितनी अधिक उज्ज्वल होने लगती है, मोह उतना ही दूर भाग जाता है, अज्ञानराशि ध्वंस होती है और धीरे धीरे एक समय ऐसा आता है जब कि सारा अज्ञान बिलकुल लुप्त हो जाता है एवं एकमात्र ज्ञानसूर्य ही अवशिष्ट रह जाता है । अवश्य ही अनेको को यह वेदान्त-तत्व भयानक मालूम हो सकता है, किन्तु उसका कारण कुसंस्कार है, यह मैने पहले ही कहा है । इसी देश मे (इग्लैड मे) ऐसे बहुत लोग है जिनसे मै यदि कहूँ कि इस दुनिया मे शैतान नाम की कोई चीज नही है तो वे समझेगे कि धर्म का सत्यानाश होगया । अनेकों ने मुझसे कहा है कि शैतान के न रहने से धर्म किस तरह कायम रह सकता है ? उन लोगों का कहना है कि हमे परिचालित करने के लिये कोई न रहने से धर्म का क्या अर्थ है ?

शासन करने को यदि कोइ न रहे तो हम अपना जीवन किस तरह बिता सकते हैं ? सच बात तो यह है कि हमें इस प्रकार का व्यवहार अच्छा लगता है। इस भाव से रहना हमारा अभ्यास होगया है और इसीलिये हम ऐसे जीवन को पसद करते है। प्रति दिन यदि हमें किसी ने नहीं डॉटा तो हमे सुख नहीं मिलता। यह वही कुसंस्कार है। किन्तु अब यह बात कितनी ही भयानक क्यों न मालूम हो, ऐसा एक समय अवश्य ही आयेगा जब अतीत की सारी बातों का स्मरण कर, जिन कुसंस्कारों ने शुद्ध अनत आत्मा पर आच्छादन फैला दिया था, हम उन प्रत्येक की हँसी उड़ायेगे और आनन्द, सत्य व दृढता के साथ कहेगे कि मै ही 'वह' हूँ, चिरकाल वही था और सर्वदा वही रहूँगा।

---

१४. अमरत्व

(अमेरिका में दिया हुआ भाषण)

जीवात्मा के अमरत्व के सम्बन्ध मे मनुष्य ने जितनी बार प्रश्न किया है, इस तत्त्व के रहस्य का उद्‌घाटन करने के लिये उसने जगत् मे जितनी खोज की है, यह प्रश्न मनुष्य के हृदय को जितना प्रिय और उसके जितना निकट है, यह प्रश्न हमारे अस्तित्व के साथ जितना अच्छेद्य भाव से सम्बन्धित है उतना और कौनसा प्रश्न है ? यह कवियों की कल्पना का विषय रहा है, साधु, महात्मा, ज्ञानी— सभी की चिन्ता का यह विषय रहा है, सिंहासन पर बैठे हुये राजाओं ने इस पर विचार किया है, पथ के भिखारियों ने भी इसका स्वप्न देखा है। श्रेष्ठतम मानवों ने इसका उत्तर पाया है, और अतिनिकृष्ट मनुष्यो ने भी इसकी आशा की है। इस विषय मे लोगो का आग्रह अभी नष्ट नही हुआ है, और जब तक मानव प्रकृति विद्यमान है तब तक होगा भी नहीं। विभिन्न विचारक मस्तिष्कों ने इसके विभिन्न उत्तर दिये है। दूसरी ओर इतिहास के प्रत्येक युग मे हजारो व्यक्तियों ने इस प्रश्न को बिलकुल अनावश्यक कहकर छोड दिया है, फिर भी यह प्रश्न ज्यो का त्यो नवीन ही बना हुआ है। जीवन-संग्राम के शोरगुल मे हम प्राय इस प्रश्न को भूल से जाते हैं, परन्तु जब अचानक कोई मर जाता है, एक ऐसा व्यक्ति जिससे हम प्रेम करते है, जो हमारे हृदय के अति निकट और अत्यन्त प्रिय है अचानक हमसे छीन लिया जाता है तब हमारे चारों का संघर्ष और शोरगुल क्षण भर

के लिये मानो रुक जाता है, सब कुछ मानो निस्तब्ध हो जाता है और हमारी आत्मा के गंभीरतम प्रदेश से वही प्राचीन प्रश्न उठता है कि इसके बाद क्या है ? " देहान्त के बाद आत्मा की क्या गति होती है ? " समस्त मानवीय ज्ञान अनुभवजन्य है, बिना अनुभव के हम कुछ भी नही जान सकते। हमारा तर्क, हमारा ज्ञान सभी कुछ सामञ्जस्य-प्राप्त अनुभवो के ऊपर—उनके साधारण भाव (Generalisation) के ऊपर निर्भर है। हम अपने चारो ओर क्या देखते है? सतत परिवर्तन। बीज से वृक्ष बनता है और वह फिर बीजरूप मे परिणत हो जाता है। एक जीव उत्पन्न हुआ, कुछ दिन जीवित रहा, फिर मर गया, इस प्रकार मानो एक वृत्त पूरा हुआ। मनुष्य के सम्बन्ध में भी यही बात है। और तो क्या, पर्वतसमूह तक धीरे धीरे परन्तु निश्चित रूप से घिसकर चूर्ण हो रहे है। नदियाँ धीरे धीरे पर निश्चित रूप से सूखती जाती हैं, समुद्र से बादल उठते है और वर्षा करके फिर समुद्र मे ही मिल जाते है। सर्वत्र ही एक एक वृत्त पूरा हो रहा है; जन्म, वृद्धि और क्षय गणित के समान ठीक एक के बाद एक आ जा रहे है। यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है। इस सब के अन्दर, क्षुद्रतम परमाणु से आरम्भ करके उच्चतम सिद्ध पुरुष पर्यन्त लाखो प्रकार के विभिन्न नाम-रूपयुक्त वस्तुराशि के अन्दर एवं अन्तराल मे हम एक अखण्ड भाव देखते है। हम प्रति दिन ही देखते है कि वह दुर्भेद्य दीवार जो एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक् करती प्रतीत होती थी, तोडी जा रही है और आधुनिक विज्ञान समस्त भूतो को एक ही ऐसा पदार्थ मानने लगा है जो विभिन्न प्रकार से विभिन्न रूपो में अभिव्यक्त हो रहा है; वह एक प्राणशक्ति ही मानो नाना रूपो मे नाना प्रकार से प्रकाशित हो रही है—मानो वह सब को जोड़ने वाली एक शृंखला के समान है—

और ये सब विभिन्न रूप मानो इस शृंखला के ही एक एक अंश है, अनन्त रूपों मे विस्तृत किन्तु फिर भी उसी एक शृंखला के अंश है। इसी को क्रमोन्नतिवाद कहते हैं। यह एक अत्यन्त प्राचीन धारणा है, उतनी ही प्राचीन जितना कि मानव समाज। केवल मानवीय ज्ञान की वृद्धि और उन्नति के साथ साथ वह मानो हमारी आँखो के सम्मुख अधिकाधिक उज्ज्वल रूप से प्रतीत हो रही है। एक बात और है जो प्राचीन लोगो ने विशेष रूप से समझी थी, परन्तु जो आधुनिक विचारको ने अभी ठीक ठीक नहीं समझ पाई है, और वह है क्रमसंकोच। बीज का ही वृक्ष होता है, बालू के कण का नहीं। पिता ही पुत्र मे परिणत होता है, मिट्टी का ढेला नहीं। अब प्रश्न यह है कि यह क्रमविकास-प्रक्रिया आरम्भ होने से पूर्व क्या अवस्था थी? बीज पहले क्या था? वह वृक्षरूप मे था। भविष्य मे होने वाले वृक्ष की सभी सम्भावनाये बीज मे निहित हैं। छोटे बच्चे मे भावी मनुष्य की समस्त शक्ति अन्तर्निहित है। सब प्रकार का भावी जीवन ही अव्यक्त भाव से उसके बीज मे विद्यमान है। इसका तात्पर्य क्या है? भारतवर्ष के प्राचीन दार्शनिक इसीको क्रमसंकोच कहते थे। इस प्रकार हम देखते है कि प्रत्येक क्रमविकास के पहले क्रमसंकोच का होना अनिवार्य है। किसी ऐसी वस्तु का क्रमविकास नहीं हो सकता जो पूर्व से ही वर्तमान नहीं है। यहाँ पर फिर आधुनिक विज्ञान हमे सहायता देता है। गणित-शास्त्र के तर्क से आप जानते हैं कि जगत् मे दृश्यमान शक्ति का समष्टि-योग (Sum total) सदा एकसा ही रहता है। आप एक बिन्दु जड़ अथवा एक बिन्दु शक्ति को घटा या बढ़ा नहीं सकते। अतएव शून्य से कभी क्रमविकास नहीं हो सकता। तब फिर यह कहाँ से आता है? अवश्य ही इससे पूर्व के

क्रमसंकोच से। बालक क्रमसकुंचित मनुष्य है और मनुष्य क्रमविकसित बालक है। क्रमसंकुचित वृक्ष ही बीज है और क्रमविकसित बीज ही वृक्ष। सभी प्रकार के जीवन की उत्पत्ति की सम्भावना उन्ही के बीज मे है। अब यह समस्या कुछ सरल हो जाती है। अब इसी तत्त्व के साथ पूर्वोक्त समुदय जीवन की अखण्डता की आलोचना करो। क्षुद्रतम जीवाणु से लेकर पूर्णतम मानव पर्यंत वस्तुतः एक ही सत्ता है—एक ही जीवन वर्तमान है। जिस प्रकार एक ही जीवन मे हम शैशव, यौवन, वार्धक्य आदि विविध अवस्थाये देखते है उसी प्रकार शैशव अवस्था के पीछे क्या है यह देखने के लिये विपरीत दिशा मे अग्रसर होकर देखो, देखते जाओ जब तक कि तुम जीवाणु तक न पहुँच जाओ। इसी प्रकार इस जीवाणु से लेकर पूर्णतम मानव पर्यंत मानो एक ही जीवन-सूत्र विराजमान है। इसी को क्रमविकास कहते है और यह हम पहले ही देख चुके है कि प्रत्येक क्रमविकास से पूर्व ही एक क्रमसंकोच रहता है। जो जीवनी शक्ति क्षुद्रतम जीवाणु से लेकर धीरे धीरे पूर्णतम मानव अथवा पृथिवी पर आविर्भूत ईश्वरावतार रूप मे क्रमविकसित होती है वह सम्पूर्ण शक्ति अवश्य ही सूक्ष्म रूप से जीवाणु मे अवस्थित थी। यह समस्त श्रेणी उसी एक जीवन की ही अभिव्यक्ति मात्र है, और यह समुदय व्यक्त जगत् उसी एक जीवाणु मे अव्यक्त भाव से निहित था। यह समस्त जीवनी शक्ति, और तो क्या, मर्त्य लोक मे अवतीर्ण ईश्वर तक इसमे अन्तर्निहित थे। अवतार श्रेणी के मानव तक इसके अन्दर निहित थे; केवल धीरे धीरे—बहुत धीरे क्रमशः उन सब की अभिव्यक्ति हुई है। जो सर्वोच्च चरम अभिव्यक्ति है वह भी अवश्य ही बीज भाव से सूक्ष्माकार मे उसके अन्दर मौजूद थी— फिर ऐसा होने पर यह जो एक शक्ति से सभी श्रेणियाँ

या शृंखलाये आती है, वह किसका क्रमसंकोच है? यह उसी सर्वव्यापिनी जगन्मयी जीवनी शक्ति का क्रमसंकोच था, और यह जो क्षुद्रतम जीवाणु नाना प्रकार के जटिल यत्रो से युक्त उच्चतम बुद्धिशक्ति के आधाररूप मनुष्य के आकार में अभिव्यक्त हो रहा है, कौन सी वस्तु क्रमसंकुचित होकर इस जीवाणु के आकार में स्थित थी ? वह सर्वव्यापी जगन्मय चैतन्य ही है-वही उस जीवाणु मे क्रमसंकुचित होकर वर्तमान था। वह सम्पूर्ण पहले से ही पूर्ण भाव से वर्तमान था। वह थोडा थोड़ा करके वढ़ रहा था यह बात नही है। बढ़ने की बात को मन से एकदम निकाल दीजिये। वृद्धि कहने से ही मालूम होता है कि कोई वस्तु बाहर से आ रही है। वृद्धि मानने पर पूर्वोक्त गणित के सिद्धान्त को अर्थात् जगत् की शक्तिसमष्टि सर्वदा सर्वत्र समान है, इसे अस्वीकार करना होगा। इस जागतिक सर्वव्यापी चैतन्य की कभी वृद्धि नहीं होती, यह तो सदा ही पूर्ण भाव से विद्यमान था, केवल अभिव्यक्ति यहाँ पर हुई। विनाश का अर्थ क्या है? यह एक गिलास है। मैंने इसको भूमि पर फेंक दिया और वह चूर चूर हो गया। अव प्रश्न है कि गिलास क्या हुआ? वह केवल सूक्ष्म रूप मे परिणत हो गया. बस। तो विनाश का अर्थ हुआ स्थूल की सूक्ष्म भाव मे परिणति। उसके उपादानभूत परमाणु एकत्र होकर गिलास नामक कार्य मे परिणत हुए थे। वे अव अपने कारण में चले गये और इसीका नाम विनाश है अर्थात् कारण मे लय हो जाना। कार्य क्या है? कारण का व्यक्त भाव। अन्यथा कार्य और कारण मे स्वरूपत: कोई भेद नही है। फिर इसी गिलास की वात लीजिये। यह अपने उपादानो और अपने निर्माता की इच्छा के सहयोग से वना है। ये दोनों ही उसके कारण है और उसमे वर्तमान

हैं निर्माता की इच्छाशक्ति अब उसमें किस रूप मे विद्यमान है ? संहतिशक्ति (Adhesion) के रूप मे।

यह शक्ति न रहने पर इसका परमाणु अलग अलग हो जाता। तो कार्य क्या हुआ ? वह कारण के साथ अभेद है, केवल उसने एक दूसरा रूप धारण कर लिया है। जिस समय कारण निर्दिष्ट समय के लिये अथवा निर्दिष्ट स्थान के अन्दर परिणत, घनीभूत और सीमाबद्ध भाव से रहता है उस समय वही कारण कार्य कहलाता है। इस बात को हमें ध्यान में रखना चाहिये। इसी तत्त्व को हमारी जीवनसम्बन्धी जो धारणा है उसमें प्रयुक्त करने पर हम देखते हैं कि जीवाणु से लेकर पूर्णतम मानव पर्यन्त सभी श्रेणियाँ अवश्य ही उसी विश्वव्यापिनी प्राणशक्ति के साथ अभिन्न हैं। किन्तु अमृतत्व के सम्बन्ध मे जो प्रश्न था वह अभी मिटा नहीं। हमने क्या देखा ? पूर्वोक्त विचार द्वारा हमने इतना ही देखा कि जगत् का कोई पदार्थ ध्वस्त नहीं होता। नूतन कुछ भी नहीं है, होगा भी नहीं। वही एक ही प्रकार की वस्तुये पहिये के समान बार बार उपस्थित हो रही है। जगत् मे जितनी गति है वह सभी तरंग के आकार में एक बार उठती है, फिर गिरती है। कोटि कोटि ब्रह्माण्ड सूक्ष्मतर रूप से प्रसूत हो रहे है—स्थूल रूप धारण कर रहे हैं। फिर लय होकर सूक्ष्म भाव धारण कर रहे है। फिर इसी सूक्ष्मभाव से उनका स्थूल भाव में आना—कुछ दिनों तक उसी अवस्था मे रहना और फिर धीरे धीरे उसी कारण मे जाना। जाता क्या है ? केवल रूप, आकृति। वह रूप नष्ट हो जाता है किन्तु फिर आता है। एक हिसाब से समझा जाय तो यह शरीर तक अविनाशी है। एक हिसाब से सभी शरीर

और सभी रूप नित्य हैं। मान लो कि मैं पासा खेल रहा हूँ। मान लो कि ६-५-३-४ आये। मै और खेलने लगा। खेलते खेलते एक समय ऐसा अवश्य आयेगा जब ये ६-५-३-४ इसी क्रम से आयेंगे। और खेलो, फिर ये आयेंगे किन्तु देर मे। मै जगत् के प्रत्येक परमाणु की एक एक पासे से तुलना करता हूँ। उन्हीं को बार बार फेका जा रहा है, और वे बार बार नाना प्रकार से गिरते हैं। आपके सम्मुख जो समस्त पदार्थ है वे सब परमाणुओं के एक विशिष्ट प्रकार के सन्निवेश से उत्पन्न है। यह गिलास, यह मेज, यह जलघट, ये सभी वस्तुये परमाणुओं का समवायविशेष है—क्षण भर के बाद शायद यह समुदाय-विशेष नष्ट हो जा सकता है। किन्तु एक समय ऐसा अवश्य आयेगा जब ठीक यही समवाय आकर उपस्थित होगा—जब आप सब इसी तरह बैठे होगे और यह जलघट अथवा अन्य वस्तुये जो कुछ भी है वे सभी यथास्थान रहेगी और ठीक इसी विषय की आलोचना होगी। अनन्त बार इसी प्रकार हुआ है और अनन्त बार इसी प्रकार होगा। यहाँ तक हमने स्थूल जगत् की—बाह्य वस्तुओं की आलोचना की। हमने क्या देखा? यही कि इन भौतिक पदार्थसमूहों की विभिन्न समवाय मे पुनरावृत्ति अनन्त काल तक होती रहती है।

इसके साथ ही साथ और एक प्रश्न उठ खडा होता है—भविष्य को जानना सम्भव है या नहीं। आप लोगों ने शायद ऐसे आदमी को देखा है जो मनुष्य के अतीत व भविष्य की सारी बाते बतला देता है। यदि भविष्य किसी नियम के अधीन न हो तो किस प्रकार भविष्य के सम्बन्ध में हम कह सकते है? परन्तु हमने पहले ही देखा है कि भविष्य मे बीती घटनाओ की ही पुनरावृत्ति होती है। जो भी हो

इससे आत्मा का कुछ बनता बिगड़ता नहीं। हिण्डोले की बात याद करो। वह लगातार घूमता रहता है। कई आदमी आते है और उसके एक एक पालने में बैठ जाते है। झूला घूमकर फिर पलट आता है।' वे जब उतर गये तो दूसरा एक दल आ बैठा। क्षुद्रतम जन्तु से लेकर उच्चतम मानव तक प्रकृति का प्रत्येक रूप ही मानो ऐसे एक एक दल हैं, और प्रकृति एक बड़ा झूला है तथा प्रत्येक शरीर या रूप इस झूले के एक एक पालना जैसा है। नई आत्माओं का एक एक दल उन पर चढ रहा है और जब तक उनको पूर्णता प्राप्त नहीं होती तब तक अधिकाधिक उच्च पथ मे उनकी गति है और अन्त में झूले से वे बाहर आती है किन्तु झूला निरन्तर चलता रहता है—हमेशा दूसरे लोगों को ग्रहण करने के लिए तैयार है। एवं जब तक शरीर इस चक्र के भीतर, इस झूले के भीतर अवस्थित है तब तक निश्चित रूप से तथा गणित के हिसाब से ये बातें बतला दी जा सकती है कि अब वह किस ओर जायगा। किन्तु आत्मा के बारे मे ये सब बाते नही कही जासकती। अतएव प्रकृति के भूत तथा भविष्य निश्चित रूप से गणित की तरह ठीक ठीक बतलाना असम्भव नहीं है। अब हमने देखा है कि जड परमाणु इस समय जिस प्रकार एकीभूत (संहत) है, विशिष्ट समय पर वे फिर ठीक उसी रूप मे संहत होते हैं। अनादि काल से ऐसे ही प्रवाह के रूप मे जगत् की नित्यता चल रही है। किन्तु इससे तो आत्मा का अमरत्व प्रमाणित नहीं हुआ। हमने यह भी देखा है कि किसी भी शक्ति का नाश नहीं होता, किसी जड़ वस्तु को भी कभी शून्य मे परिणत नहीं किया जा सकता। तब उनका क्या होता है? उनके विभिन्न परिणाम होते है, अन्त मे जहाँ से उनकी उत्पत्ति हुई थी, वही वे पुनरावृत्त होते है। सरल रेखा मे

कोई गति नहीं हो सकती। प्रत्येक वस्तु को ही घूम फिर कर अपने पूर्व स्थान पर लौट आना पड़ता है, क्योकि सरल रेखा अनन्त मात्र से बढाने पर वृत्त मे परिणत होती है। यदि ऐसा ही हुआ तो अनंत काल तक किसी आत्मा की अवनति हो ही नही सकती—यह किसी तरह हो ही नही सकता। इस जगत् मे प्रत्येक वस्तु, शीघ्र हो या विलम्ब से ही हो, अपनी अपनी वर्तुलाकार गति को सम्पूर्ण कर फिर अपनी उत्पत्ति के स्थान पर पहुँचती है। तुम, मै अथवा ये सब आत्माएँ क्या है? पहले क्रमसकोच तथा क्रमविकास तत्व की आलोचना करते हुए हमने देखा है. तुम, हम, उसी विराट विश्वव्यापी चैतन्य या प्राण या मन के अंशविशेष हैं; हम उसी के सकोचस्वरूप है। अतएव घूमकर हम क्रमविकास की प्रक्रिया के अनुसार उस विश्वव्यापी चैतन्य मे लौट जायेगे—वह विश्वव्यापी चैतन्य ही ईश्वर है। लोग उसी विश्वव्यापी चैतन्य को प्रभु, भगवान, ईसा, बुद्ध या ब्रह्म कहते है—जडवादी उसी की शक्ति के रूप मे उपलब्धि करते है एवं अज्ञेयवादी उसी की उस अनंत अनिर्वचनीय सर्वातीत पदार्थ के रूप मे धारणा करते है। वही वह विश्वव्यापी प्राण है, वही विश्वव्यापी चैतन्य है—वही विश्वव्यापिनी शक्ति है और हम सब उसी के अंश हैं।

किन्तु आत्मा के अमरत्व को प्रमाणित करने के लिये इतना ही पर्याप्त नही है। अभी भी अनेक संशय और आशकाये रह गईं। किसी शक्ति का नाश नही है. यह बात सुनने मे बडी अच्छी लगती है. किन्तु वास्तविक बात यह है कि हम जितनी भी शक्तियाँ देखते है सभी मिश्रणोत्पन्न हैं, जितने भी रूप देखते है सभी मिश्रण से उत्पन्न है। यदि आप शक्ति के सम्बन्ध मे विज्ञान का मत ग्रहण कर

उसे कतिपय शक्तियो की समष्टि मात्र मानते है तो फिर आपका 'मैपन' कहाँ रहा? जो कुछ भी मिश्रण से उत्पन्न है वह शीघ्र अथवा विलम्ब से अपने कारणीभूत पदार्थ मे लय हो जाता है। जो कुछ भी कतिपय कारणों के समवाय से उत्पन्न है उसी की मृत्यु, उसी का विनाश अवश्यम्भावी है। शीघ्र या विलम्ब से वह विश्लिष्ट हो जायगा, भग्न हो जायगा और अपने कारणीभूत पदार्थ मे परिणत हो जायगा। आत्मा कोई भौतिक शक्ति अथवा चिन्ता-शक्ति नहीं है। वह चिन्ता-शक्ति का स्रष्टा है, स्वयं चिन्ता-शक्ति नहीं। वह शरीर का गठनकर्ता है किन्तु वह स्वय शरीर नही है। क्यो? शरीर कभी आत्मा नही हो सकता, क्योकि वह चैतन्यवान् नहीं है। मृत व्यक्ति अथवा कसाई की दूकान का मांसखण्ड कभी चैतन्यवान् नही होता। हम चैतन्य शब्द से क्या समझते है? प्रतिक्रिया शक्ति।

और गम्भीर भाव से इस तत्व की आलोचना कीजिये। हमारे सम्मुख यह एक जलघट है, मैं उसे देख रहा हूँ। होता क्या है? इस घट से कुछ प्रकाश-किरणे निकल कर मेरी ऑख मे प्रवेश करती है। वे मेरे अक्षिजाल (Retina) के ऊपर एक चित्र अंकित करती है। और यह चित्र जाकर मेरे मस्तिष्क में पहुँचता है। शरीरविज्ञान-वेत्तागण जिसको अनुभवात्मक स्नायु (Sensory nerves) कहते है उन्हीं के द्वारा यह चित्र भीतर मस्तिष्क में ले जाया जाता है। किन्तु अभी देखने की क्रिया पूरी नहीं हुई, क्योकि अभी तक भीतर की ओर से कोई प्रतिक्रिया नही आई। मस्तिष्क के अन्दर स्थित जो स्नायु-केंद्र है वह इसे मन के पास ले जायगा, और मन उसके ऊपर प्रतिक्रिया करेगा। इस प्रतिक्रिया के होते ही घट मेरे सम्मुख

प्रकाशित हो जायगा। एक सरल उदाहरण से यह वात भली प्रकार समझ मे आ जायगी। मान लीजिये आप खूब एकाग्र होकर मेरी बात सुन रहे है और इसी समय एक मच्छर आपकी नाक पर काट रहा है, किन्तु आप मेरी वात सुनने मे इतने तन्मय है कि उसका काटना आपको अनुभव नही होता। ऐसा क्यों? मच्छर आपके चमडे को काट रहा है; उस स्थान पर कितने ही स्नायु है, और ये स्नायु इस संवाद को मस्तिष्क के पास पहुँचा भी रही है; इसका चित्र भी मस्तिष्क मे मौजूद है; किन्तु मन दूसरी ओर लगा है इसलिये वह प्रतिक्रिया नहीं करता, अतएव आप उसके काटने का अनुभव नही करते। हमारे सामने एक नया चित्र आया किन्तु मन ने प्रतिक्रिया नहीं की—ऐसा होने पर हम उसे अनुभव नही कर सकते, किन्तु प्रतिक्रिया होते ही उसका ज्ञान होगा और तभी हम देखेंगे, सुनेगे और अनुभव आदि करने मे समर्थ होगे। इस प्रतिक्रिया के साथ साथ ज्ञान का प्रकाश होता है। अतएव हमने समझ लिया कि शरीर कभी ज्ञान का प्रकाश नही कर सकता, कारण, हम देखते हैं कि जिस समय मनोयोग नही रहता उस समय हम अनुभव नही करते। ऐसी घटनाये सुनी गई है कि किसी किसी विशेष अवस्था मे कोई कोई व्यक्ति जो भाषा उसने कभी नहीं सीखी है वह बोलने मे समर्थ हुआ है। वाद में खोजने पर पता लगा है कि वह व्यक्ति कभी बचपन मे ऐसी जाति मे रहा है जो उस भाषा को बोलती थी, और वही संस्कार उसके मस्तिष्क में वर्तमान था। वह सब वहाँ पर सञ्चित था, वाद मे किसी कारण से उसके मन मे प्रतिक्रिया हुई और तभी ज्ञान आ गया और वह व्यक्ति उस भाषा को बोलने मे समर्थ हुआ। इसीसे फिर सिद्ध होता है कि केवल

-मन ही पर्याप्त नहीं है, मन भी किसी के हाथ मे यंत्र मात्र है; उस व्यक्ति की बाल्यावस्था मे उसके मन के अन्दर वह भाषा गूढ़ भाव से सञ्चित थी—किन्तु वह उसे नही जानता था, किन्तु बाद मे एक ऐसा समय आया जब वह उसे जान सका। इससे यही प्रमाणित होता है कि मन के अतिरिक्त और भी कोई है—उस व्यक्ति के बाल्यकाल मे इसी 'और कोई' ने उस शक्ति का व्यवहार नही किया, किन्तु जब वह बड़ा हुआ तब उसने उस शक्ति का व्यवहार किया। पहले यह शरीर, उसके मन, अर्थात् विचार का यंत्र, उसके बाद इस मन के पीछे रहने वाला वही आत्मा। आधुनिक दार्शनिक लोग चिन्ता को मस्तिष्क मे स्थित परमाणुओं के विभिन्न प्रकार के परिवर्तन के साथ अभेद मानते हैं, अतएव वे ऊपर कही हुई घटनावली की व्याख्या नहीं कर पाते, इसीलिये वे साधारणतः इन सब बातों को बिल्कुल अस्वीकार कर देते हैं।

जो हो, मन के साथ मस्तिष्क का विशेष सम्बन्ध है और शरीर का विनाश होने पर वह कार्य नही कर सकता। आत्मा ही एक मात्र प्रकाशक है—मन उसके हाथ मे यंत्र के समान है। बाहर के चक्षु आदि यंत्रो मे विषय का चित्र गिरता है, और वे उसको भीतर मस्तिष्क-केन्द्र मे ले जाते है—कारण, आपको यह याद रखना चाहिये कि चक्षु आदि केवल इन चित्रों को ग्रहण करनेवाले है; भीतर का यंत्र अर्थात् मस्तिष्क का केन्द्रसमूह ही कार्य करता है। संस्कृत भाषा मे मस्तिष्क के इन सब केन्द्रों को इन्द्रिय कहते है—ये इन्द्रियाँ इन चित्रों को लेकर मन के पास अर्पित कर देती हैं, फिर मन इनको बुद्धि के निकट और बुद्धि उन्हे अपने सिंहासन पर बैठे हुये महा-

महिमाशाली राजाओं के राजा आत्मा को प्रदान करती है। आत्मा उन्हे देख कर जो आवश्यक है वह आदेश करता है। उसके बाद मन इन्ही मस्तिष्क-केन्द्रो अर्थात् इन्द्रियों के ऊपर कार्य करता है और फिर वे स्थूल शरीर के ऊपर कार्य करती है। मनुष्य का आत्मा ही इन सब का वास्तविक अनुभवकर्ता, शास्ता, स्रष्टा, सब कुछ है। हमने देखा कि आत्मा शरीर भी नही है, मन भी नही। आत्मा कोई यौगिक पदार्थ (Compound) भी नही हो सकता। क्यों ? कारण, जो कुछ भी यौगिक पदार्थ है वही हमारे दर्शन या कल्पना का विषय होता है। जिस विषय का हम दर्शन या कल्पना कुछ भी नही कर सकते, जिसे हम पकड़ नही सकते, जो न भूत है, न शक्ति, जो कार्य, कारण अथवा कार्य-कारण-सम्बन्ध कुछ भी नही है, वह यौगिक अथवा मिश्र नहीं हो सकता। अन्तर्जगत् पर्यन्त ही मिश्रित पदार्थ का अधिकार है—उसके बाहर और नही। सभी मिश्रित पदार्थ नियम के राज्य के अन्दर हैं—नियम के राज्य के बाहर वे रह ही नही सकते। इसको और भी स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है। यह गिलास एक योग से उत्पन्न पदार्थ है—अपने कारणों के मिलन से ही यह कार्यरूप मे परिणत हुआ है। अत इन कारणो की समष्टि रूप गिलास नामक यौगिक पदार्थ कार्य-कारण के नियम के अन्तर्गत है। इसी प्रकार जहॉ जहॉ कार्य-कारण-सम्बन्ध देखा जायगा वहॉ वहॉ यौगिक पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा। इसके बाहर उसके अस्तित्व की बात कहना कोरा पागलपन है।—इनके बाहर कार्य-कारण-सम्बन्ध रह ही नही सकता। हम जिस जगत् के सम्बन्ध मे चिन्ता अथवा कल्पना कर सकते हैं अथवा जो देख या सुन सकते हैं उसी के भीतर नियम कार्य कर सकता है। हम यह भी देखते हैं कि अपनी इन्द्रियों के द्वारा जो

कुछ अनुभव या कल्पना कर पाते है वही हमारा जगत् है--बाह्य वस्तुओं को हम इन्द्रियो के द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते है और भीतर की वस्तु को हम मानस-प्रत्यक्ष अथवा कल्पना कर सकते है। अतएव जो कुछ हमारे शरीर के बाहर है वह इन्द्रियो के भी बाहर है और जो हमारी कल्पना के बाहर है वह हमारे मन के बाहर है और इसीलिये हमारे जगत् के बाहर है। अतएव कार्य-कारण-सम्बन्ध के बहिर्देश मे स्वाधीन शास्ता आत्मा रहता है। ऐसा होने से ही वह नियमों के अन्तर्गत सभी वस्तुओं का नियमन करता है। आत्मा नियम से अतीत है, इसीलिये निश्चय ही मुक्तस्वभाव है; वह किसी प्रकार भी मिश्रणोत्पन्न पदार्थ नही हो सकता—अथवा किसी कारण का कार्य नहीं हो सकता। उसका कभी विनाश नहीं हो सकता, कारण विनाश का अर्थ हे किसी यौगिक पदार्थ का अपने उपादानों मे परिणत हो जाना। अतएव जो कभी संयोग से उत्पन्न नहीं हुआ उसका विनाश किस प्रकार होगा? उसकी मृत्यु होती है या विनाश होता है ऐसा कहना केवल एक असम्बद्ध प्रलाप है।

किन्तु यही पर इस प्रश्न का निश्चित सिद्धान्त नहीं मिला। अब हम और भी सूक्ष्मता की ओर बढ रहे है और आप में से कुछ लोग शायद भयभीत भी हो रहे होंगे। हमने देखा कि यह आत्मा भूत, शक्ति एव चिन्ता रूप क्षुद्र जगत् के अतीत एक मौलिक (Simple) पदार्थ है, अत: इसका विनाश असम्भव है। इसी प्रकार उसका जीवन भी असम्भव है। कारण, जिसका विनाश नहीं उसका जीवन भी कैसे हो सकता है? मृत्यु क्या है? मृत्यु एक पृष्ठ या पहलू है, और जीवन उसी का एक दूसरा पृष्ठ या पहलू है। मृत्यु का और एक नाम है

जीवन, और जीवन का और एक नाम है मृत्यु। अभिव्यक्ति के विशिष्ट रूप को हम जीवन कहते है, और उसीके अन्य रूपविशेष को मृत्यु कहते है। जब तरंग ऊपर की ओर उठती है तो मानो जीवन है और फिर जब वह गिर जाती है तो मृत्यु है। जो वस्तु मृत्यु के अतीत है वह निश्चय ही जन्म के भी अतीत है। मै आपको फिर उसी सिद्धान्त की याद दिलाता हूँ कि मानवात्मा उसी सर्वव्यापी जगन्मयी शक्ति अथवा ईश्वर का प्रकाश मात्र है। तो हम देखते है कि वह जीवन और मृत्यु दोनों के परे है। आप न कभी उत्पन्न हुये थे, न कभी मरेंगे। हमारे चारो ओर जो जन्म और मृत्यु दीखती है वह क्या है? यह तो केवल शरीर की है, कारण आत्मा तो सदा सर्वदा वर्तमान है। आप कहेंगे, "यह कैसे? हम इतने लोग यहाँ पर बैठे हुए है और आप कहते है, आत्मा सर्वव्यापी है!" मै पूछता हूँ, जो पदार्थ नियम के, कार्य-कारण-सम्बन्ध के बाहर है उसे सीमित करने की शक्ति किसमे है? यह गिलास एक सीमित पदार्थ है; यह सर्वव्यापक नहीं है, क्योंकि इसके चारो ओर की जड़राशि इसको इसी रूप मे रहने को बाध्य करती है, इसे सर्वव्यापी होने नहीं देती। यह अपने आस पास के प्रत्येक पदार्थ के द्वारा नियन्त्रित है, अतएव यह सीमित है। किन्तु जो वस्तु नियम के बाहर है, जिसके ऊपर कोई पदार्थ क्रिया नहीं करता वह कैसे सीमित हो सकती है? वह सर्वव्यापक होगी ही। आप सर्वत्र विद्यमान है। फिर यह कैसे हो रहा है कि मैं जन्म लेता हूँ, मरने वाला हूँ आदि आदि। यही अज्ञान है, मन का भ्रम है। आपका न कभी जन्म हुआ था, न आप कभी मरेंगे। आपका जन्म भी नहीं हुआ, न पुनर्जन्म होगा। आवागमन का क्या अर्थ है? कुछ नहीं। यह सब मूर्खता है। आप सब जगह मौजूद है। आवागमन जिसे कहते है

वह इस सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन के परिवर्तन के कारण उत्पन्न हुई एक मृगमरीचिका मात्र है। यह, बराबर चल रहा है। यह आकाश पर तैरते हुये बादल के एक टुकडे के समान है। जैसे जैसे यह चलता जाता है वैसे ही एक भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि आकाश चल रहा है। कभी कभी जब चन्द्रमा ही के ऊपर से बादल निकलते है तो भ्रम होता है कि चन्द्रमा ही चल रही है। जब आप गाड़ी मे बैठे रहते है तो मालूम होता है कि पृथ्वी चल रही है और नाव पर बैठने वाले को पानी चलता हुआ सा मालूम होता है। वास्तव मे न आप जा रहे है, न आ रहे हैं, न आप ने जन्म लिया है, न फिर जन्म लेंगे। आप अनन्त हैं, सर्वव्यापी है, सभी कार्य-कारण-सम्बन्ध से अतीत, नित्य मुक्त, अज और अविनाशी। जन्म और मृत्यु का प्रश्न ही गलत है, महामूर्खतापूर्ण है। मृत्यु हो ही कैसे सकती है जब जन्म ही नहीं हुआ।

किन्तु तर्कसंगत सिद्धान्त लाभ करने के लिए हमे अभी एक पग और बढ़ाना पडेगा। मार्ग के बीच मे रुकना नहीं है। आप दार्शनिक है, आपके लिये बीच मे रुकना शोभा नही देता। तो यदि हम नियम के बाहर है तो निश्चय ही सर्वज्ञ भी है और नित्यानन्द स्वरूप भी। सभी ज्ञान हमारे अन्दर और सभी शक्ति तथा आनन्द भी हमारे अन्दर ही है। हाँ, अवश्य ही है। आप ही जगत् के सर्व-व्यापक सर्वज्ञ आत्मा है। परन्तु इस प्रकार की सत्ता या पुरुष क्या एक से अधिक हो सकते है? क्या लाखों करोडों पुरुष सर्वव्यापक हो सकते है? कभी नहीं। तब फिर हम सबका क्या होगा? हम सब एक ही है; इस प्रकार का आत्मा एक ही है और वह एक आत्मा ही आप सब

हैं। इस तुच्छ प्रकृति के पीछे वही है, जिसे हम आत्मा कहते हैं। एक ही पुरुष है जो एकमात्र सत्ता है, सदानंद स्वरूप, सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान, जन्मरहित, मृत्युहीन। उसी की आज्ञा से आकाश विस्तृत हुआ है, उसी की आज्ञा से वायु बहती है, सूर्य चमकता है, सब जीवित रहते है। प्रकृति का वास्तविक रूप वही है; प्रकृति उसी सत्य स्वरूप के ऊपर प्रतिष्ठित है, इसीलिए सत्य प्रतीत होती है। वही आप की आत्मा का आत्मा है, नहीं, और भी अधिक, आप ही वह है, आप और वह एक ही हैं, जहॉ कहीं भी दो हैं वही भय है, वही खतरा है, वहीं द्वन्द्व है, वहीं संघर्ष है। जब सब एक ही है तो किससे घृणा, किससे संघर्ष; जब सब कुछ वही है, तो आप किससे लडेंगे? जीवनसमस्या की वास्तविक मीमांसा यही है। इसीसे वस्तु के स्वरूप की व्याख्या होजाती है, यही सिद्धि या पूर्णत्व है, यही ईश्वर है। जब तक आप अनेक देखते है तभी तक आप अज्ञान मे हैं। "इस बहुत्वपूर्ण जगत् मे जो एक को देखता है, इस परिवर्तनशील जगत् मे जो उस अपरिवर्तनशील को देखता है और जो उसे, अपने आत्मा के आत्मा के रूप मे देखता है, अपना स्वरूप जानता है, वही मुक्त है, वही आनन्दमय है, वही लक्ष्य पर पहुँच गया है।" इसलिये समझ लो कि तुम ही वही हो, तुम ही जगत् के ईश्वर हो, 'तत्त्वमसि'। ये धारणायें कि मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मै रोगी हूँ, मैं स्वस्थ हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं निर्बल हूँ, अथवा यह कि मैं घृणा करता हूँ, मैं प्रेम करता हूँ अथवा मेरे पास इतनी शक्ति है, यह सब भ्रम मात्र है। इसको छोडो। तुम्हें दुर्बल कौन बना सकता है? तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है? जगत् मे तुम्हीं तो एक मात्र सत्ता हो। तुम्हे किसका भय है? खडे हो जाओ, मुक्त हो जाओ। समझ लो कि जो कोई विचार या शब्द तुम्हे दुर्बल

बनाता है वही एक मात्र अशुभ है। मनुष्य को दुर्बल और भयभीत बनाने वाला संसार मे जो कुछ भी है वही पाप है और उसीसे बचना चाहिये। तुम्हे कौन भयभीत कर सकता है? यदि सैकड़ों सूर्य पृथ्वी पर गिर पड़े, सैकडों चन्द्र चूर हो जायँ, एक के बाद एक ब्रह्माण्ड विनष्ट होते चले जायँ तो भी तुम्हारे लिये क्या है? शिला की भॉति अटल रहो; तुम अविनाशी हो। तुम आत्मा हो, तुम्हीं जगत् के ईश्वर हो। कहो "शिवोऽहं, शिवोऽहं; मै पूर्ण सच्चिदानन्द हूँ।" और एक सिंह की भॉति पिंजड़ा तोड़ दो, अपनी शृंखलायें तोडकर सदा के लिये मुक्त हो जाओ। तुम्हे किसका भय है, तुम्हें कौन रोक सकता है? —केवल अज्ञान और भ्रम; और कोई तुम्हे पकड़ नही सकता। तुम शुद्धस्वरूप हो, तुम नित्यानन्दमय हो।

यह मूर्खों का उपदेश है कि 'तुम पापी हो, अतएव एक कोने में बैठकर हाय हाय करते रहो।' यह उपदेश देना मूर्खता ही नहीं, दुष्टता भी है। तुम सभी ईश्वर हो। ईश्वर को न देखकर मनुष्य को देखते हो? अतएव यदि तुममे साहस है तो इसी विश्वास पर खड़े होकर उसी के अनुसार अपने जीवन को बनाओ। यदि कोई व्यक्ति तुम्हारा गला काटे तो उसको मना मत करना, क्योंकि तुम तो स्वयं ही अपना गला काट रहे हो। किसी गरीब का यदि कुछ उपकार करो तो उसके लिये तनिक भी अहङ्कार मत करना। कारण, वह तो तुम्हारे लिये उपासना मात्र है, उसमें अहंकार की कोई बात नहीं है। क्या तुम्ही समस्त जगत् नहीं हो? ऐसी कौन सी वस्तु है और कहॉ है कि जो तुम नही हो? तुम जगत् की आत्मा हो। तुम्हीं सूर्य, चन्द्र, तारा हो। समस्त जगत् तुम्ही हो। किससे घृणा करोगे और किससे

झगडा करोगे? अतएव यह समझ लो कि तुम्हीं वह हो और इसी के अनुसार समस्त जीवन को बनाओ। जो व्यक्ति इस तत्व को जांन-कर समस्त जीवन का उसी के अनुसार गठन करता है वह फिर कभी अन्धकार मे मारा मारा नही फिरेगा।

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३. **श्रीरामकृष्णवचनामृत**-तीन भागों में-अनु० पं सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण)-मूल्य ६);
द्वितीय भाग-मूल्य ६): तृतीय भाग-मूल्य ७॥)

४-५. **श्रीरामकृष्णलीलामृत**-(विस्तृत जीवनी)-(द्वितीय संस्करण)-
दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य..... ५)

६. **विवेकानन्द-चरित**-(विस्तृत जीवनी)-सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७. **विवेकानन्दजी के संग में**-(वार्तालाप)-शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि. सं. मूल्य ५)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

८. भारत में विवेकानन्द-(विवेकानन्दजी के भारतीय व्याख्यान)		५)
९. पत्रावली (प्रथम भाग)	(प्रथम संस्करण)	२=)
१० ,, (द्वितीय भाग)	(प्रथम संस्करण)	२=)
११. धर्मविज्ञान	(द्वितीय संस्करण)	१॥=)
१२. कर्मयोग	(द्वितीय संस्करण)	१॥=)
१३. हिन्दू धर्म	(द्वितीय संस्करण)	१॥)
१४. प्रेमयोग	(तृतीय संस्करण)	१।=)
१५ भक्तियोग	(तृतीय संस्करण)	१।=)
१६. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग	(तृतीय संस्करण)	१।)
१७. परिव्राजक	(चतुर्थ संस्करण)	१।)
१८. प्राच्य और पाश्चात्य	(चतुर्थ संस्करण)	१।)
१९. महापुरुषों की जीवनगाथायें	(प्रथम संस्करण)	१।)
२०. राजयोग	,,	१=)
२१. स्वाधीन भारत ! जय हो !	(प्रथम संस्करण)	१=)
२२. धर्मरहस्य	(प्रथम संस्करण)	१)
२३ भारतीय नारी	(प्रथम संस्करण)	॥।)
२४ शिक्षा	(प्रथम संस्करण)	॥=)
२५. शिकागो-वक्तृता	(पञ्चम संस्करण)	॥=)

२६. हिन्दू धर्म के पक्ष में (द्वितीय संस्करण) ||=)
२७ मेरे गुरुदेव (चतुर्थ संस्करण) ||=)
२८. कवितावली (प्रथम सस्करण) ||=)
२९. वर्तमान भारत (तृतीय संस्करण) ||)
३०. पवहारी बाबा (द्वितीय संस्करण) ||)
३१. मेरा जीवन तथा ध्येय (द्वितीय संस्करण) ||)
३२. मरणोत्तर जीवन (द्वितीय संस्करण) ||)
३३. मन की शक्तियाँ तथा जीवनगठन की साधनायें ||)
३४. भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ—स्वामी विवेकानन्द, स्वामी शारदानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी शिवानन्द, मूल्य ||=)
३५. मेरी समर-नीति (प्रथम संस्करण) |≡)
३६. ईशदूत ईसा (प्रथम संस्करण) |=)
३७. विवेकानन्दजी की कथायें (प्रथम संस्करण) १)
३८. परमार्थ-प्रसंग—स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपड़े की जिल्द, मूल्य ३||)
कार्डबोर्ड की जिल्द ,, ३)
३९. श्रीरामकृष्ण-उपदेश (प्रथम संस्करण) ||=)

मराठी विभाग

१-२ श्रीरामकृष्ण चरित्र-प्रथम भाग, (तिसरी आवृत्ति) ३)
,, ,, द्वितीय भाग (दुसरी आवृत्ति) ३)
३. श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा— (दुसरी आवृत्ति) |||=)
४. शिकागो-व्याख्यानें-स्वामी विवेकानंद (दुसरी आवृत्ति) ||=)
५. माझे गुरुदेव-स्वामी विवेकानंद (दुसरी आवृत्ति) ||=)
६. हिंदु-धर्माचें नव-जागरण-स्वामी विवेकानंद ||–)
७. पवहारी बाबा-स्वामी विवेकानंद ||)
८. साधु नागमहाशय-चरित्र-(भगवान श्रीरामकृष्णांचे सुप्रसिद्ध शिष्य)-
(दुसरी आवृत्ति) २)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर-१, मध्यप्रदेश

Chandan mal Soni

Makan chand Soni

Manna lal Soni

मूल्य ३ रु.